॥ श्रीः ॥

विद्याभवन राष्ट्रभाषा ग्रन्थमाला

१२३

भारतीय दर्शन में चेतना का स्वरूप

लेखक

डॉ० श्रीकृष्ण सक्सेना

एम० ए०, पी-एच्० डी० (लन्दन)

चौखम्बा विद्याभवन, वाराणसी-१

१९६९

THE
VIDYABHAWAN RASHTRABHASHA GRANTHAMALA
123

BHĀRATĪYA DARS'ANA MEN̆ CETANĀ KĀ SVARŪPA

(Nature of Consciousness in Indian Philosophy)

By
Dr. S. K. SAKSENA
M. A. (Alld.), PH. D. (Lond.)
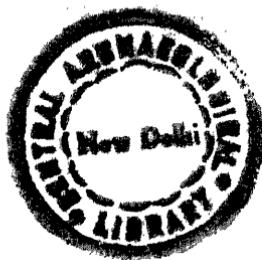
THE
CHOWKHAMBA VIDYABHAWAN
VARANASI-1
1969

प्रकाशकीय वक्तव्य

पिछले डेढ़ दो सौ वर्षों का इतिहास केवल राजनीति के क्षेत्र में ही नहीं अपितु बौद्धिक क्षेत्र में भी परतन्त्रता का इतिहास रहा है। विद्या के क्षेत्र में यह परतन्त्रता इतनी दूर पहुँच गई थी कि हमें अपने दर्शन, इतिहास और धर्म आदि का अध्ययन भी विदेशी भाषा के माध्यम से करना पड़ा। बाध्य होकर भारतीय विद्वान भी अंग्रेजी में ही लिखते रहे और भारतीय विद्यार्थी भी कुछ समझते हुए, कुछ न समझते हुए उसी को कण्ठस्थ करते रहे। इसी से न तो हमारी देशीय भाषाओं की समृद्धि ही हो पाई और न भारतीय विद्या का यथोचित प्रसार ही हुआ। किन्तु स्वतन्त्रता प्राप्ति के बाद से वातावरण में कुछ परिवर्तन हुआ है। सम्प्रति भारतीय विद्वान अपने विचारों को अपनी ही भाषा में व्यक्त करना चाहते हैं और भारतीय विद्यार्थी भी अपनी ही भाषा में विभिन्न विषयों को आहरण करना चाहते हैं; किन्तु इस महनीय उद्देश्य की पूर्ति के लिए अत्यधिक श्रम की आवश्यकता है। सर्वाधिक महत्त्व का कार्य तो यही है कि ज्ञान-विज्ञान के विभिन्न क्षेत्रों में लिखे गए अंग्रेजी ग्रन्थों का अपनी भाषा में रूपान्तर किया जाय। उक्त उद्देश्य को ध्यान में रखती हुई यह संस्था "विद्याभवन राष्ट्रभाषा ग्रन्थमाला" में बहुत से महत्त्वपूर्ण अंग्रेजी ग्रन्थों के अनुवाद प्रकाशित कर चुकी है। प्रस्तुत ग्रन्थ भी उसी प्रयास का एक उदाहरण है।

प्रो० डॉ० सक्सेना की *Nature of Conciousness in Hindu Philosophy* नामक अंग्रेजी पुस्तक भारतीय दर्शन शास्त्र के अनुरागियों में विशेष प्रसिद्धि प्राप्त कर चुकी है। वस्तुतः स्थावरजंगमात्मक इस विश्व में चेतना का अस्तित्व, उसका स्वरूप तथा भिन्न-भिन्न प्रकाश, दार्शनिक और वैज्ञानिक दोनों के ही सामने बहुत सी समस्याएँ रखते हैं और

दार्शनिक चिन्ता के प्रारम्भिक युग से इन समस्याओं को हल करने के लिए हमारे सभी दार्शनिकों ने सूक्ष्मातिसूक्ष्म विचार उपन्यस्त किये हैं। प्रो० डाँ० सक्सेना ने अपने शोध ग्रन्थ में बड़े ही सुन्दर और व्यवस्थित ढंग से उसी विचार परम्परा का विवेचन प्रस्तुत किया है।

उपर्युक्त महत्त्वपूर्ण ग्रन्थ का प्राञ्जल हिन्दी में अनुवाद अपने पाठकों के सामने प्रस्तुत करते हुए हमें अपार हर्ष हो रहा है और आशा है कि भारतीय दर्शन शास्त्र के अनुरागी वृन्द इस ग्रन्थ का समुचित समादर करेंगे।

विषयसूची

प्रथम अध्याय १–११

विषय प्रवेश :—ब्रह्माण्ड में मानव का स्थान—हिन्दूदर्शन में चेतना की समस्या के व्यवस्थित अध्ययन की आवश्यकता—अनुसन्धान की विधि—

द्वितीय अध्याय १२–३७

दर्शन के व्यवस्थात्मक रूप के पूर्व की अर्धदार्शनिक पृष्ठभूमि—प्राग् औपनिषदिक अन्वेषण का जागतिक स्वरूप—बाह्य से आन्तरिक की ओर संक्रमण—ऋग्वेद में परम यथार्थ का स्वरूप—प्राग् औपनिषदिक विमर्श से औपनिषदिक अन्तःकरण में संक्रमण—औपनिषदिक दर्शन में चेतना—आत्मा के स्वरूप का उत्तरोत्तर निगमन—आत्मा शरीर की तरह—आत्मा प्राण की तरह—आत्मा प्रज्ञा की तरह—आत्मा विषयी की तरह—आत्मा चित् की तरह—चित् और आनन्द—क्या सार्वभौम और पूर्ण चेतना का औपनिषदिक दृष्टिकोण अज्ञेयवादी है

तृतीय अध्याय ३८–६१

चेतना का सत्तामीमांसात्मक स्वरूप—चेतना क्या है—चेतना की शून्यवादी अस्वीकृति—पौद्गलिक यथार्थवादी—पदार्थवाद की प्रत्ययवादी आलोचना—पदार्थवाद की न्यायवैशेषिक आलोचना—चेतना के प्रति आध्यात्मिक यथार्थवादी दृष्टिकोण चेतना के स्वरूप के सम्बन्ध में चरक का दृष्टिकोण—यथार्थवादी की प्रत्ययवादी आलोचना—चेतना के स्वरूप के प्रति प्रत्ययवादी दृष्टिकोण—चेतना के स्वरूप पर मीमांसा दृष्टिकोण—चेतना के स्वरूप पर मीमांसा दृष्टिकोण—चेतना के स्वरूप पर मीमांसा दृष्टिकोण—चेतना के स्वरूप पर आचार्य रामानुज का दृष्टिकोण—शंकर, प्रभाकर तथा रामानुज के दृष्टिकोणों के विभेद—पुनरावलोकन तथा आलोचनात्मक मूल्यांकन—

चतुर्थ अध्याय ६२–९५

चेतना का ज्ञानमीमांसात्मक स्वरूप—समस्या का वक्तव्य—औपनिषदिक दृष्टिकोण—अद्वैत वेदान्त का दृष्टिकोण—प्रभाकर का दृष्टिकोण—सांख्ययोग का दृष्टिकोण—यथार्थवादी दृष्टिकोण—स्वप्रकाशत्वपर न्यायभाष्य—न्यायभाष्य दृष्टिकोण की आलोचना—कुमारिल भट्ट का दृष्टिकोण—भट्ट दृष्टिकोण की आलोचना—कुमारिल पर शान्तरक्षित की आलोचना—स्वप्रमाणत्व तथा स्वप्रकाशत्व कुमारिल दर्शन की एक असंगति—स्वतः प्रकाशत्व की श्रीधर द्वारा आलोचना स्वप्रकाशत्व की जयन्त द्वारा आलोचना—स्वतः प्रकाशत्व

की रामानुज द्वारा आलोचना—स्वप्रकाशत्व तथा चेतना की निरपेक्ष अपरोक्षता—स्वप्रकाशत्व तथा रहस्यवाद—चेतना का स्वयंभूस्वरूप—

पञ्चम अध्याय ९६–१२१

चेतना का मनोवैज्ञानिक स्वरूप—समस्या की स्वविरोधी स्थिति—औपनिषदिक दृष्टिकोण—आचार्य शङ्कर का अद्वैत दृष्टिकोण—पश्चात् कालीन अद्वैतवादियों का दृष्टिकोण—सांख्ययोग दृष्टिकोण—आचार्य प्रभाकर का दृष्टिकोण—स्वचेतना के विषय में न्याय वैशेषिक दृष्टि कोण—चेतना के दो रूप—अहं प्रत्ययहीन चेतना की रामानुजीय आलोचना की एक परीक्षा—अहं प्रत्ययहीन चेतना तथा प्रगाढ़ निद्रा—निष्कर्ष—

छठा अध्याय १२२–१५१

चेतना का अनुभवातीत स्वभाव—प्रस्तावना—अनुभवातीत चेतना नित्य तथा सर्वव्यापक है—वह अकारण है—वह एक अविभाजित तथा विभेदहीन एकता है—वह अप्रभावित 'असंग' तथा 'केवल' है—निरपेक्ष का बौद्धिक ज्ञान—अध्यारोप की प्रणाली—अनुभवातीत चेतना और परिभाषा—अनुभवातीत चेतना तथा भाषा—अनुभवातीत चेतना और प्रमाण—अनुभवातीत चेतना की आलोचना—न्यायवैशेषिक आलोचना—अनुभवातीत चेतना और आनन्द—वेदान्त दृष्टिकोण—वेदान्त दृष्टिकोण की योग आलोचना—न्याय आलोचना—अद्वैत प्रत्युत्तर—अनुभवातीत चेतना तथा क्रियात्मकता—इस दृष्टिकोण की आलोचनायें कि 'चेतना सदैव परिवर्तनशील है'—क्रियात्मक लीला के रूप में—निष्कर्ष

सप्तम अध्याय १५२–१९२

चेतना तथा अचेतना—समस्या कथन—अद्वैतवादी दृष्टिकोण—अचेतन क्या है—सम्बन्ध के सम्बन्ध में अद्वैतवादी सिद्धान्त—माया के सिद्धान्त की आलोचना—सम्बन्ध के सम्बन्ध में द्वैतवादी सिद्धान्त—बुद्धि के मध्यवर्ती स्वभाव के सिद्धान्त की आलोचना—सम्बन्ध के द्वैतवादी सिद्धान्त—सांख्ययोग में ईश्वर की परिकल्पना—सांख्ययोग तत्त्वमीमांसा में वाचस्पति तथा विज्ञानभिक्षु के विशेष सन्दर्भ में अनुभव की समस्या—द्वैतवादी सिद्धान्तों की आलोचना—निष्कर्ष—

अष्टम अध्याय १९३–२०६

उपसंहार

शब्दानुक्रमणिका २०७–२०८

—०:०:०—

प्रथम अध्याय

विषय प्रवेश

ब्रह्माण्ड में मानव का स्थान

उस क्षण से ही, जब मानव ने स्वयं अपने अस्तित्व पर विमर्श प्रारम्भ किया, उसकी चेतना या जगत् और उसके बीच ज्ञान के संबंध का तथ्य उसके ध्यान को सतत् आकर्षित करता रहा है। उसने अनुभव किया कि उसमें, उन सबसे जो उसके चारो ओर हैं, कुछ अधिक है। अनिवार्यतः तो वह पत्थर, वनस्पति तथा पशु से भिन्न है, यों कुछ बातों में वह उनसे कितना ही समान क्यों न दीखता हो। इस प्रकार, ब्रह्मांड में अकेले मानव को ही ज्ञानवान् होने की महत्ता प्राप्त थी, और वह अकेला ही ब्रह्माण्ड के रहस्य को, जिसमें वह स्वयं भी सम्मिलित था, टकटकी बाँधकर देख सकता था और उस पर आश्चर्य प्रकट कर सकता था। उसके सचेतन होने का तथ्य एक विशेषता थी। इस विशेषता ने मनुष्य को तुरन्त उसके विश्व से बहुत ऊपर प्रतिष्ठित कर दिया—विश्व, जो एक समग्र और महान् दिक्कालहीन सृजन की प्रक्रिया था और जिससे वह स्वयं भी उत्पन्न हुआ था। विश्व की इस सृजन-प्रक्रिया के अन्तर्गत होते हुए भी वह अपने विचार के उपकरण द्वारा, एक क्षण को सृष्टि से अलग खड़ा हो सकता था और यह जानने की चेष्टा कर सकता था कि सृष्टि आखिर किस लिए है। अचेतन जगत् यह नहीं कर सकता और न वह यही जान सकता है कि अपने लम्बे इतिहास के दौर में, वह संयोगवशात् मानव में विचार और चेतना की एक अपूर्व घटना को विकसित कर सका है। एक अर्थ में, उसने अपना एक 'अन्य'—अपना प्रतिद्वन्दी विकसित कर लिया था, जो कि पीछे घूमकर देख सकता था, विमर्श कर सकता था और अपने ही स्रष्टा का आलोचक हो सकता था। मानव, इस अर्थ में ब्रह्माण्ड से महत्तर था। किंतु यह चित्र का केवल एक ही पहलू है, क्योंकि चेतना एक द्विधारी तलवार है। मानव को अपनी चेतना के परमाधिकार के लिए एक बड़ा मूल्य भी चुकाना पड़ा है। बौद्धिक उपलब्धि की प्रक्रिया में उसे कुछ खोना भी पड़ा है। विचार-शक्ति से

विभूषित होने के कारण, उसने आशा की थी कि वह जगत् और जीवन के रहस्य तथा अर्थ का उद्घाटन करने में सफल हो सकेगा; किंतु शीघ्र ही उसे संदेह हो चला कि अन्ततः कहीं उसकी बुद्धि मात्र उसके उपहास के लिए ही तो उसे प्रदत्त नहीं की गई है। स्थिति-बोध और चिन्तन-क्षमता वहाँ भी प्रश्न खड़े कर देती है जहाँ पहले किसी प्रश्न का अस्तित्व नहीं होता और जिज्ञासा बहुधा अपने ही प्रश्नों की प्रतिध्वनि सुनने के लिए प्रश्न खड़े कर देती है। प्रकृति सदैव ही मनुष्य की 'कहाँ' की पुकार का 'यहाँ' कहकर उत्तर नहीं देती, और वस्तुओं के सम्बन्ध में 'कैसे' और 'कहाँ' सम्बन्धी प्रश्न एक सर्वाच्छदिक मौन की धुँधली दूरी में विलीन हो जाते हैं। बिल्कुल प्रारम्भिक हिंदू साहित्य में हम पढ़ते हैं कि सत्य का मुख आवृत्त है—'सत्यस्यापिहितम् मुखम्,"—और यही कारण है कि मानव, इस सर्वाच्छादक तम की ऐसे विविध नामों के अन्तर्गत, जो घने और भारी आवरण का निर्देश करते हैं, कभी वरुण, कभी अदिति, कभी केवल माया और कभी तम या यम के रूप में प्रार्थना करता रहा है। जिज्ञासु होने की योग्यता सदैव ही वरदान नहीं होती, और मानव इस दुःखद सत्य का अनुभव कर चुका है। मानवीय गवेषणा के इतिहास में गत्यावरोध का आवर्त्तन इसका पर्याप्त प्रमाण है। मानव मन के शाश्वत प्रश्नों के इतिहास से कोई भी व्यक्ति इस साहसिक कार्य में अब तक प्राप्त तुच्छ सफलता के प्रति सन्तोष के अभाव का प्रमाण सरलता से दे सकता है।

इस तथ्य के अतिरिक्त कि मानव ने चेतना के वरदान का उपयोग अपेक्षाकृत निरर्थक कार्यों में किया है, उसने अज्ञानात्मक अस्तित्व की शांति और आनन्द को भी खो दिया है। उसने बहुधा अपने से निम्नतर सहजीवी प्राणियों के जीवन और आनन्द से ईर्ष्या की है। वनस्पति जगत् के विकास की स्वच्छंदता और वैभव, तथा मूलप्रवृत्यात्मक पशु-जीवन के पूर्ण समायोजन ने, जो विश्व के जन्म और विकास विषयक जिज्ञासा से शून्य है, मानव को अपने विचार के अधिकरण की महत्ता और उपयोगिता पर संदेह करने की दिशा में भी अग्रसर किया है। किन्तु सत्य चाहे जो भी हो और ज्ञान जीवन के लिए वांछनीय हो या न हो किन्तु वह मानव जीवन का, एक अविच्छेद्य तथ्य है। शुभ के लिए या अशुभ के लिए, हम उससे विलग नहीं हो सकते, इस कारण, उसके स्वरूप की गवेषणा और उसके सम्बन्ध में जितना भी सम्भव हो सके जानने का यत्न सदैव ही सार्थक है।

चेतना शब्द का प्रयोग यहाँ अचेतना के विपरीत अर्थ में किया गया है, जिसमें किसी बोधात्मक क्रिया के अन्तर्गत विषयी और विषय के पारस्परिक

सम्बन्ध का ज्ञान निहित है।[१] क्योंकि कोई भी, कभी भी अनुभवमूलक रूप से स्वयं अपने स्व के अहंप्रत्यय के प्रति भी चेतन हुए बिना चेतन नहीं होता है। चिन्तनशील स्व-भावना चेतना के जगत् को अचेतना के जगत् से तीक्ष्णता के साथ पृथक् कर देती है। अहं चेतना-प्रदेश के एक व्यतिरेकी लक्षण के रूप में, अचेतना के प्रदेश में पूर्णतया अनुपस्थित है। फूलों की क्यारी के एक फूल को या कंकड़ों के समूह के एक कंकड़ को अपने समीपी अन्य फूल या कंकड़ का बोध नहीं होता, न वह अपने पड़ोसी के साथ किसी ज्ञातात्मक सम्बन्ध में प्रकट ही होता है। किन्तु यदि हम कल्पना करें कि एक को दूसरे का ज्ञान है,[१] तब वह उसी क्षण दूसरे की उपस्थिति में, जो कि उस क्षण या उसके बोध का विषय है, विषयी की स्थिति प्राप्त कर लेता है। और तब यदि दूसरा भी अपनी बारी में विषयी है तो फूलों का अचेतन समूह अन्तर्विषयी सम्बन्धोंवाले सम-विषयी या आत्मनिष्ठ समाज में परिणत हो जाता है। अचेतन अन्तर्विषय के अस्तित्व जैसा वस्तु-जगत् में कुछ नहीं, और यदि कोई अस्तित्व है भी तो वह केवल समचेतन विषयी की चेतना में है। चेतना या 'संवित्' इस कारण, विषयी होने की क्षमता है और उसमें ग्राह्य तथा ग्राहक के बीच ग्रहणात्मक या ज्ञातात्मक सम्बन्ध की उपस्थिति का अन्तर्भाव है। यह ज्ञान या बोध का प्रविशिष्ट प्रकाश है जो ज्ञान की क्रिया में विषयी, विषय और स्वयं को भी व्यक्त करता है। कभी-कभी यह भी कहा जाता है कि मृत द्रव्य या भूत पुद्गल से जीवन विकसित हुआ है, परन्तु इसे केवल 'द्रव्य' की धारणा मात्र द्वारा ही समझाया जा सकता है। इसी प्रकार, एक अचेतन किन्तु जीवित सत्ता से हम ज्ञान, मनन और चेतना को विकसित होते देखते हैं, किन्तु यह भी यथार्थ का एक पूर्णतः नवीन रूपांतर है जिससे हमारे विश्व के रहस्यों में एक अद्वितीय वृद्धि हुई है। हम पूछते हैं कि चेतना क्या है और पाते हैं कि इस नई यथार्थता की व्याख्या में, विशुद्ध-रूप से यांत्रिक तथा प्राणभौतिक दृष्टिविन्दुओं से दिये गये उत्तर असफल हो जाते हैं, क्योंकि चेतना किसी भी वस्तु से इतनी भिन्न वस्तु का निर्देश करती है कि उसे स्वयं किसी पद से समझाने का प्रयत्न असम्भव ही प्रतीत होता है।

इस सामान्य स्वीकृति का साक्ष्य कि चेतना हमारी अधिकतम बौद्धिक विचारणा की अधिकारी है उन प्रसिद्ध वैज्ञानिकों की भी इस क्षेत्र में बढ़ती रुचि में उपलब्ध है जो कि अभी तक केवल दार्शनिक विचारणा का ही दावा करते थे। इसके बाद भी कि उनके दृष्टिविन्दुओं या खोज की निष्पत्तियों

१. अहमिति शब्दस्य व्यतिरेकात्। वा० सं० ३.२.९

में विभिन्नता है, चेतना तत्वमीमांसक और मानसशास्त्री की ही बपौती नहीं रही है, बल्कि भौतिकशास्त्री और जीव-वैज्ञानिकों की खोजों का क्षेत्र भी इस सरल से कारण का कारण बन गई है कि वह प्रथम दृष्टया अत्यन्त प्रत्यक्ष और निकटतम यथार्थ है, जिसका उसे अत्यन्त प्रत्यक्ष साक्षात्कार हो जाता है जिसने कभी भी अपने अंतर में झाँका हैं। अन्य शब्दों में, यह एक अपराजेय तथ्य है, और हमारी विभिन्न रुचियों के समग्र विषयों के संबंध में हमारे संपूर्ण विचारों का उद्गम स्रोत है। वे समग्र विषय जिन पर विविध अ-दार्शनिक विज्ञान विचार करते हैं, ऐसे विषय हैं जो प्रधानतया वैज्ञानिक की चेतना में होते हैं।

हिन्दू दर्शन में चेतना की समस्या के व्यवस्थित अध्ययन की आवश्यकता:

भारत के सबल और साहसी विचार प्रयत्न की सुविस्तृत धारा पर, जो कि उपनिषद् काल से ईसा की १७ वीं शताब्दी के अन्त तक प्रवाहित होती है, एक संक्षिप्त दृष्टि भी भारतीय दर्शन के किसी भी अध्येता को आश्वस्त करा देगी कि भारतीय विचारकों ने बाद के कुछ विचारकों के पतन, जैसे कि विविध दर्शन संप्रदायों के मल्ल-युद्ध, या विरोधी मतों या दर्शन संप्रदायों पर केवल प्रधानता प्राप्त करने के उत्साह के बावजूद भी प्रायः उन सारी दार्शनिक धारणाओं को छानकर भूसी से पृथक् कर लिया है जिन्हें कि वे विकसित कर सकते थे। वे पर्याप्त साहसी थे और वे अपनी विचारधारा को उसके दूरतम तार्किक निष्कर्षों तक ले जा सकते थे। ज्ञान और कर्म के समग्र संभवनीय क्षेत्रों से संबन्धित समस्याओं पर, जैसे—तत्वमीमांसा, मनोविज्ञान, न्याय, ज्ञानमीमांसा, आचार और विधिशास्त्र, ध्वनि और योगशास्त्र, जादू और चिकित्सा विज्ञान, सभी पर उन्होंने विवेचन किया है किन्तु आधुनिक नियम-बद्धता और व्यवस्थित पृथकत्व के अभाव में उनके सिद्धांत और परिकल्पना पौधों की एक विशाल उलझन में एक दूसरे से गुथे हुए पड़े हैं। यह वैभवशाली पौधाघर अनेक छोटे-छोटे मूल्यवान् उपवनों का स्रोत हो सकता था, किन्तु हो नहीं सका क्योंकि भारतीय दर्शन-सम्प्रदायों के इस विशाल वन में अनेक घने पौधे वर्जित स्थानों में अत्यधिक विकसित हो गये हैं। जब कि यहाँ-वहाँ बहुत सा घास-पात फैला हुआ है, कुछ कोने अति बढ़ाव से भी पीड़ित हैं, इन पौधों के विस्तृत क्षेत्र में पुनरारोपण की आवश्यकता है, ताकि वे अपने संपूर्ण सौंदर्य में फल-फूल सकें और अपनी सुगन्ध उस जगत् को दे सकें जिसे कि उसकी बहुत आवश्यकता है।

उन सारी समस्याओं में जो मानवीय हृदय की निकटतम समस्याएँ हैं, उसके स्वयं के अस्तित्व और स्वरूप की समस्या भी निश्चय ही एक रही है। यह कहना एक सामान्य बात रही है कि प्रत्येक वस्तु कम से कम उस सीमा तक जहाँ तक वह मनुष्य से सम्बन्धित है, वही है जो वह है; कारण, मनुष्य वही है जो वह है, अर्थात् वह एक सचेतन और ज्ञानात्मक प्राणी है। यदि मानवीय चेतना से बाह्य कुछ है भी तो उसका 'होना' उस सीमा तक जहाँ तक वह मानवीय चेतना से किसी भी प्रकार सम्बद्ध नहीं है, मानव के सम्बन्ध की दृष्टि में 'न होने' के ही बराबर है। इस प्रकार, मानव जीवन की संपूर्ण समस्याएँ, इस अर्थ में, उनके प्रति उसकी चेतना की समस्याएँ हैं। अतः चेतना के रहस्यों के उद्घाटन के लिए हिन्दू खोजियों द्वारा इतने विचार और शक्ति का व्यय किया जाना सरलतया समझाया जा सकता है। चेतना पर विचारणा के उनके प्रयास में हमें प्रायः विचार की सारी विविधताएँ और छायाएँ, जो चेतना के संपूर्ण निषेध से प्रारम्भ होकर चेतना को ही समस्त यथार्थ का मूलाधार और केन्द्र बनाने पर समाप्त होती हैं, देखने को मिलती हैं। संपूर्ण निषेध और आधारभूत विधेय की इन दो सीमाओं के मध्य, हमें माध्यमिक स्थितियों और दृष्टिविन्दुओं की विविधता भी प्राप्त होती है। उपनिषदों के ऋषियों तथा गौतम, कपिल और बादरायण से लेकर शंकर, रामानुज, श्रीधर और जयन्त तक, विचारकों ने चेतना की समस्याओं पर इतने विरोधी उत्तर प्रस्तुत किये हैं कि उनमें से कठिनाई से ही कोई ऐसा उत्तर है जो कि उसके विरुद्ध उत्तर के तुल्य ही प्रख्यात नहीं है, या उनके द्वारा प्रस्तुत समाधानों में एक भी समाधान इतना असंतोषजनक नहीं है कि अपनी बारी में एक नयी समस्या को जन्म नहीं दे सकता है। डा० एस० राधाकृष्णन तथा अन्य प्रसिद्ध विद्वानों द्वारा इस क्षेत्र में अत्यन्त मूल्यवान् तथा नेतृत्व प्रदान करनेवाला कार्य किया जा चुका है। अब आवश्यकता इस बात की है कि आधुनिक तत्वमीमांसा की भाषा में इस तरह की अकेली समस्याओं, जैसे चेतना का स्वरूप तथा अन्यों पर, विशिष्ट अध्ययन इस दृष्टि से किया जाय कि उनके सम्भाव्य समाधान की ओर हिन्दू योगदान पर पुनर्विचार हो सके तथा उसे पुनः विश्व के समक्ष प्रस्तुत किया जा सके।

अनुसन्धान की विधि :

विगत अर्ध शताब्दी में, विभिन्न संस्कृतियों से हमारे बौद्धिक सम्बन्धों द्वारा विभिन्न जातियों के विवेक तथा दर्शन के ज्ञान का हमारा क्षितिज

अत्यधिक विस्तृत हो गया है। आज हम इजिप्ट, पर्शिया, चीन और भारत की विशिष्ट बुद्धिमत्ता और ज्ञान के सम्बन्ध में तुलनात्मक रूप से कहीं अधिक जानते हैं। सदैव की भाँति, सांस्कृतिक संपर्क का यह नया युग अपने साथ चौकसी से अधिक उत्साह और शुद्धता से अधिक सहानुभूति लाया, जिसकी अधिक अभिव्यंजना उन तुलनात्मक अध्ययनों में हुई, जिनमें कि विचारों की सतही समानताओं को, जो कि काल, स्थान तथा परिस्थितियों की दृष्टि से एक दूसरे से अत्यन्त दूर थीं, इस तरह प्रस्तुत किया गया कि जैसे उनमें स्वरूपत: तादात्म्य है। तुलनात्मक अध्ययनों में पुरातन और असमान की व्याख्या नूतन और परिचित विचारों से, मूल और अपरिचित के प्रति बिना किसी दृढ़ अवलम्बन के करना विद्वानों की आकांक्षा रही है। इस तरह, भारतीय और पाश्चात्य दर्शनों के तुलनात्मक अध्ययन की प्रारंभिक अवस्थाओं में भारतीय वेदान्त के अद्वैतवादी दर्शन, जिसके अन्तर्गत विविधतायें हैं, और पश्चिम के हीगेलवादी प्रत्ययवाद की, दोनों में से किसी के भी पृथक् व्यक्तित्व को सुरक्षित रक्खे बिना किसी प्रयास के समान और तादात्म्यक बताना पण्डितों का प्रिय विषय था।[१] कणाद के वैशेषिक सूत्रों में सम्पूर्ण आधुनिक भौतिक विज्ञान की खोज निकालने का प्रयत्न किया जाता है, और पतंजलि के सूत्रों को या तो आधुनिक मानस-आरोग्यविज्ञान का उच्च श्रेणी का अध्ययन-क्रम, या सांसारिक वैभव और शक्ति की भोगार्थक तात्विक शक्तियों पर प्रभुत्व पाने के लिए गुप्त विज्ञान पर लिखा हुआ ग्रन्थ समझा जाता है। उपनिषदों में बुद्धि की सीमितता के सम्बन्ध में व्यक्त विचारों को बर्गसाँ की मूल प्रवृत्ति की ओर पुनरावर्तन तथा बुद्धि पर सम्पूर्ण अविश्वास से एक बताया जाता है। न्याय और आधुनिक तर्कशास्त्र के साथ भी यही किया गया है, जिनमें परार्थानुमानों आदि की समानताओं को समस्याओं के निर्धारण में उनकी विशिष्ट वैयक्तिकताओं को वर्जित करके चुन लिया जाता है।

उपरोक्त का यह अभिप्राय नहीं है कि किन्हीं दो संस्कृतियों के वैभव-शाली दर्शनों में मूल तथा शाश्वत प्रश्नों और मानव मस्तिष्क पर उनकी प्रतिक्रियाओं तथा उनकी अभिव्यक्तियों में किसी प्रकार की एकरूपता नहीं है। ऐसा करने का अर्थ, मानव बुद्धि की एकता और विषयकता की आधार-भूत कल्पना के साथ हिंसा तथा एक सार्वभौम तत्वमीमांसा की नितांत असंभावना में विश्वास प्रकट करना होगा। इसके विपरीत, समय और

१. द्रष्टव्य, वेदान्त, प्लेटो और कांट पर डूसेन का प्रबन्ध।

परिस्थितियों में एक दूसरे से अत्यन्त दूर, जैसे विलियम जेम्स और बुद्ध, ह्यूम की तरह के आधुनिक संदेहवादी और प्राचीन माध्यमिक दार्शनिक नागार्जुन या धर्मकीर्ति, आज का विषयीगत प्रत्ययवादी और अतीत के योगाचार प्रत्ययवादी आदि के विचारों में हमें सुन्दर समानान्तरता के अद्भुत उदाहरण देखने को मिलते हैं। किसी प्राचीन हिन्दू या बौद्ध ग्रन्थ को देखते समय इस तरह की समस्याओं पर दृष्टि प्रायः चली जाती हैं जिन्हें कि इस तरह की प्रणाली में विवेचित तथा प्रस्तुत किया गया है कि उनमें तथा किसी अति आधुनिक ग्रन्थ की विवेचन-विधि में भेद करना सम्भव नहीं रह जाता है।

किन्तु, किसी भी तुलना के पूर्व, किन्हीं भी दो विभिन्न दर्शनों का उनके विशिष्ट व्यक्तित्वों में अद्योपान्त ज्ञान अत्यन्त महत्वपूर्ण है, अन्यथा, इन्हीं समानताओं पर आधारित तुलनात्मक अध्ययन का दोनों के रूप को भ्रष्ट करने के लिए पतित हो जाने का सहज ही खतरा है। कारण यह है कि किसी विशिष्ट संस्कृति का प्रत्येक दर्शन स्वयं अपनी आत्मा लिए हुए है। उसकी अपनी व्यक्तिगत मेधा है, जो किसी समस्या का अपनी विशेष रीति से सृजन करती तथा प्रतिक्रियान्वित होती है। किसी भी दर्शन की वैयक्तिकता के इस तथ्य की, उस दर्शन के विशिष्ट गुणों को मटियामेट किये बिना, हम उपेक्षा नहीं कर सकते।

इस कारण बाद की संभाव्य संश्लेषण की अवस्था के लिए, प्रारम्भिक चरण के रूप में, किसी संस्कृति की प्रत्येक प्रतिनिधि विचारधारा अपूर्व और विभेदक चारित्रिक गुणों की, इसके पूर्व कि उनकी ओर पुनः पहुँचने का प्रयत्न किया जाय, खोज निकालने का प्रयास अत्यन्त आवश्यक है। इसलिए, वैयक्तिक अध्ययन और भेद-निरूपण की प्रणाली, जो कि तुलनात्मक अध्ययन की ओर एक नई पहुँच को प्रस्तुत करती है, विभिन्न दर्शनों के ज्ञान की हमारी वर्तमान अवस्था में, छिछली और असावधानीपूर्ण सादृश्यताओं की प्रणाली से कहीं अधिक उपयुक्त है।[१]

मैंने, इसलिए, चेतना के प्रति हिन्दू ग्रन्थों में बिखरे हिन्दू दृष्टिकोण का उसके वैयक्तिक तथा विभेदक लक्षणों में, आधुनिक या पाश्चात्य दृष्टिकोण की तरह प्रस्तुत करने का प्रयास किये बिना, एक स्वतन्त्र और आलोचनात्मक अध्ययन किया है। वाद-विवाद संवाद के हिन्दू विधिशास्त्रीय रूप को विभिन्न प्रश्नों के सूत्रीकरण में, जहाँ तक व्यावहारिक हो सका है, सुरक्षित रखने का प्रयत्न भी किया गया है। चेतना के स्वरूप से सम्बद्ध कुछ आधार-

१. द्रष्टव्य बी० हेमन इण्डियन एण्ड वेस्टर्न फिलासफी।

भूत प्रश्नों को भी, जो न हिन्दू हैं, न प्राचीन, उनकी मूल पृष्ठभूमि में ही विवेचित किया गया है। इस अवस्था में, तुलनाओं से जान बूझकर ही बचा गया है, ताकि वे भारतीय शास्त्रीयतावाद की अपरिचित पृष्ठभूमि में, पहले से ही जटिल समस्याओं को अनावश्यक रूप से और भी जटिल रूप प्रदान न कर दें। इस तरह, चेतना के समग्रतया तथा स्वरूपत: हिन्दू दृष्टिकोण के चित्र को, उन चारित्रिक लक्षणों के साथ जो उसे अपने पाश्चात्य चित्र से स्पष्ट रूप से भिन्न बनाते हैं, प्रस्तुत करना मेरा लक्ष्य रहा है।[१]

चेतना की समस्या क्या है ? इस तरह की कोई समस्या है भी, या नहीं ? इस तरह के तथा अन्य प्रश्नों का पूछा जाना अत्र आवश्यक है। चेतना की समस्या और स्वरूप को समझाने के लिए ज्ञान के हमारे दैनिक अनुभव के विश्लेषण से प्रारम्भ करना श्रेयस्कर है। यदि हम विमर्श करें तो चेतना का तथ्य कुछ ऐसे खंडांशों से निर्मित प्रतीत होगा जो जहाँ कहीं भी ज्ञान या चेतना की अभिव्यक्ति होती है, उसमें अटल रूप से भाग लेते । ये खंडांश निम्न हैं :—

१. हमारे बाह्य इन्द्रिय उपकरण अर्थात् इद्रियाँ; २. बाह्य जगत् के पदार्थ अर्थात् विषय; ३. अन्तीन्द्रिय या मानस जो कि ज्ञाता और बाह्य इन्द्रियों के मध्य सम्बन्ध जोड़ने वाला है; और अन्तत: ४. कर्ता या ज्ञाता आत्मा जो स्वयं को ज्ञाता की तरह मानता है और जिससे हमारे ज्ञान का सम्पूर्ण प्रवाह, जो हमारे मानसिक जीवन का संस्थान करता है, सम्बद्ध होता है, तथा जिसमें मूल भित्ति या परमाधार की तरह सम्पूर्ण ज्ञान सान्निहित होता है।

हमारे दैनिक ज्ञानानुभव में अन्तर्भावित खंडांशों का उपरोक्त वक्तव्य केवल सामान्य ज्ञान पर आधारित वक्तव्य है। थोड़ी सी और विचारणा से स्पष्ट होगा कि कर्ता या 'मैं' को अन्तर्निरीक्षण की क्रिया में, आगे और भी दो स्वत्वों में विभक्त किया जा सकता है। यह वक्तव्य कि 'मैं स्वयं को जानता हूं', दो ज्ञाताओं का सुझाव देता है—ज्ञाता ज्ञेय की तरह और ज्ञाता ज्ञाता की तरह। विभक्तिकरण की इस प्रक्रिया को अनन्तता तक जारी रखा जा सकता है। कोई इस कारण, एक ज्ञाता के स्थान पर दो ज्ञाताओं को रख सकता है—एक अनुभव-निर्भर या मनोवैज्ञानिक आत्मा, जो विकल्पात्मक रूप से ज्ञात का विषयी और विषय दोनों बन जाता है, तथा दूसरा, अनुभवातीत विषयी जो ज्ञान की किसी भी क्रिया में कभी भी ज्ञात की तरह नहीं पकड़ा जाता, किन्तु जो हमारे सम्पूर्ण ज्ञात व्यापार के पीछे

१. इस सम्बन्ध में उदाहरण अन्तिम अध्याय में मिलेंगे।

परम ज्ञाता और विषयी की तरह सदैव ही अवस्थित रहता है। हम देख चुके हैं कि चेतना में विषयी और विषय का द्वैत सान्निहित होता है। तब इस प्रश्न का उद्भव स्वत: ही हो जाता है कि क्या द्वैतता हमारी चेतना का स्थायी लक्षण हैं ? क्या यह सर्व चेतना का, उसकी सम्पूर्ण स्थितियों में, उसके मूल स्वरूप में सान्निहित परम सिद्धान्त है, या कि किसी अवस्था में कहीं इसका अन्त भी है, जहाँ विषयी या अद्वैत चेतना केवल अपने स्वभाव या स्वरूप में, बिना किसी अन्य ऐसे विषय के जो उसे विशेषित या उसके स्वभाव को सीमित करता हो, प्रकाशित होती है ? सारांश यह कि क्या अद्वैत, अपरोक्ष और अविभेदी चेतना का कोई अस्तित्व है जो कि सार्वभौम और अपरिवर्तनशील हो या कि समग्र चेतना, 'यह यह है', के रूप में सदैव विभेद-युक्त, परिवर्तनशील और सविशेष ही होती है ? चेतना के स्वरूप के सम्बन्ध में, यह प्रश्न आधारभूत प्रश्नों में से एक है।

किन्तु सर्वोपरि प्रश्न यह है कि चेतना स्वयं अपने में क्या है ? संवित्, अनुभूति या उपलब्धि अपने आप में क्या है ? क्या वह किसी एक द्रव्य मात्र का गुण है या कि स्वयं एक द्रव्य है ? ज्ञान की स्थिति कौन लाता है ? क्या वह विषय, इन्द्रियों, मानस और आत्मा इन सब खंडांशों का संयोग है या कि वह केवल आत्मा के नित्य और मूलतः चित्स्वरूप के कारण है ? केवल पोद्गलिक शरीर चेतना का सिद्धान्त नहीं हो सकता है, क्योंकि मृत शरीर में चेतना की उपलब्धि नहीं होती। अचेतन वस्तुओं का कोई संयोग भी चेतना का सृजन नहीं कर सकता है। चेतना के प्रत्येक अंश का भी सचेतन होना उसी तरह आवश्यक है, जिस तरह कि पुद्गल का प्रत्येक अणु पुद्गलात्मक होता हैं। प्राण भी चेतना का सिद्धान्त नहीं हो सकता; क्योंकि ऐसे असंख्य प्राणी हैं, जिनमें प्राण का श्वास दौड़ रहा है पर जो ज्ञान या चेतना का कोई भी चिह्न नहीं प्रकट करते। क्या बुद्धि चेतना का कारण है ? यदि ऐसा है, तब स्वयं बुद्धि क्या है ? वह स्वयं सचेतन वस्तु है या अचेतन ? क्या चेतना उससे उसी प्रकार सम्बन्धित है जैसे ताप अग्नि से, या जैसे पका मृत्तिका घट लाल रंग से सम्बन्धित होता है ? या उसी प्रकार मात्र आपातिक रूप से ही सम्बद्ध है ? क्या यह नहीं हो सकता है कि बुद्धि भी केवल, शरीर और इन्द्रियों की भाँति, चेतना का एक अधिकरण मात्र है; और उस स्थिति में ज्ञात का गुण उससे सम्बद्ध नहीं है। यह आणविक पुद्गल का एक सूक्ष्माधिकरण मात्र भी हो सकता हैं, जो कि यद्यपि स्वयं में चेतन नहीं है, तथापि मानसिक और चेतन गुणों को, चेतना के प्रतिफलन की अपनी क्षमता के कारण ग्रहण कर लेता है।

पुनः, तब क्या आत्मा चेतना है ? क्या इन दोनों, आत्मा और चेतना में कोई विभेद ही नहीं है ? या कि चेतना आत्मा का केवल गुण है, उसका स्वभाव या सार नहीं ? क्या वह शाश्वत, असृष्ट, निष्क्रिय और अपरिवर्तनीय है, या कि सृष्ट, परिवर्तनशील, गतिमय और रूपान्तरणीय ?

अन्त में, अचेतन क्या है और अ-चित् के दोनों विपरीत तत्व परस्पर किस रूप में सम्बन्धित हैं ? क्या यथार्थ में ऐसे दो द्रव्यों का अस्तित्व है जिनमें से एक स्थायी रूप से चेतन और दूसरा स्थायी रूप से अचेतन हैं, या कि केवल एक ही द्रव्य का अस्तित्व है ? चित् या अचित्, जो स्वयं अपने को विपरीत में रूपान्तरित करता है, यदि एक दूसरे से पूर्ण विरुद्ध दो द्रव्यों की ऐसी सत्ता है जिनमें कुछ भी समानता नहीं है, तब वे एक दूसरे से संबद्ध ही किस रूप में हो सकते हैं ? यदि केवल एक ही द्रव्य का, चेतन या अचेतन का, अस्तित्व है तब एक से दूसरे के उद्भव की कठिनाइयाँ पैदा होती हैं, क्योंकि यथार्थानुभव में चित् और अचित् तथा विषयी और विषय दोनों को हम एक ही अंशी के अंश की तरह पाते हैं। चेतना से सम्बन्धित समस्याओं में से कुछ इसी प्रकार की हैं। हिन्दू विचारकों के गवेषण में प्रयासित समाधान का ही इन पृष्ठों में अनुसन्धान करने का प्रयत्न किया गया है।

प्रस्तुत अध्ययन के क्षेत्र और इसकी सीमाओं के सम्बन्ध में एक स्थल पर, दो शब्दों का जोड़ा जाना आवश्यक प्रतीत होता है। चेतना के स्वरूप की यह प्रस्तुत खोज, चेतना के तत्वमीमांसात्मक स्वरूप तथा चेतना जैसी स्वयं अपने में है उन लक्षणों की विशुद्ध तार्किक विचारणा तक ही सीमित है। इस प्रकार, गवेषणा का विषय-वस्तु चेतना का स्वरूप और अध्ययन का केन्द्र-बिन्दु तत्वमीमांसात्मक है। यद्यपि समस्या पर अनेक पहलुओं से विचार किया गया है, तथापि चेतना के परम स्वरूप का निश्चय करना ही इस समग्र प्रबन्ध में अध्ययन का ध्येय रहा है। चेतना के स्वरूप के इस अध्ययन को ऐसे संयुक्त प्रश्नों से किसी भी रूप में मिश्रित नहीं किया जाना चाहिए, जो कि यद्यपि उससे सम्बन्धित हैं, पर जिनको यहाँ भिन्न और पृथक् ही माना गया है, ताकि वर्तमान अध्ययन का क्षेत्र अनावश्यक रूप से विस्तीर्ण होकर अन्तर्भावित प्रश्नों की स्पष्टता को समाप्त न कर दे। उदाहरणार्थ, चेतना की समस्या, ज्ञानमीमांसा के प्रमाण के साधनों के समकक्ष समस्या तथा सत्य और भ्रांति के सिद्धांतों से, जो कि अपने आप में एक पृथक् समस्या है

और जिस पर उस रूप में ही विचार करना आवश्यक है, भिन्न है। इसका यह अर्थ कदापि नहीं है कि चरमतः एक दूसरे में कोई कड़ा विभेद संभव है, किन्तु यह कि वर्तमान अध्ययन का सम्बन्ध केवल चेतना के स्वरूप मात्र से ही है।

द्वितीय अध्याय

दर्शन के व्यवस्थात्मक रूप के पूर्व की अर्धदार्शनिक पृष्ठभूमि

प्राग् उपनिषदिक अन्वेषण का जागतिक स्वरूप

चेतना के परम तत्वमीमांसात्मक स्वरूप की हमारी गवेषणा का सम्बन्ध, मानव स्वयं अपने स्व में स्वरूपतः क्या है, इसके अन्तर्निरीक्षणात्मक विमर्श से सम्बद्ध है। मानव अपने आंतरिक तथा विषयीगत अस्तित्व में ही सर्वप्रथम चेतना के प्रति अपरोक्ष और अत्यन्त तात्कालिक रूप से सजग होता है। 'चेतना क्या है' और 'मैं चेतन क्यों हूँ' ऐसे प्रश्नों में, चेतन और अचेतन अस्तित्व एवं विशुद्ध पौद्गलिक और विमर्शहीन अस्तित्व तथा मानसिक और विमर्शमय प्रक्रिया में विभेद की पूर्व कल्पना को पहले से ही प्राप्त कर लिया गया है। चेतना विमर्शपूर्व है और विमर्शित होकर जन्म पाने की प्रतीक्षा नहीं करती। विमर्श की अवस्था अनिवार्य रूप के बाद में ही आती है।

मानव सत् के स्वभाव की बौद्धिक खोज में, पहले बाह्य जगत् की विजय से ही श्रीगणेश करता है, क्योंकि, जैसा कि कठोपनिषद्[१] का कथन है, मानव प्रारम्भ करने के हेतु पहले बाहर ही झाँकता है क्योंकि उसकी इन्द्रियाँ बहिर्मुखी हैं।[१] यह उसके अन्वेषण की द्वितीयावस्था में ही संभव हो पाता है जब कि वह बाहर से अंतर में वापिस लौटता है। इस प्रकार मानव के प्रारंभिक विचार स्वभावतः बहिर्जगत से सम्बद्ध थे। उसकी इन्द्रियाँ बाहर गईं, विनय और आश्चर्य से उसने अपने चारों ओर घिरे विस्तार में झाँका और वह ग्रहों और ऋतुओं के रहस्य, तथा वस्तुतः उस प्रत्येक वस्तु के प्रति आश्चार्यान्वित हुआ, जो उससे अधिक शक्तिमान थी और जिसने उसके जीवन को प्रभावित किया था। इस प्राथमिक अवस्था में उसने कठिनता से ही कभी अपने अन्तर में देखा है और अपनी आत्मा पर आश्चर्य प्रगट किया है। मानव विचारणा के इतिहास में बाह्य और आन्तरिक या भौतिक और मानसिक जगत् की विभेदक रेखाओं का खींचा जाना बहुत बाद में ही सम्भव हुआ है।

---

१. कठोपनिषद् ४.१

प्राथमिक खोज, इस कारण, सम्पूर्ण विश्व के सजीव और निर्जीव के अनुसन्धान से सम्बद्ध थी और उसका क्षेत्र अभी तक विश्व के किसी विशिष्ट अंग तक सीमित नहीं हुआ था। ऋग्वेदिक युग में, जिसमें वातावरण, खनिज, पौधे और पशु, मानव से किसी भी दृष्टि से कम यथार्थ और सजीव नहीं थे, यह अपरिहार्य ही था कि खोज को किसी एक ही और विशिष्ट रूप से दिशान्वित करने के बजाय सबके सार सत् की ओर ही संचारित किया जाता, और यही किया भी गया है।

भारतीय विचार का यह एक विशिष्टि लक्षण है कि वह विचारणा के प्रत्येक चरण में यथार्थ को एक पूर्ण अंशी तथा संपूर्ण ब्रह्मांड की तरह ही विचारता रहा है। वह यथार्थ को विश्लेषण द्वारा कठोर विभाजनों में विभाजित नहीं करता। यथार्थ के प्रति इस सार्वभौम दृष्टि के अनुसार, प्रत्येक वस्तु संपूर्ण का अंश और प्रतीक है, और इस तरह प्रत्येक कण एक ही तात्विक पूर्ण से भरा हुआ है। सत् एक ठोस रूप से जमी हुई इकाई है, जिसमें न कुछ आन्तरिक है, न कुछ बाह्य। वह भी पूर्ण है, यह भी पूर्ण है, पूर्ण से ही पूर्ण विकसित होता है।[1]

ब्रह्माण्ड तारों का विश्व, आकाशीय और पार्थिव दृश्य-जगत्, समग्ररूपेण मानव के बाहर नहीं है क्योंकि, जहाँ सर्व सर्व है और प्रत्येक क्षण पूर्ण है, वहाँ बाह्य और आन्तरिक का विभेद नहीं हो सकता है, क्योंकि मानव भी पूर्ण का ही अंश और अंग है। प्रत्येक वस्तु, यदि उस पर हम गहराई से अपने ध्यान को एकाग्र करें तो, संपूर्ण को उद्घाटित कर सकती है, क्योंकि वह भी संपूर्ण का ही आनुवीक्षणिक सूक्ष्म चित्र है। यही कारण है कि कभी-कभी यह कहा जाता है कि मानवीय प्रगति तथा ज्ञान के विकास में उद्घाटित होने की ऐसी कोई भूमि नहीं है जो कि समग्रतया नवीन हो; या पहुँचने को ऐसा कोई स्थल नहीं है जो कि पूर्णतया अपरिचित हो। सभी अन्वेषण, इल्हाम और ज्ञान केवल उसके पुनः अन्वेषण और पुनः ज्ञान की घटनाएँ मात्र हैं जो नित्य रूप से सदैव उपस्थित बना हुआ है।

बाह्य से आंतरिक की ओर संक्रमण

तो भी, ऐतिहासिक रूप से विचार जैसे-जैसे विकसित हुआ और प्रारम्भिक युगीन भोले-भाले आश्चर्य का स्थान विमर्श और अवधारणा ने प्राप्त किया,

---

१. बृ० उ० शान्तिपाठ ५.१.१.

वैसे ही मानव का ध्यान मात्र बाह्य तथ्यों और दृश्य-जगत् के निरीक्षण से हटकर आन्तरिक शक्तियों या उन सबके आधार में क्रियाशील सिद्धान्त पर आना भी प्रारम्भ हुआ।

मानव ने अब वस्तुओं के अन्तर में झाँकना प्रारम्भ कर दिया, तथा उनके अस्तित्व के कारणों और नियमनात्मक सिद्धान्तों की खोज में लग गया। किन्तु खोज का रुख अब भी विषयात्मक और बहिजगत् सम्बन्धी ही रहा हैं। आन्तरिक से अभी भी केवल मानव के आन्तरिक का अर्थ ग्रहण नहीं किया गया है। उसका अर्थ मानव की 'स्व' आत्मा के तात्विक स्वरूप के बजाय, अभी भी, सर्व वस्तुओं के आन्तरिक तथा किसी भी वस्तु की आधारभूत यथार्थता से ही अधिक है, जिसके स्वरूप का अन्वेषण किया जा रहा है। अन्वेषण की इस द्वितीय अवस्था में जीवनी-शक्ति या सामान्य रूप से सर्व वस्तुओं की विशेष क्रिया अभी अन्वेषण का विषय नहीं बनी। मनुष्य, किसी अन्य सजीव प्राणी से, आन्तरिक रूप से, अधिक महत्ताशाली नहीं है, यह रुख सामान्यत: हिन्दू विचार का सदैव ही एक विशेष लक्षण रहा है और उसके अन्तर में भी, कोई विशेष क्रिया उसकी किसी अन्य क्रिया से इस अवस्था में अधिक आधारभूत नहीं मानी गई है जैसा कि बाद में उपनिषद् युग में माना गया है। मानव या उसका कोई विशेष लक्षण अब तक ध्यान का केन्द्र नहीं बना है। खोज का रूप अब भी चेतना या मानस के पदों में नहीं, बल्कि सामान्य दृश्य जगत् की विशिष्ट क्रियाओं और उनके पीछे की गतिमय शक्ति की भाषा में है—इस तथ्य पर ध्यान दिये बिना ही कि वे निर्जीव हैं या सजीव। संक्षेप में, विमर्श की इस द्वितीय अवस्था में, हम प्रकृति के तथ्यों की विविधता और घटना-चक्र के निरीक्षण मात्र की स्थिति से, एक एकात्मक नियम या विधि की धारणा का विकास होते हुए देखते हैं, जिसे कि वेदों में ऋत् के नाम से विशेष रूप से गौरवान्वित किया गया है।

विश्व की प्रत्येक नियमित वस्तु का सिद्धान्त ऋत् है।[१] ऋत आधारभूत गतिमय सिद्धान्त की तरह प्रकृति के सम्पूर्ण घटना जगत् के पीछे अवस्थित है। देवताओं की धारणा से, यहाँ तक कि स्वयं वरुण से, यह महानतर

१. राधाकृष्णन्—इंडियन फिलासफी भाग १, पृष्ठ ७९

है, क्योंकि विश्व की अन्तरस्थ क्रियाशक्ति होने के कारण यह अधिक आंतरिक और आधारभूत है। ऋत् का सिद्धान्त प्रत्येक सजीव एवम् निर्जीव प्राणी को स्वयं उसके अन्तरस्थ अस्तित्व के नियम के पालन के लिए बाध्य करता है। वह पवन को बहने, जल को प्रवाहित होने और मनुष्य को ज्ञान प्राप्त करने का आदेश करता है। ऋत्, चूँकि सार्वभौम अन्तरस्थ शक्ति की तरह, जड़ और चेतन समस्त प्रकृति की विशेष क्रियाओं को नियमित करता है, इसलिए यह मानवीय ज्ञान की प्रक्रिया की आधारशिला भी है। मानव मस्तिष्क ऋत् की शक्ति के कारण ही क्रियान्वित होते हैं।[१] मनुष्य उसी अन्तर्निहित संचालक शक्ति के द्वारा जानता है जो अग्नि को प्रज्वलित तथा नदियों को प्रवाहित होने के लिए गतिमय करती है। जिस तरह अन्य सभी प्राणियों को अपने भाग में प्राप्त कार्यों को पूरा करना है, उसी तरह मनुष्य को भी अपने जानने (संवित्) के विशेष कार्य को, संवित् के शाब्दिक और विस्तृत दोनों अर्थों में पूरा करना है, अर्थात् ऋत् की सार्वभौम क्रिया की आंशिक क्रिया के रूप में मानव को जानना है।

इस प्राग्-उपनिषद् युग में, विमर्श के स्वरूप के मानव-केन्द्रित या मनोवैज्ञानिक न होने के कारण, हमें मानव की जानने की क्रिया या चेतना के लिए कोई विशेष पद प्राप्त नहीं होता, किन्तु मनोवैज्ञानिक रूप से क्रतु पद, जिसका मूल संभवतः 'कृ' धातु से है और जिसका अर्थ है अपना कार्य पूरा करना, मानवीय स्तर पर अपनी क्रिया पूरी करने के अर्थ में चेतना के पर्याप्त रूप से समीप आ सकता है। इस क्रिया को विशिष्ट मानवीय स्तर पर क्रतु कहा गया है, इसका प्रमाण शतपथ ब्राह्मण ४. १. ४. १ में स्पष्ट है। शतपथ ब्राह्मण में कहा गया है कि जब मनुष्य अभिलाषा करता है कि मैं उसे कर सकूँ, मैं उसे प्राप्त कर सकूँ, तब वह क्रतु है और जब वह उसे प्राप्त कर लेता है, तब दक्ष है।[२] यह क्रतु पद ही है जो बाद में इच्छा करने, संकल्प करने, तथा स्मरण करने आदि के सामान्य अर्थ में मानस और प्राण में परिवर्तित हो जाता है।[३]

---

१. ऐतरेय उपनिषद्, ३ २ सज्ञातम्, अज्ञानम्, विज्ञानम्, प्रज्ञानम्, मेध, द्रष्टि, धृतिः, मतिः, मनीषा, जुतिः, स्मृतिः, संकल्पः, क्रतु; असु, कामः, वशः, सर्वाण्येव इतानि प्रज्ञातस्य नाम धेयानि भवन्ति।

२. बी० हेमन : इंडियन एण्ड वेस्टर्न फिलासफी पृष्ठ ७७।

३. शतपथ ब्राह्मण, ४. १. ४. १

ऋग्वेद में परम यथार्थ का स्वरूप

परम यथार्थ के स्वरूप के सम्बन्ध में तब प्राग्उपनिषद् विमर्श क्या है, और पश्चातकालीन चेतना के दर्शन के विकास को समझने के लिये वह कौन-सी कुञ्जी प्रस्तुत करता है ?

इस प्रश्न के उत्तर में हमें यह कहना है कि वेदों में वस्तुत: तत्व मीमांसात्मक विचारणा, एक अन्तरस्थ और सार्वभौम यथार्थ की धारणा के अतिरिक्त बहुत अधिक नहीं है। अन्तरस्थ और सार्वभौम यथार्थ की यह धारणा भी अभी जगत् की आधारभूत शक्तियों के एक एकात्मक सिद्धान्त की तरह विकसित हो रही है, किन्तु उसमें बाद में आधारभूत दार्शनिक प्रश्नों को जन्म देने की बीजवत् संभावनायें अवश्य ही सन्निहित हैं। ऋग्वेद के प्रसिद्ध सृष्टि सूक्त[1] की व्याख्या से हम उस आदितम दार्शनिक वसीयत का कुछ अनुमान निश्चय ही कर सकते हैं, जिसके आधार पर कि बाद में उपनिषदों और उसके भी पश्चात चेतना के स्वरूप के दर्शन का विशाल भवन खड़ा होता है। यह मन्त्र घोषिति करता है : 'न असत् आसीत् न सत् आसीत् तदानिम्' अर्थात् उस समय न असत् था न सत् था। और पुन:, 'कामस् तदाग्रे समवर्तताधि मनसो रेतः प्रथमम् यद् आसीत्। कतो बन्धुम असति निराविदन्हृदि प्रतीस्या कवयो मनीसा', अर्थात्, और तब प्रथम बार वहाँ काम का उद्‌भव हुआ जिसमें मनस का आदि बीज छुपा हुआ था। मन्त्र आगे भी कहता है कि ऋषियों ने खोजते हुए असत् में सत् को जोड़ने वाली कड़ी को आविष्कृत किया। यद्यपि यह ठीक रूप से स्पष्ट नहीं है कि इस कथन से, कि 'काम मनस् का प्रधानतम बीज है' क्या अर्थ लिया गया है क्योंकि सामान्यत: काम मनस् को नहीं मनस् ही काम को उत्पन्न करता है, किन्तु तब भी शतपथ ब्राह्मण १०, ५, ३, १-३ में उसकी प्रथम टीका के साथ मन्त्र को पढ़ने से, हमें यहाँ, चेतना के भावी दर्शन का बीजात्मक सुझाव प्राप्त हो सकता है। काम के अर्थ को यहाँ निश्चित रूप से ही साधारण

१. ऋग्वेद, १०. १२६।

अनुभववादी अर्थ में नहीं लिया गया है। उसके स्थान पर उसका संदर्भ जागतिक, केन्द्रस्थ और एकात्मक सृजन के सिद्धान्त से, या एक ऐसी सृजनात्मक शक्ति से कहीं अधिक है जो अब तक न मनस् है, न अ-मनस् हैं, बल्कि केवल एक अनिश्चित बीजात्मकता की परिपूर्णता है, जो कि कुछ निश्चित और सीमित बनने को स्पन्दित, तथा बाद में अपने को मनस् या चेतना की तरह अभिव्यक्त करने को उत्सुक है। वह, संक्षेप में, बीजात्मकता की स्वयं को अभिव्यंजित कर पाने की एक जागतिक अंतःप्रेरणा है।

किन्तु, ऋषि इस सम्बन्ध में केवल इतना ही कह कर रुक जाते हैं। इसके पार वे नहीं जाते। यह नहीं बताया गया है कि यह मूल यथार्थ चेतन है या अचेतन है। वस्तुतः, यह निश्चित वक्तव्य कि 'वह न सत् था न असत्', जो कि अन्य वक्तव्य का बोध करता है कि ऋषियों ने सत् के मूल को असत् में पाया, यह स्पष्ट सुझाव देता है कि यह सत् एक विशेष प्रकार का सत हैं—ऐसा जो किसी साधारण और सीमाबद्ध सत् से पूर्णतया भिन्न है। विपरीत विधेयों से उसका विशेषित किया जाना यह सुझाव दे सकता है कि वस्तुतः कोई भी विधेय उसे वर्जित नहीं करता। यह नहीं समझा जाना चाहिए कि असत् से पूर्ण अनस्तित्व का अर्थ अभिप्रेत है, क्योंकि असत् का पद भेद की अवस्था के पूर्व ठीक उसी का बोध कराता है, जिसका बोध कि नाम-रूप के भेद के पश्चात् सत् का पद कराता है। ब्रह्म को जगत् के जन्म के पूर्व पद के गौणार्थ में ही असत् कहकर सम्बोधित किया गया है। निरपेक्ष अस्तित्व की सत्ता, जो किसी भी प्रकार के निर्देश से रहित तथा सिवाय निषेध के द्वारा और किसी मार्ग से विचार योग्य नहीं हैं, अनस्तित्व के ही समतुल्य है।[१]

असत्, तब, निरपेक्ष शून्य नहीं, बल्कि अभी तक कुछ नहीं है। वह बाद की निर्वाण और शून्य की बौद्ध धारणा, या वेदान्त के ब्रह्म तथा सांख्य के अव्यक्त के सदृश्य है। उसका यथार्थ निराकारिता और अरूपता ही नहीं है बल्कि साथ ही वह परिपूर्ण भी है। सत से यहाँ निश्चित आकृति के पृथक् रूपों और आकारों का अर्थ ग्रहीत है, अर्थात् उससे असत् की रूपहीन और सर्वरूपों की सम्भावना की ध्रुव धारणा के विपरीत ठोस मूर्तत्व का अर्थ लिया गया है।

तब, इस वक्तव्य का क्या अर्थ है कि सत् की जड़ें असत् में निहित हैं। इसका उत्तर यह है कि उसका सरल रूप से यह अर्थ हो सकता है कि रूपी

१. शतपथ ब्राह्मण, प्रथमोध्याय ५. ३. १: ३

अरूपी से तथा सीमित असीमित से निकलता है, और यह भी कि दोनों एक दूसरे से पृथक् नहीं हो सकते हैं, क्योंकि दोनों ही ध्रुव यथार्थ हैं क्योंकि निराकार असत् स्वयं साकार सत् का रूप धारण करने के पश्चात्, अन्ततः पुनः, मूल निराकार असत् में विलीन हो जाता है। सत् की जड़ें असत् में उसी तरह निहित हैं, जैसे कि माया की जड़ें ब्रह्म में। यह घोषित करना हिन्दू विचार का एक विशेष लक्षण रहा है कि ससीम आकृतियों और पृथक् विकसित वस्तुओं की अनेकता का आधार एक आदि सत्व है, जिससे कि वे विकसित और अन्ततः जिसमें विलीन होती हैं, और इस मूल सत्व को, शून्य और पूर्ण, अभाव और परिपूर्णता दोनों के ध्रुवीय विशेषणों के पदों में विचारा जा सकता है। असत्, इस कारण, अभिव्यंजित और सृजित के विपरीत अनभिव्यंजित और सृजन शक्ति का बोधक है। योग भाष्य[1] में भी, बाद में, इसी तथ्य[2] को अभिव्यक्ति मिली है, जहाँ कि दृश् और दृश्य दोनों का अपनी सम्पर्कावस्था के पूर्व, द्रष्टा की तरह नहीं, बल्कि दृश्य और द्रष्टा की तरह बीजरूपी अस्तित्व माना गया है।

असत् सत् से उच्चतर है, क्योंकि किसी विशिष्ट रूप में न होने का अर्थ है समग्र रूपों की सम्भावना की तरह अस्तित्व में होना, जो कि असत् को किसी भी परिमित लक्षण में आबद्ध करने के प्रयास को अनिवार्य रूप से वर्जित करता है। यही कारण है कि पूर्व के विचारकों ने सत् के मूल को विरोधी नामों से पुकारा है। परम सत् को, जो कि अनन्त है, काम, मनस्, सत् या असत् किसी भी नाम से सम्बोधित नहीं किया जा सकता। उसे सत् कहकर पुकारना, असीम सत् कहकर पुकारना है जो कि वह नहीं है, और उसे असत् कहकर सम्बोधित करना उसका निषेध करना है, जो कि सत्य नहीं है। पूर्ण सत् को, जो कि सम्पूर्ण विश्व की पृष्ठभूमि में स्थित है, हमारे द्वारा सत् या असत् की तरह निर्दिष्ट नहीं किया जा सकता।[3] इस कारण उसको न तो सम्पूर्ण रूप में अस्वीकार किया जा सकता है और न अनुभवमूलक रूप से स्वीकृति ही किया जा सकता है।

उसका एकमात्र ज्ञान जो हमें प्राप्त है वह यह है कि वह है, और यह कि वह अभी तक कोई विशिष्ट वस्तु नहीं है।

संक्षेप में, हमारी पहली विचारणा इस वक्तव्य के अर्थ के लिए थी कि काम वह मूल यथार्थ है जिससे कि मनस् का उद्भव हुआ है। इसके पश्चात्

१. पृष्ठ २२ शंकर भाष्य, २. १. १७

२. पृष्ठ २३ योग भाष्य, २. २३

३. राधकृष्णन् इंडियन फिलासफी, भाग १ पृष्ठ १०१

हमने इस वक्तव्य पर विचार किया कि 'सत् का मूल असत् में निहित है' इसका क्या अर्थ है। हमारा, इसके बाद का प्रश्न यह है कि परम और मूल सत् की खोज कहाँ की जा सकती है ? उसका मूल आवास कहाँ है ? उसकी गवेषणा कहाँ की जाय ? और हमारे पास तथा इस वक्तव्य में कि ऋषियों ने उसे अपने अन्तरमन में खोजा, एक महत्वपूर्ण कुञ्जी है। इस तथ्य से, कि ऋषियों को वाह्य जगत् में नहीं, बल्कि अपने हृदयों में[1] उसे खोजना पड़ा, यह स्पष्ट निर्देश मिलता है कि परम यथार्थ अन्ततः आंतरिक यथार्थ हो सकता है, या यह कि मनस् . चेतना उसके तात्विक स्वरूप के संगठन हो सकते हैं, क्योंकि, बाद में उपनिषदों में आत्मा को हृदयान्तर ज्योति की तरह घोषित किया गया है, तथा और भी बाद में विशुद्ध चेतना, चित्, को वेदांत में ब्रह्म तथा सांख्य योग में पुरुष का तात्विक स्वरूप माना गया है। यह कथन कि इस परम यथार्थ में जिसे कि वेदों में आद्य मूल की तरह माना गया है मनस् का बीज संनिहित था जो कि बाद में समग्र विभेदीकरण का आदि उद्गम बना, यह संकेत भी करता है कि अन्ततः इस परम मूल यथार्थ का भी आदि चेतना जैसा भी कुछ स्वरूप रहा होगा जिससे कि उसे पृथक् नहीं किया जा सकता है, यद्यपि उसकी समता भी हमारे द्वारा ज्ञात अनुभवासिक चेतना से नहीं की जा सकती है।

हम, अब, यह निष्कर्ष निकाल सकते हैं कि मौलिक और आधारभूत यथार्थ के एक सार्वभौम और अन्तरस्थ सिद्धांत के क्रमिक अन्वेषण के रूप में विकसित होनेवाली आदर्शवादी प्रकृतियों का एक सलोच ढाँचा हमें वेदों में प्राप्त होता है, जिसकी अन्तिम पराकाष्ठा उपनिषदों के निरपेक्ष आत्मा के सिद्धांत में साकार होती है।

प्राग् औपनिषदिक विमर्श से औपनिषदिक अन्तःकरण में संक्रमण

हम देख चुके हैं कि ऋग्वेद में परम यथार्थ की विचारणा के प्रयास किये जाते हैं, किन्तु फिर अन्ततः उसे अविशेषित ही छोड़ दिया जाता है। यह प्रयत्न उस सीमा तक अत्यधिक महत्वपूर्ण है, जहाँ तक यह निर्दिष्ट करता है कि वैदिक युग में विचार का केन्द्र, घटना जगत् की अनेकता से प्रकृति के दृश्य जगत् और तथ्यों, बहुलता के स्रोत, तथा मूल तत्व के एक एकात्मक और आधार-भूत सिद्धांत की धारणा में परिणत हो गया था। जहाँ ऋत की धारणा, सृष्टिसूक्त का अन्तःप्रेक्षण तथा अन्य मन्त्र सत् के एक सार्वभौम और आधार-

1. यजुर्वेद ३२. ८

भूत सिद्धांत के आविष्कार का निर्देश करते हैं वहीं हृदयों में खोजने का सन्दर्भ, सिद्धांत की आंतरिकता का भी संसूचन देता है।

किन्तु वैदिक विचार ने, जिसने की सार्वभौम और आधारभूत सत् की खोज के लिए अन्तर में झाँकना प्रारम्भ कर दिया था, इस आंतरिक सत् के निश्चित् स्वरूप को अविकसित अवस्था में ही छोड़ दिया। वह एक केन्द्रस्थ सिद्धांत के कोरे अस्तित्व की धारणा पर ही ठहर गया, जिसका निश्चित स्वरूप स्पष्टरूपेण निर्णीत नहीं था। किन्तु कोरे अस्तित्व की धारणा में कोई दार्शनिक स्थिरता नहीं हो सकती थी। यथार्थ को कोरे सत् का विशेषण देनेवाली धारणा पर कोई भी विचार एक नहीं हो सकता है। इस प्रकार की धारणा स्वनिर्मित है, क्योंकि वह हमारी बौद्धिक जिज्ञासा को जगाने या उत्प्रेरित करने में असफल सिद्ध होती है। वैदिक ऋषियों द्वारा संदर्भित अस्तित्व का कोरापन औपनिषदिक ऋषियों को संतुष्ट नहीं कर सका। उन्होंने 'उसके' 'क्या' के प्रति भी जिज्ञासा प्रगट की, और यथार्थ के प्रति पूछा गया यह 'क्या' ही है जिसे कि उपनिषद् के ऋषियों ने अपने चिन्तन का विषय बनाया।

इस स्थल से ही औपनिषदिक् विचारक खोज के क्रम को अपने हाथों में लेते हैं और उसे ऐसी बौद्धिक तथा व्यवस्थात्मक विधि से विकसित करते हैं जो कि उस युग से ही विश्व के आदर्शवादी चिन्तन के लिए, सार्वभौम रूप से, औपनिषदिक् दर्शन की एक स्थायी देन मानी जाती रही है। उपनिषदों की दो उद्घोषणाएँ थीं। प्रथम यह कि परम यथार्थ शुद्ध चित् और आनंद से संगठित एक नित्य चेतन सिद्धान्त है, तथा द्वितीय यह कि परम यथार्थ स्वतः के स्व से अन्य नहीं है। ये धारणाएँ औपनिषदिक् चिन्तन को वैदिक विचार से स्पष्टरूपेण पृथक् कर देती हैं। वैदिक विचार ने, परम यथार्थ को, उसके स्वयं के स्वरूप तथा मानवीय चेतना से उसके सम्बन्ध, दोनों ही दृष्टियों से, पूर्णरूपेण निर्विशिष्ट ही छोड़ दिया था।

औपनिषदिक् दर्शन में चेतना

हम ऋग्वेद १, १६४, ३७ में इस प्रकार के हेतुवादी चिन्तन का दर्शन करते हैं कि 'मैं वस्तुतः क्या हूँ मैं नहीं जानता'।[१] यह मानव द्वारा स्वयं अपने स्व पर अन्तःप्रेक्षण का सम्भवतः प्रथम दृष्टांत है। वेदों के इस हेतुवादी विमर्श को, आत्मा के स्वरूप पर उपनिषदों के गम्भीर और सश्रम ध्यान का प्रारम्भ-बिन्दु माना जा सकता है। 'मैं कौन हूँ' (कोऽहम) और

१. ऋग्वेद १, १६, ४, ३७

आत्मा क्या है । जैसे—आग्रही प्रश्न उपनिषदों में उत्तर पाने के लिए निरंतर माँग करते रहते हैं ।

ऐतिहासिक रूप से, विश्व में चेतना की धारणा के विकास का विभिन्न अवस्थाओं पर व्यवस्थात्मक विमर्श का सम्भवतः प्रथम निश्चित प्रयास हमें ऐतरेय आरण्यक में उपलब्ध होता है । यथार्थ को, वनस्पति, वस्तुओं और मनुष्यों में आविष्कृत संविद् और बौद्धिकता के परिमाण के आधार पर, क्रमिक रूप से वर्गीकृत करने का यहाँ प्रारम्भ होता है । चेतना के सम्बन्ध में हिन्दू चिन्तन की प्रारम्भिकतम तत्वमीमांसा का प्रतिनिधित्व करने के कारण, ऐतरेय आरण्यक का सम्बन्धित अंश, लम्बा होने के बावजूद भी, पूर्णांश में उद्धृत किए जाने के योग्य है । हम पढ़ते हैं : जगत् में झाड़ियाँ हैं, वृक्ष हैं और पशु हैं, और वह आत्मा को उन सब में क्रमशः विकसित होते हुए देखता है । क्योंकि, झाड़ियाँ तथा वृक्षों में केवल 'जीवन रस' देखा जाता है, किन्तु सजीव प्राणियों में चित्त का अस्तित्व भी है । सजीव प्राणियों में आत्मा क्रमशः विकसित होता है और मानव में, पुनः, आत्मा का विकास क्रमशः होता है, क्योंकि वह प्रज्ञा से सर्वाधिक सम्पन्न है । जो उसे ज्ञात हो जाता है वह उसे कहता है और जो उसे ज्ञात है वह उसे ही देखता है; वह जानता है कि कल क्या घटित होनेवाला है, वह दृश्य और अदृश्य जगत् को जानता है और मर्त्य साधनों से वह अमृत्व की इच्छा करता है । इस तरह वह सम्पन्न है । अन्य प्राणियों के सम्बन्ध में, भूख और प्यास एक प्रकार की समझ है, पर वे नहीं कहते कि उन्होंने क्या जान लिया है, नहीं जानते कि कल क्या घटित होनेवाला है, आदि । इनकी पहुँच इससे और आगे नहीं है । अब प्रश्न यह है कि इस आत्मा का सत्य स्वरूप क्या है, जिसे कि वनस्पतियों पशुओं और मानवों में क्रमानुसार विकसित होते हुए पाया जाता है ? आत्मा के ज्ञान का उद्भव क्रमशः किस प्रकार होता है ? इस तरह के ही प्रश्नों का उत्तर देने का प्रयास उपनिषदों के ऋषि करते हैं, जिन्होंने कि आत्मा को एक रहस्य या एक पूर्णरूपेण नवीन धारणा की तरह माना, और जिन्होंने कम या ज्यादा, आत्मरहस्य के उद्घाटन में ही अपने आपको समर्पित कर दिया था ।

छांदोग्य उपनिषद् में, जब अमर्त्य आत्मा की ज्ञान प्राप्ति के हेतु, इन्द्र और विरोचन प्रजापति के पास पहुँचते हैं, तब प्रजापति इस रहस्य को उनके समक्ष क्रमशः प्रगट करते हैं । आत्मा का तादात्म्य क्रमशः एवं पदशः शरीर चेतना, स्वप्न चेतना और सुषुप्ति-चेतना से तब तक किया जाता है जब तक

कि अन्ततः उसे आनुभविक रूप से गुजरनेवाली एक वस्तु घोषित नहीं कर दिया जाता। इसी के समान एक भौतिक मनोवैज्ञानिक विधि तैत्तिरीयोपनिषद् में भी ग्रहण की गई है, और यहाँ भी, आत्मा के स्वरूप का क्रमशः अनावरण याज्ञवल्क्य की विज्ञानमाया में पहुँचकर, अन्ततः आनन्द माया की तरह विशेषित होकर पूर्णता प्राप्त करता है।

आत्मा के स्वरूप का उत्तरोत्तर निगमन

ऋग्वेद में जहाँ आत्मा वह तात्विक रूप या सामान्यतः किसी भी वस्तु के सर्वप्रधान रूप की तरह प्रयुक्त हुआ है वहीं उपनिषदों में उसे केवल मानवीय स्वरूप के अर्थों में ही ग्रहण किया गया है। आत्मा की संज्ञा एक इस प्रकार का नाम है, जिसे विभिन्न युगों में विभिन्न विषय वस्तुओं के साथ संयुक्त किया गया है। उसके विकास का, सुनिश्चित अवस्थाओं द्वारा, स्वयं अपना एक मार्ग रहा है। आत्मा के सिद्धान्त का केवल विषय वस्तु ही नवीन नहीं है बल्कि वह चिन्तन की भी एक नई विधि प्रस्तुत करता है। इस धारणा का निगमन ऊपर निर्दिष्ट एक प्रकार की भौतिक मनोवैज्ञानिक विधि के अनुसार किया गया है। यह विधि पूर्व युग की सत्तामीमांसात्मक विधि से भिन्न है। विकास की प्रत्येक उत्तरोत्तर अवस्था इसी वैज्ञानिक विधि के निरन्तर गहरे होते जाने को प्रदर्शित करती है। इस स्थल पर यह याद रखना महत्वपूर्ण है कि इस नये भौतिक मनोवैज्ञानिक विधिशास्त्र में भी, जिसकी प्रवृत्ति प्रत्येक पद पर आत्मा को अधिकाधिक सूक्ष्म बनाने की ओर अग्रसर है, पूर्वयुगीन ब्रह्म की जागतिक धारणा है और आत्मा के उसके साथ तादात्म्य को परित्याग नहीं किया गया है। आत्मा के सिद्धान्त के इस नव्य विकास में अतीत की जड़ों के साथ कोई विच्छिन्नता नहीं है, और एक बार सूक्ष्म के साथ विराट की अन्वेषित तथा न्याय युक्त ठहराई गई समतुल्यता को बाद में सदैव ही सुरक्षित रखा गया है। इस कारण आत्मा, जब कि वह विषयी की तरह सैद्धांतिक द्रष्टा है, उस समय भी जागतिक और सार्वभौम यथार्थ के साथ एक है।

आत्मा शरीर की तरह

मानव में आत्मा का तादात्म्य सर्वप्रथम शरीर के साथ किया जाता है। इस तादात्म्यीकरण के अनुसार, शरीर ही मानव का स्वरूप और संपूर्ण व्यक्तितत्व है। किन्तु शीघ्र ही यह अनुभव कर लिया जाता है कि शरीर, जो कि मरण धर्मा है और सूक्ष्म नहीं है, मानव में निरपेक्ष रूप से श्रेष्ठतम नहीं हो सकता।

आत्मा प्राण की तरह

हम, इस प्रकार, अन्वेषण के द्वितीय चरण पर पहुँचते हैं। अब यह घोषित किया गया है कि प्राण ही आत्मा है। प्राण अपेक्षाकृत अल्प विभाजनीय तथा अधिक सूक्ष्म है। वह शरीर को जीवन देता है और उसे निरन्तर गतिमय रखता है। इन्द्रियाँ प्राण के अभाव में कार्य नहीं कर सकती।[१] मनोवैज्ञानिक कारणों से भी प्राण शरीर तथा इन्द्रियों से श्रेष्ठ है। अतः प्राण आत्मा के रूप में प्रतिष्ठित होने का अधिकारी है।

उसे अमर्त्य माना गया है, तथा 'सत्यस्य सत्यम्'[२] की तरह भी प्रतिपादित किया गया है, क्योंकि वह अश्रान्त रूप से क्रियाशील और जीवनदाता है। आत्मा की तरह प्राण के इस नव्य-सत्य की जागतिक समानान्तर धारणा वायु है। और इस प्रकार प्राण वायु की धारणा में, इस अवस्था में भी, हमें प्राचीन तथा सदैव स्वीकृत सूक्ष्म और विराट के तादात्म्य के लिए नवीन विषय-वस्तु प्राप्त हो जाता है।

आत्मा प्रज्ञा की तरह

आत्मा के विषयवस्तु के विकास की तृतीयावस्था चेतन प्रक्रियाओं की एकता की एक नई पूर्वकल्पना से विलक्षण रूप से चिन्हित है। इस चरण में आत्मा को अब प्रज्ञा की तरह घोषित किया जाता है। यह प्रज्ञा सर्व ग्राहक उपकरणों के यांत्रिक एकीकरण का केवल एक आश्रय स्थान मात्र है।[३] वह उच्चतर स्थिति जहाँ चेतना की धारणा विचार की एक आध्यात्मिक क्रियात्मकता की तरह हो, अभी तक नहीं आई। इन्द्रियों की मनोवैज्ञानिक क्रियाओं का आश्रय स्थल, प्रज्ञात्मा, प्रगाढ़ निद्रा और मूर्च्छावस्था में नहीं पाई जाती जब कि मनुष्य केवल जीता है और श्वांस लेता है किन्तु ऐंद्रिक क्रियाओं के प्रति चेतन नहीं होता है।[४] किन्तु चूँकि प्रज्ञा का प्राण के साथ तादात्म्य है, इसलिए उसकी कल्पना समग्र ऐन्द्रिक क्रियाओं के केवल मिलन-स्थल की तरह ही नहीं की जाती, बल्कि उसे सदैव उपस्थित भी माना जाता है।

---

१. बृहदारण्यकोपनिषद् ६. १. ७, छांदोग्योपनिषद्, ५. १. ६

२. बृहदारण्यकोपनिषद्, २. ३. ६

३. कौषीतकि उपनिषद्, ३२,३,७

४. कौषीतकि उपनिषद्, ३४, ४, ११

आत्मा विषयी की तरह

इसके पश्चात्, आत्मा की धारणा, प्रज्ञा के सर्वमुद्राओं के पुराने रूप से भिन्न, प्रत्यक्ष के सक्रिय विषयी और एक तात्विक द्रष्टा के रूप में की जाती है। आत्मा अब आंतरिक विषयी बन जाता है जो कि स्वनिर्भर और स्वतंत्र है।[१] आत्मा विषयी की तरह प्रज्ञा से अब इतनी दूर और स्वतंत्र है कि वह एक जगत् से दूसरे जगत् में निर्बाध रूप से गतिमय हो सकती है।[२] इसकी दूसरी ओर आत्मा का स्थानीयकरण भी कर दिया जाता है, और वह न सिर्फ भेद्य 'स्व' ही रहती है, बल्कि आंतरिक स्वत्व, आंतरिक स्वामी भी बना दी जाती है।

इसके आगे इस अवस्था तक आत्मा का उपदेश भौतिक-मनोवैज्ञानिक से मनोजादुई स्तर तक विकसित हो आया है। वह जो उसे जानता है, वही हो जाता है। किसी वस्तु को जानना उसके साथ तादात्म्य स्थापित करना है। वह जो ब्रह्म को जानता है, ब्रह्म हो जाता है।[३] मैं सर्वम् हूँ। हम यहाँ यथार्थ को समझने के दो अर्थों, अर्थात् जानकर उसे समझना और ज्ञेय के साथ एक होकर उसे समझना, के तादात्म्य पर पहुँचते हैं। यह आस्था कि कोई वही हो जाता है जो वह जानता है, ब्राह्मणग्रन्थों के आदि जादुई विचारों का विकास है। यह विश्वास इस कारण न्याय-युक्त भी ठहराया जाता है क्योंकि सूक्ष्म विराट का तादात्म्यीकरण हिन्दुओं के लिए इस समय और सदैव ही मान्य है। आंतरिक आत्मा, जो कि अपूर्व रूप से चेतना है, साथ ही सर्वात्मा भी है। सभी बाह्य वस्तुएँ विज्ञानमय पुरुष से उद्भूत होती हैं, और इस कारण, अग्निस्फुल्लिंगों की तरह, सर्ववस्तुएँ तात्विक रूप से एक ही स्वभाव स्वरूप हैं। अतः आत्मा विषयी की तरह, एक व्यक्ति मात्र नहीं है, बल्कि एक निरपेक्ष प्रत्यय या सार्वभौम विषयी है।

आत्मा चित् की तरह

आत्मा पर अब तक एक अमरणधर्मा और नित्य रूप से अस्तित्ववान यथार्थ की तरह विचार किया गया है जो स्वाधिकार और निरपेक्ष रूप से अस्तित्व में है। शब्दांतर से, उसपर अब तक सत्यम् की तरह विचार किया गया है। तत्पश्चात् उस पर केवल बौद्धिक क्रियाओं के पहलू से भी विचार

१. बृहदारण्यकोपनिषद्, २१. १६
२. बृहदारण्यकोपनिषद्, ४. १. ११
३. मुण्डकोपनिषद् ३. २. १; छान्दोग्योपनिषद् २. २. १. ४

किया गया है। इस प्रकार आत्मा की धारा स्थल से सूक्ष्म, तथा सूक्ष्म से और सूक्ष्मतर में उस समय तक विकसित होती आई है, जब तक कि उसकी निष्पत्ति मनोवैज्ञानिक क्रम के अंतिम सदस्य, शुद्ध चित्, की धारणा में परिणत नहीं हो गई है।

शरीर के अन्य अंगों की मनोवैज्ञानिक और बौद्धिक प्रक्रियाओं के सम्बन्ध में आत्मा अब जब यह प्रश्न पूछती है कि 'कोऽहम्'[२] तो पाती है कि वह इन्द्रियों के व्यापारों से किसी भी तरह प्रत्यक्षरूपेण सम्बद्ध नहीं है, बल्कि वह देखने की क्रिया का द्रष्टा है, श्रवण की क्रिया का श्रवणकर्ता है, इत्यादि।[१] यह शुद्ध विषयी चेतना है, जिसे व्यक्तिगत स्व प्रत्यय से मिश्रित नहीं करना चाहिए। चित् को यहाँ अपदार्थीकरण की पवित्रता का एक रूप, एक प्रकार की धूम्ररहित अग्निशिखा, और व्यक्तिगत विचार से तादात्म्यीकृत किये जाने से अत्यन्त दूर, एक विचारातीत प्रत्यय के अर्थ में ग्रहण किया गया है।

आत्मा, इस दृष्टि के अनुसार, अब शुद्ध चित् की तरह मौलिक और आधारभूत यथार्थ है। शुद्ध चित् का यहाँ स्वतंत्ररूपेण और स्वाधिकारिक अस्तित्व है। उसके अस्तित्व पर ही सर्वदृश्य जगत्, पृथ्वी और आकाश, जीवन और प्राण की यथार्थता का अस्तित्व निर्भर होता है। सूर्य, चन्द्र, इन्द्रियों और मनस् की दृश्य यथार्थता, यदि अनभिव्यक्त भी होती है तब भी पूर्ण चेतना अस्तित्व में रहती है, वह 'स्वयम् ज्योतिः' की तरह अस्तित्व में है, जिसके प्रकाश के द्वारा ही शेष सब कुछ प्रकाशित होता है।[२]

यह जित्यात्मा, जो कि आद्योपांत शुद्ध चित् से निर्मित है, निरपेक्ष रूप से प्रकाशित होती है। नमक की डली की तरह जो कि सर्वांश में क्षार से पूर्ण होती है, आत्मा भी आद्योपांत सचेतन है।[३] इस पूर्ण और निपेक्ष चेतना का प्रधान लक्षण यह है कि, यद्यपि इसे विशेष विषयों का कोई बोध नहीं होता है और न ही यह विषयी और विषय के विभेद से विशेषित होती है तब भी इसका स्वरूप अचेतन नहीं होता। वह प्रयेसि द्वारा आलिंगित पुरुष की चेतना की तरह, बिना किसी विभेदात्मक बोधनुभव के एक अद्वैत और एकात्मक चेतना है। यह चिरन्तन और निरपेक्ष चेतना, जो कभी-कभी अपना चैतन्य खो देती सी आभासित होती है (जैसे प्रगाढ़ निद्रावस्था में) वस्तुतः उसे खोती

१. मुण्डकोपनिषद् २. १; बृहदारण्यकोपनिषद्, २.१.२०
२. छान्दोग्य उपनिषद् २, ३, ४
३. बृहदारण्यक, ४, ५, १३

नहीं है, क्योंकि वह नित्य और सदैव सचेतन रहती है। 'पश्यत् वै न पश्यति' इस स्थिति में देखते हुए भी ऐसा प्रतीत होता है कि जैसे कि वह देखती नहीं हैं। उसे कोई विशिष्ट ज्ञानानुभव नहीं होता हैं किन्तु इस कारण नहीं कि वह चेतन नहीं है, बल्कि इस कारण कि वह ज्ञानानुभाव कर सके ऐसा अन्य और भिन्न कोई भी विषय उससे नहीं है।[१] यदि आत्मा अबाध और निरपेक्ष रूपेण सचेतन नहीं है, और चेतना मध्य के अन्तरालों में वस्तुतः बुझ जाती है, तो बाद में, वह पुनः वापिस कहाँ से और कैसे आ सकती है।[२] वह देखते हुए भी न देखती हुई इस कारण प्रतीत होती है क्योंकि जब सर्व के साथ आत्मैक्य को उसके द्वारा अनुभव कर लिया गया है, और जब उससे अन्य शेष सब अशेष हो गया है, तब देखे भी तो कौन और किसे देखे।

सारांश में, आत्मा के औपनिषदिक सिद्धांत में हम एक ऐसे बौद्धिक प्रत्ययवाद के संसर्ग में आते हैं जो ऐतिहासिक रूप से सम्भवतः विश्व का सर्वप्रथम प्रत्ययवाद है। यह प्रत्यवाद सैद्धांतिक रूप से अपने विश्वासों तथा एक निरपेक्ष पूर्ण की यथार्थता, पूर्ण और नित्य चेतना के अस्तित्व की उद्घोषणाओं में भी अति दूरगामी है, जो कि शुद्ध चित् की तरह विषयी और अविषयी के विभेद से मुक्त है। यह शुद्ध और निरपेक्ष चेतना स्वयं ज्ञान की किसी क्रिया में कभी ज्ञात नहीं होती क्योंकि, ज्ञाता स्वयं जाना ही कैसे जा सकता है ?

हम बाद में देखेंगे कि विकास की पश्चात्कालीन अवस्थाओं में किस तरह, इस परम और अनुभवातीत चेतना की धारणा को आस्तिक दर्शनों में या तो सुरक्षित रखा जाता है, या पूर्णतया बहिष्कृत कर दिया जाता है।

चित् और आनन्द

परम यथार्थ का यह विशेषीकरण, जो याज्ञवल्क्य के 'विज्ञानघन' की निरपेक्ष चेतना की धारणा में परिपूर्ण होता है, और जो काल, दिक् और कार्य-कारणता की संज्ञियों से अतीत है, अभी भी सर्वान्तिम नहीं है। आत्मा की इस तार्किक मनोवैज्ञानिक गणना में, धार्मिक बोध की दृष्टि से एक अन्तराल शेष रह गया हैं, जो हमें आनन्द की तरह चेतना की धारणा के अन्तिम लक्षणों पर ले जाता है।[१] आत्मा का सत्य स्वरूप 'सच्चिदानन्द' है। चित्

१. बृहदारण्यक, ४. ३. ३२. ३३; छान्दोग्य, ४. १०. ५; तैत्तिरीय, २८. ३. ६; मुण्डक, २. २. ७।

और आनन्द की धारणाओं पर यद्यपि विभिन्न विधियों से पहुँचा गया है, किन्तु अन्त में परम गुणों की तरह उनका तादात्म्य कर दिया जाता है। शुद्ध और पूर्ण चेतना का आनन्द से भेद नहीं किया जा सकता। आनन्द वही है जो 'भूमन्' है।[१] श्रेष्ठतम आत्मा स्वयं आनन्द है, क्योंकि उसकी कोई आवश्यकता, आकांक्षा नहीं, कोई तनाव, कोई बन्धन उसमें नहीं और अन्ततः उसका कोई द्वितीय भी नहीं। ब्रह्म, अनुभवाश्रित चेतना से पूर्णतया भिन्न तथा अति चेतना की अंतिमावस्था की तरह, आनन्द का स्वरूप ही है। वह आनन्द ही है।

इस आधारभूत धारणा के इतिहास के अतीत सूत्रों को ब्राह्मणों के स्वर्ग के विचार में खोजा जा सकता है, जहाँ आनन्दवादी प्रवृति की अभिव्यक्ति सर्वोत्तम लोक, ब्रह्म लोक की धारणा में हुई है।[२] सांसारिक सुख नित्य नहीं है, क्योंकि वह क्षणिक है और पुनः दुःख की ओर वापस ले जाता है अतः स्थायी रूप से शुभ भी नहीं है। आनन्द ही केवल जीवन्त और चिरन्तन रूप से शुभ है, क्योंकि वह नित्य है।

इस सम्बन्ध में यह स्मरण रखना आवश्यक है कि पूर्ण चेतना या आनन्द का हर्षोन्माद की अनुभूति से आकस्मिक और सहज रूप से उद्‌भूत होनेवाली रहस्यमयी भावना का तादात्म्य नहीं है। आत्मा का यह अंतिम विशेषीकरण केवल उसी वैज्ञानिक एवं बौद्धिक विधि के सातत्य में निहित है जिसके द्वारा कि सर्वोच्च यथार्थ को अब तक पदशः निगमित किया गया है और जो कि पूर्णतः बुद्धियुक्त एवं विधिशास्त्रीय रूप से अन्नमय से विज्ञानमय, तथा विज्ञानमय से आनन्दमय में विकसित होता आता है।

इस स्थान पर यह प्रश्न पूछा जा सकता है कि क्या यथार्थ का आनन्द की तरह निर्देशन पूर्णतया अंतिम और परम है और यदि ऐसा है तो अन्य स्थलों पर पुनः पुनः दुहराये गये उसके अनिर्वचनीय वर्णन से इस तथ्य की समन्विति कैसे बैठेगी ? क्या यह नहीं हो सकता है कि आनन्द भी बस आवरणों में एक आवरण हो, एक अवस्था मात्र, यद्यपि वर्णनीय अवस्थाओं में सर्वान्तिम जिसके पार उसका किसी वस्तु की तरह कोई वर्णन नहीं हो ? या फिर विरुद्ध गुणों द्वारा ही उसका निर्देश सम्भव है। आनन्द की अवस्था आखिरी और आत्यंतिक है, किन्तु वर्णनीय अवस्थाओं में ही केवल वह अन्तिम

१. छान्दोग्य ७. २३. १. ७. २४. १।
२. बील हेमन।

है, जिसके बाद कि मौन का वह प्रदेश शुरू होता है, जहाँ से सम्पूर्ण वाणी और मनस् को वापिस लौट आना पड़ता है। परम् सत् के स्वरूप के सम्बन्ध में औपनिषदिक् अन्वेषण की प्रवृत्ति उसका धनात्मक रूप से आनन्द की तरह वर्णन करने के बजाय उसकी सुनिश्चित विधेयकता की अक्षमता निर्दिष्ट करने की ओर ही अधिक है। क्रमागत चिह्ननिर्धारणों में आनन्द को प्रतीकात्मक रूप से सर्वोच्च सत् की ओर केवल एक इंगित की तरह ही समझना चाहिए जिसके साथ ही विधेयकता का सीमांत हो जाता है। यह इस कारण नहीं समझना चाहिए कि यह निर्देश के योग्य सर्वोच्चतम अवस्था है, बल्कि इस कारण कि इससे उच्चतर अवस्था अब किसी भी रूप में अवर्णनीय है। यह उसी तरह है जिसे बाद में अरुन्धती प्रदर्शन न्याय के सूत्र की तरह जाना गया है, जिसमें अरुन्धती के प्रदर्शन के हेतु, सर्वप्रथम उसके निकट के चमकीले तारे को दिखाया जाता है, फिर उससे निकटतर को और इसी तरह आगे भी जब तक कि अरुन्धती का पूर्ण ज्ञान नहीं हो जाता है। आनन्द इस तरह हमारे अनुभवमूलक ज्ञान की आत्यंतिक या सीमांत रेखा है, न कि उस परम सत् की जो कि सीमाओं में सर्वान्तिम सीमा के भी अतीत है। उपनिषद् हमें चेतना के उस सिद्धांत का उपदेश करते हैं, जो कि चेतना की उस अवस्था में इतनी बिभिन्न है जो कि आनन्द के अनुभव और योग में समर्थ हो सकती है। किसी नाम से उसका निर्देश भी नहीं किया जा सकता है। यह आनन्द इस प्रकार की सत्ता का है जिसे कि किसी भी प्रकार का भावानुभव या बोध नहीं है, और जिसे कि आनन्द के बजाय शांति से ही कहीं अधिक उचित रूप से व्यक्त किया जा सकता है। ऋषि ने निम्न वाक्य में यही बात प्रगट की है "मैं तो वस्तुतः तुम्हें उपदेश दे रहा हूँ, पर तुम समझ ही नहीं पा रहे हो। मौन या शांति ही आत्मा है।"[१]

यह स्पष्ट है कि इस प्रकार की निरपेक्ष चेतना को किसी भी अनुभवमूलक अर्थ में आनन्द नहीं माना जा सकता है। आनन्द नहीं का पद केवल यह निर्दिष्ट करने के हेतु ही प्रयुक्त हुआ है कि परम सत् का स्वरूप ऋणात्मक नहीं, धनात्मक है। परम यथार्थ सच्चिदानन्द है। वह सत् है क्योंकि वह अपरिवर्तनीय है। वह चित् है अर्थात् वह अचित् या जड़ नहीं है। वह आनन्द है अर्थात् उसका स्वरूप दुःख या असामञ्जस्य का हो सकता है, क्योंकि सर्व

---

१. कठोपनिषद् २. १४; छान्दोग्य ३. १४. ३; कौषीतकी ३. २०; बृहदारण्यक, ३. ८. ८; प्रश्नोपनिषद्, ४।

निषेधों के आधार को किसी भी तरह विधेय में ही होना चाहिए। किन्तु ब्रह्म का सच्चिदानन्द की तरह यह वर्णन भी किसी प्रकार से अपूर्ण है। क्योंकि, वह केवल श्रेष्ठतम सम्भवनीय रूप से ही परम यथार्थ की अभिव्यंजना करता है।

इस तरह न सत्, न असत् की वैदिक धारणा से प्रारम्भ करके और फिर उसके अन्न, जीव, मनस्, चित् और अन्ततोगत्वा आनन्द की तरह क्रमागत नामांकनों के बाद हम उपनिषदों में पुनः न सत्, न असत्, की धारणा पर वापिस लौट आते हैं। यह वह अन्तिम ऊँचाई है जहाँ से सम्पूर्ण बौद्धिक निर्वचन सबल रूप से यह सुझाते हुए वापिस लौट आता है कि इस अवस्था के पार सत् का अनुभव केवल अति बौद्धिक साधनों से ही किया जा सकता है और युक्तिकरण ज्ञान की अत्यंतिक सीमा-अवस्था नहीं है।

सरांश में, यदि हम ऋग्वेद से उपनिषदों तक के दार्शनिक विमर्शों पर एक पुनर्दृष्टिपात करें तो हम चेतना के स्वरूप के सम्बन्ध में निम्न क्रमागत उपलब्धियों को प्राप्त करते हैं।[१]

१—विश्व के आधारभूत सिद्धांत के एकत्व की स्वीकृति। यह सिद्धांत विश्व में अन्तरस्थ तथा सर्वातिरिक्त दोनों ही है।

२—इस सिद्धान्त का वाह्य जगत् से मानव के अन्तर जगत् में समग्ररूपेण परिवर्तन।

३—वाह्य विश्व के विराट से अन्तर के सूक्ष्म का पूर्ण तादात्म्यीकरण।

४—इस सिद्धांत के स्वरूप की पूर्ण चेतना के रूप में स्वीकृति जो कि सर्वव्यापक, अपरिवर्तनीय तथा चिरन्तनरूप से वर्तमान हैं।

५—इस पूर्ण चेतना के अनुभव-विरपेक्ष स्वरूप पर विशेष बल, जो कि आनुभविक जगत् के किसी भी ज्ञात पदार्थ से सर्वथा असमान है और जो बाद में विकसित होनेवाले सांख्य योग तथा अद्वैत वेदांत की चेतना की अनुभवातीत धारणाओं के लिए आधार-शिला प्रस्तुत करता है।

उपनिषदों तथा सांख्य योग और अद्वैत वेदांत की दर्शन प्रणालियों में भी चेतना की धारणा तथा उसका प्रतिपादन एक ऐसी स्वनिर्भर और नित्य सत्ता के रूप में हुआ है जो पूर्णतया विभेदरहित है, समग्र रूप से अक्रिय है, विशुद्ध 'ज्ञ' की तरह अस्तित्व में रहने में समर्थ है, विषय वस्तु-रहित शुद्ध

१. शांकरभाष्य ३. २. १७।

प्रकाश है, अनुभव से अप्रभावित है और तब भी आश्चर्यजनक रूप से सर्वानुभव के लिए अधारभूत है। चेतना या स्व के आधारभूत स्वरूप का यह सिद्धांत दर्शनों के लिए एक महत्वपूर्ण वसीयत रही है, जिससे उन्होंने चेतना के स्वभाव और क्रियात्मकता के सम्बन्ध में कभी-कभी तो अत्यन्त विरोधी सिद्धांतों को भी निगमित किया है। उदाहरणार्थ, कणाद और गौतम, अनुभवातीत चेतना की धारणा के विरुद्ध, जिसने कि उपनिषदों की अंतिमावस्थाओं को चिह्नित किया है और जो आगामी अध्यायों में हमारी चर्चा की विषय वस्तु होगी, अनुभवमूलक और सापेक्ष चेतना की यथार्थता में पुनः अपनी आस्था प्रगट करते हैं।[1]

क्या सार्वभौम और पूर्ण चेतना का औपनिषदिक दृष्टिकोण अज्ञेयवादी है

चूँकि आधारभूत और निरपेक्ष चेतना को उपनिषदों ने अनिवर्चनीय घोषित किया है, इसलिए कभी-कभी यह दृष्टिकोण ग्रहण किया जाता है कि इस आत्मा का सुनिश्चित स्वरूप ज्ञात नहीं है और हम नहीं कह सकते हैं कि अन्ततः आत्मा 'ज्ञ' है या 'अज्ञ' हैं। अज्ञेयवादी दृष्टिवाले व्याख्याकार कुछ निम्न प्रकार की युक्ति अपने समर्थन में प्रस्तुत करते हैं। परम यथार्थ कुछ एक ही हो सकता है, वह या तो वर्णनीय है या अवर्णनीय है। यदि उसका रुप प्रथम की तरह है, तब उसे सुनिश्चित रुप से, शुद्ध चित् या शुद्ध आनंद की तरह वर्णित किया जाना चाहिये जिसे कि अनुभव किया तथा व्यक्ति द्वारा भोगा जा सकता है। और यदि इसके विपरीत वह अनिवर्चनीय है तब वह स्वरूपतः अज्ञेय हो जाता है और चेतन या अचेतन 'ज्ञ' या 'अज्ञ' की तरह वर्णित नहीं किया जा सकता है। इस तरह अवर्णनीय होकर वह बुद्धि युक्त विवेचना के क्षेत्र के बाहर हो जाता है। और जब कि इस पूर्ण सत् को शुद्ध बुद्धि या आनन्द की तरह विशेषित किया ही नहीं जा सकता है, क्योंकि उसमें अनुभव के लिए अनिवार्य विषयी और विषय के द्वैत की उपस्थित अन्तर्भावित है जिसका कि उपनिषदों ने आग्रहपूर्वक निषेध किया है, तब आत्मा को एक अज्ञेय वस्तु मानना होगा, एक शून्य मात्र, जिसका कि ठीक स्वरूप कभी ज्ञेय नहीं बनता।

यह सत्य है कि पूर्ण चेतना में विषयी और विषय के द्वैत के निषेध पर उपनिषद् आग्रहपूर्ण हैं किन्तु उसके शून्य या अज्ञेय कुछ होने के निषेध पर भीं उनका आग्रह समान ही है।[2] इस कारण इस स्थल पर हम उभय संभव

---

१. बृहदारण्यक २. ४. ६; ३. ७. २३; ४. ४. १६; ४. ३. ३०।

२. केनोपनिषद् १४, वह ज्ञात और अज्ञात दोनों है।

तर्क मेढ़ा-न्याय की दुविधा में फँस जाते हैं। यह प्रतीत होता है कि उपनिषद् या तो स्वयं अपने विपरीत जाते हैं या फिर अज्ञेय का उपदेश करते हैं।

इस तरह प्रश्न का रूप यह हो जाता है कि, क्या हम विभेदहीन पूर्ण चेतना की अवर्णनीयता का समन्वय, उसके स्वरूप की चित् या आनन्द की तरह की गई घोषणा से कर सकते हैं ? आत्मा, आत्यंतिक रूप से, चेतन है या अचेतन या चेतन और अचेतन दोनों है, या चेतन और अचेतन दोनों नहीं है ?

उपरोक्त उभय-संभव तर्क का उत्तर यह है कि उपनिषद् न तो स्वयं अपना विरोध करते हैं, और न आत्मा के सम्बन्ध में अज्ञेयवाद का ही उपदेश करते हैं। अज्ञेयवादी व्याख्याकार अपनी युक्ति में एक प्रच्छन्न आधार उपनय को मान लेते हैं, जो कि अनिवार्यतः सत्य नहीं है। अनुभवमूलक वर्णनीयता का विरोधी शून्यत्व नहीं है, और अनुभवातीत सत्ता, अनुभवमूलक अज्ञेयता, से इसकी असंगति भी नहीं हैं। इस अननुभवमूलक यथार्थ की सत्ता को प्रस्थापित करने के लिए ही निरपेक्ष आत्मा का सिद्धान्त उत्सुक है। अनुभव और अनुभवमूलक रूप से ज्ञेय यथार्थ सुस्पष्ट है, किन्तु वह स्व-आधारित नहीं है। उसका एक अस्पष्ट आश्रय और आधारभूत भित्ति है, जो कि अनस्तित्ववान नहीं है। केवल उस परम सत्य को अनिवार्य द्वैत के हमारे अनुभवमूलक ढाँचों में समग्ररूपेण अशेष नहीं किया जा सकता है।

इस कारण, आधारभूत परम चेतना की धारणा अज्ञेयवादी नहीं है, बल्कि यह स्वयं आलोचक की ही भूल है, जो कि वह पूर्व से ही यथार्थ के स्वरूप को निश्चयात्मक से मापने योग्य मान लेता है, जो अपने आप में एक अवांछनीय पूर्व मान्यता है, और फिर शिकायत करता है कि उसके स्व-आरोपित मापदंड से यथार्थ का माप और उद्घाटन नहीं होता है। विवेचनात्मक विचार के किसी विशिष्ट रूप में परम सत् को अनिवार्य रूप से उद्घाटन योग्य अपेक्षित मानकर हम स्वयं ही अपने आपको एक गलत स्थिति में रख लेते हैं। और, यदि कोई वैसा करता है तो उसके लिए अज्ञेयवाद अपरिहार्य ही नहीं, स्व-पुष्ट भी होगा। इस तरह अज्ञेयवाद की समस्या यथार्थ नहीं, केवल एक छद्म समस्या मात्र ही है। यह पूर्वानुमान पर आधारित एक प्रकार का हेत्वाभास है जो कि असीम को ससीम मानकर यह शिकायत करता है असीम ससीम की तरह व्यवहार क्यों नहीं करता।

ज्ञान की किसी भी क्रिया में जो वस्तु ज्ञेय बनती है, वह सीमित तथा सापेक्ष होती है, और जो कुछ भी इस तरह ज्ञेय बनता है, वह इस कारण ही अपरिसीम और निरपेक्ष नहीं रह जाता। किन्तु वह अपरिसीम और न निरपेक्ष यथार्थ ही है जो कि हमारी सापेक्ष बुद्धि की पकड़ से बच जाता है,

और जो कि ससीम की आधार और मूल भित्ति है, अत्यन्त यथार्थ है, क्योंकि अन्यथा सान्त भी यथार्थ नहीं हो सकता है। इस कारण उपनिषदिक दर्शन अज्ञेयवाद का उपदेश देने से बहुत दूर, एक नई दृष्टि का अनावरण करता है जो कि अनुभववादी के उस लघु द्वार से अत्यधिक विशाल है जिसमें से कि सापेक्ष और सान्त ज्ञान ही केवल प्रविष्ट हो सकता है और जिसके कारण कि वह निरपेक्ष और पूर्ण सत् के निषेध को बाध्य हो जाता है।

इस तरह, ज्ञेयवाद और अज्ञेयवाद यथार्थ के प्रति मानवीय रुख के दो अशेष विकल्प नहीं हैं। ज्ञेयत्व और अज्ञेयवत्व की इन दोनों अतियों के मध्य सर्वातिरिक्तवाद अनुभवातीतवाद, या आधारभूत परम चेतना का सिद्धांत है, जो कि दोनों अतिवादी दृष्टिविन्दुओं के खतरों से पूर्ण सुरक्षित है। अज्ञेयवाद को तो, वस्तुत:, अनुभववाद की अपरोक्ष उत्पत्ति मानना चाहिए। अनुभवातीत चेतना का उपदेश तथा प्रस्थापन, जिसकी संगति न्यायत: व्यावहारिक या अनुभववादी ज्ञेयता के सिद्धांतों से नहीं बैठ सकती, उपनिषदों की विशेष कीर्ति का प्रतीक है। इस कारण, यदि हम चेतना के स्वरूप के प्रति यथार्थ औपनिषदिक दृष्टिकोण को समझाना चाहते हैं, तो हमें अपने आपको निम्न भूलों से सचेत रखना अति आवश्यक हैं।

प्रथमत: यह कि व्यावहारिक रूप से अनुभूत यथार्थ ही एक मात्र यथार्थ है, और जो इस तरह अनुभवगम्य नहीं है वह अस्तित्व में ही नहीं है[1]। और द्वितीयत: यह कि निरपेक्ष एवं अनुभवातीत पारमार्थिक यथार्थ निम्नतर या व्यावहारिक यथार्थ के ही स्वरूप का है, जिससे कि वह एक साधारण विषय की तरह परिभाषा इत्यादि के साधनों से ज्ञात बन सकता है।

परम चेतना तथा परम वस्तु के निश्चित निर्वचन के इस अभाव ने, भारतीय दर्शन के बहुतेरे व्याख्याकारों को पहेलियों में भटका दिया है। डा० जौह्न्स्टन तथा ड्यूसेन जैसे सतर्क पण्डितों की व्याख्याएँ भी याज्ञवल्क्य द्वारा प्रतिपादित तथा अनन्तर अद्वैत दर्शन द्वारा विकसित अनुभवनिरपेक्ष सिद्धांत के परम स्वरूप के प्रति संदेहग्रस्त प्रतीत होती हैं। डा० जौन्स्टन सोचते हैं कि आत्मा का स्वरूप एक पहेली है, और वह न 'ज्ञ' है, न 'अज्ञ' ही है।[2] ड्यूसेन का विचार है कि आत्मा से अनात्मा के सम्पूर्ण भाव जब पृथक् कर लिए जाते हैं, तब आत्मा का जो कुछ भी शेष रह जाता है, वह चेतना नहीं

१. स्वात्मनिरूपणम्, १.१६.१६; ब्रह्म चूँकि स्वयं ही अनुभव है, इसलिए वह अनुभव का विषय नहीं है, और इस कारण किसी को यह निष्कर्ष अनुमित नहीं कर लेना चाहिए कि उसकी कोई सत्ता ही नहीं है, क्योंकि उसका अस्तित्व सदैव ही शुद्ध चित् के रूप में होता है।

बल्कि अचेतन होता है ।[१]

चेतना के परम सिद्धान्त के सम्बन्ध में, डॉ० जौहन्स्टन तथा ड्यूसेन की व्याख्याओं से दो प्रश्न पैदा होते हैं :—(१) क्या याज्ञवल्क्य के उत्तर 'न प्रेत्य' इत्यादि में कोई यथार्थ पहेली निहित है, और क्या परम यथार्थ के चेतन या अचेतन स्वरूप के सम्बन्ध में याज्ञवल्क्य के मस्तिष्क में किसी प्रकार का संदेह निहित है;—(२) क्या यह सत्य है, जैसा कि डा० जौहन्स्टन सोचते हैं कि याज्ञ-वल्क्य की उस समस्या से, जो कि निःसंदेह, जैसा कि उन्होंने उचित ही कहा है, समस्या की केन्द्रस्थ पहेली है, योग और सांख्य दर्शन पलायन कर जाते हैं, और सांख्य तथा योग दर्शन परम यथार्थ के स्वरूप के सम्बन्ध में सचेत रूप से एवं विचारपूर्वक ही निर्णय लेकर एक सुनिश्चित धारणा पर पहुँचते हैं। क्योंकि क्या याज्ञवल्क्य ठीक दूसरे ही श्लोक में यह जोड़ने की शीघ्रता नहीं करते कि उनका निश्चित रूप से किसी पहेली का अर्थ नहीं था[२] क्योंकि, यदि एक बार ही पारमार्थिक तथा व्यावहारिक यथार्थ के स्वरूप-भेद को वस्तुतः समझ लिया जाता है, तब यथार्थ में कोई भी पहेली शेष नहीं रह जाती। चेतना के ह्रास का अर्थ, वस्तुतः, उसी रूप में प्रयोजित नहीं है, जैसा कि ड्यूसेन उसे प्रयोजित मान लेते हैं। ब्रह्मसूत्र १. ४. २२ तथा बृहदा-रण्यकोपनिषद् के शंकर भाष्य से यह पर्याप्त रूपेण प्रमाणित हो जाता है। शंकर ने यह स्पष्ट ही कहा है कि चेतना के ह्रास से यह अर्थ प्रयोजित है कि 'कोई विशिष्ट चेतना अब वहाँ नहीं है' न कि यह कि 'चेतना का वहाँ संपूर्ण अन्त हो जाता है।' विशिष्ट चेतना का ह्रास तो तब भी देखा जाता है, जब कि आत्मा शरीर में ही होती है, जैसे कि प्रगाढ़ निद्रा में, किन्तु इस कारण कोई यह नहीं सोचता कि आत्मा अचेतन है। शांकर भाष्य से उद्धृत अंश केवल यही कहना चाहता है कि आत्मा के शरीर से विदा होने पर सम्पूर्ण

१. बृह० २.४.१२।

२. डा० जौहन्स्टनः अर्ली सांख्य पृष्ठ, ५५। योग और सांख्य दोनों दर्शनों ने केवल यह कहकर समस्या से बचने का प्रयास किया है, कि याज्ञवल्क्य की 'न प्रेत्य संज्ञास्ति' की घोषणा ने मैत्रेयी को आश्चर्यचकित कर दिया था, कि पुरुष जब उसका, जो बुद्धि उसके समक्ष प्रस्तुत करती है, ज्ञान बोध करता है, तब वह वास्तविक ज्ञानानुभव के बिना ही, उसे उस तरह प्रति-बिम्बित करता है कि जैसे उसे ज्ञानानुभव हो रहा है। इस कारण सुनिश्चित शब्दों में यह कहा जा सकता है कि वह पुरुष न 'ज्ञ' है न 'अज्ञ' है।

विशिष्ट ज्ञान विलीन हो जाता है, न कि यह कि स्वयं आत्मा ही विनष्ट हो जाती है। विशिष्ट ज्ञान परम यथार्थ के अज्ञान या अविद्या के साथ संयुक्त होने के कारण घटित होते हैं, और जब कि यह संबद्धता विछिन्न हो जाती है, जैसा कि प्रगाढ़ निद्रा में भी होता है, तो फिर उनके और घटित होने का कोई कारण नहीं रह जाता है। किन्तु द्रष्टा की दृष्टि-शक्ति तो नित्य है और कभी विनष्ट नहीं होती।

यह अनुभव होता है कि 'न प्रेत्य संज्ञास्ति'[१] तथा 'द्रष्टा की दृष्टि में किसी अन्तराल का कोई अस्तित्व नहीं है'[२] को समन्वित करने के कोई प्रयत्न नहीं किए गए हैं, जो कि, यदि निरपेक्ष चेतना के प्रति औपनिषदिक सिद्धान्त को ठीक से समझा जाए, तो प्रगटतः किसी तरह के विपरीत वक्तव्य नहीं हैं। विशिष्ट ज्ञान के अस्वीकार से न तो यह अर्थ उपलक्षित है कि उस अवस्था में किसी प्रकार के ज्ञान का अस्तित्व ही नहीं है, और अतएव परम सत् अचेतन है (ड्यूसेन), और न यह कि न वह चेतन है न अचेतन है (जौह्न्स्टन)। परम चेतना के स्वरूप के प्रति संदर्भित वक्तव्यों का स्पष्ट अर्थ यह प्रतीत होता है कि परम यथार्थ अनुभवात्मक रूप से अविशेष्य है, और सामान्य ज्ञान के स्तर से ली गई कोई भी धरणा उसे वर्णित करने में समर्थ नहीं है। आधुनिक विज्ञानों में हमें इसके अनेक समान द्रष्टांत मिल सकते हैं। सामान्य ज्ञान की भाषा उप-आणुविक तथा सूक्ष्म-भौतिक दृश्य जगत् को उचित रूप से व्यक्त करने, या उस दृष्टि से, परम भौतिक यथार्थ के किसी भी आधुनिक भौतिक सिद्धान्त को वर्णित करने में असमर्थ है। इसी तरह की कठिनाई या नितान्त असंभावना परम आधारभूत चेतना को वर्णित करने में भी होगी। इसलिए व्यावहारिक विचार की भाषा में परम और उच्चतम यथार्थ के वर्णन में उस प्रकार आशा नहीं की जा सकती है, जिस प्रकार कि वह किसी भी परम वैज्ञानिक घटना के सम्बन्ध वर्णन कर सकती है। दैनिक जीवन की भाषा, जो जीवन के मूलाधार में है, उसके पूर्ण वर्णन में यदि ओछी पड़ जाती है तो इसमें आश्चर्य करने जैसा कुछ भी नहीं है।

---

१. ड्यूसेनः सिस्टम आफ वेदान्त, पृष्ठ ३१५, चेतना आत्मा के स्वरूप के लिए अनिवार्य है, किन्तु यह चेतना भी मूल में काल्पनिक है, क्योंकि भारतीय विचारक प्रत्यक्षीकरण के समग्र उपकरण यंत्र को आत्मा से पृथक् करके, उसे आदमी के शारीरिक भाग से सम्बद्ध करते हैं।

२. बृहदारण्यक २.४.१३।

पाश्चात्य विचार से भिन्न, हिन्दू विचारक यह मानते हैं कि अनुभव, जो कि हमेशा ही व्यावहारिक होता है, ज्ञान की सर्वान्तिम धारणा नहीं है। हिन्दू विचार में सदैव उसकी ही खोज रही है जो कि सर्वानुभवों की पृष्ठभूमि में है और इस कारण उसे स्वयं अनुभूत हो जाने से अनिवार्यतः बच ही जाना चाहिए। अनुभव की पूर्ण पूर्वकल्पना स्वयं अनुभव की विषय नहीं हो सकती है। अनुभव लौकिक अस्तित्व से सम्बद्ध दृष्टि-विषयक यथार्थ है। उसका तात्विक स्वरूप द्वन्द्वात्मक पक्षों की अस्थिरता से संगठित है, और इस कारण उस सत्यावस्था को, जो द्वन्द्व की पहुँच से परे और अतीत है, अनुभव की आस्थिरताओं में नहीं जाना जा सकता है। बृहदारण्यक कहता है कि ज्ञाता यथार्थ में ज्ञेय हो ही कैसे सकता है।[१] उपनिषद या सांख्य योग, चाहे परम सत् की चिरन्तन पहेली को हल करने में उनकी अन्य खामियाँ या कठिनाइयाँ कुछ भी क्यों न हो, आत्मा की चेतना की समस्या से पलायन कदापि नहीं करते हैं। इसके ठीक विपरीत, यह उनकी सुनिश्चित खोज है कि पारमार्थिक यथार्थ यद्यपि चेतना के स्वरूप जैसा है, तब भी व्यावहारिक अनुभव से परे प्रयत्नों का असफल हो जाना स्वाभाविक है।

इस तरह समस्या से पलायन के स्थान पर, उनके द्वारा एक सुनिश्चित उत्तर दिया गया है कि परम आंतरिक यथार्थ को अनुभव की साधारण प्रणाली से भिन्न अन्य मार्ग द्वारा निश्चय ही अनुभव किया जा सकता है।

डॉ० जौहन्स्टन की व्याख्या से जिस दूसरे प्रश्न का उद्‌भव होता है, वह यह है कि पुरुष वस्तुतः 'ज्ञ' है या 'अज्ञ' है, जिसके जवाब में उन्होंने प्रस्तावित किया है कि वह दोनों ही नहीं है। यह उत्तर, जैसे कि परम यथार्थ से सम्बन्धित सम्पूर्ण उत्तर होना चाहिए, सही और गलत दोनों ही है। कोई, ठीक इसी तरह, यह भी कह सकता है कि वह 'ज्ञ' और 'अज्ञ' दोनों ही है। यह उत्तर कि वह 'ज्ञ' नहीं है, इस कारण सही है, क्योंकि विशिष्ट ज्ञानयुक्त होने के अर्थ में वह चेतन नहीं है; और यह वक्तव्य भी, कि वह अज्ञ नहीं है, इस अर्थ में सही है कि वह जड़ घट की तरह अचेतन नहीं है।

इस वक्तव्य का कि वह न 'ज्ञ' है, न 'अज्ञ' है, एकमात्र अर्थ यही है कि वह विचार की इन दोनों संज्ञियों से समान रूप से बाहर पड़ता है, क्योंकि ज्ञेय विषयों की भी संज्ञि के अन्तर्गत उसे नहीं रखा जा सकता है। और यदि कोई वस्तु स्वरूपतः ज्ञेय विषयों की संज्ञियों से अतीत है, तब उसके

१. बृहदारण्यक, ४. ५. १५

सम्बन्ध में उचित विधेयों का निर्माण स्वाभाविक रूप से असम्भव है। जिसका भी विचार कर पाना संभव है वह निश्चय ही ब्रह्म नहीं है।[१] किन्तु परम यथार्थ की इस अपूर्वता की चित् या 'ज्ञ' स्वरूप के साथ, पूर्णरूपेण संगति है। पारमार्थिक रूप से सत् 'ज्ञ' या चिन्मात्र है। इस तथ्य को अविराम रूप से दुहराया गया है। नित्य साक्षी या द्रष्टा या दृष्टिमात्र का केवल यही अर्थ है कि परम यथार्थ चिरन्तन रूप से सचेतन है कूटस्थ साक्षी नित्य चैतन्य स्वरूप। उसे, इस कारण ही विज्ञानघन कहा गया है।[२]

औपनिषदिक एवं सांख्य योग चिन्तन का समस्त झुकाव, निसंदिग्धरूप से आत्मा या पुरुष के परम आध्यात्मिक स्वरूप, शुद्ध बोध स्वरूप, या शुद्ध चित् को अभिव्यक्त करता रहा है। डॉ० जौहन्स्टन के वक्तव्य को कि वह न 'ज्ञ' है, न 'अज्ञ' है, उपरोक्त विवेचन के प्रकाश में इस तरह समझा जाना चाहिए कि वह केवल अनुभवमूलक रूप से ही 'ज्ञ' और 'अज्ञ' नहीं है। वस्तुतः एवं स्वयं अपने आप में वह शुद्ध चित्, शुद्ध चेतना है। वह स्वयं अपने स्वरूप में और स्वाधार पर केवल चित् शक्ति के रूप में ही अस्तित्व रखता है। वह स्वप्रकाशक है, स्वयं ज्योति है, तथा स्वबोध है।[४]

पूर्वगामी विवेचन से यह भी अनुमति नहीं किया जा सकता है कि परम यथार्थ का स्वरूप अज्ञेय है, क्योंकि उसका निश्चित ज्ञान यहाँ प्राप्त है, यद्यपि यह ज्ञान अनुभवाश्रित नहीं है। वह अप्रमेय है अर्थात् परोक्ष ज्ञान के विषय की तरह यद्यपि वह ज्ञेय नहीं है, किन्तु फिर भी ज्ञान की प्रत्येक क्रिया में लिप्त होने के रूप में वह ज्ञात भी है।

इस कारण यह निष्कर्ष कि परम चेतना का ज्ञान नहीं है, क्योंकि वह वाह्य या आंतरिक इन्द्रियों में से किसी का भी विषय नहीं है, उतना अविवेकपूर्ण नहीं है, क्योंकि प्रकाशित वस्तुएँ या रंग ही केवल देखे जाते हैं, स्वयं प्रकाश का प्रत्यक्ष कभी नहीं होता। इसके विपरीत, आत्मा का स्वरूप उनके लिए निश्चय ही सुविज्ञेय है, जिनके हृदय पवित्र हैं, और जिनके मन वाह्य विषयों के प्रति अनासक्त हो गए हैं। वस्तुतः प्रत्येक की आत्मा का अनुभवातीत स्वरूप निरन्तर अस्तित्व में रहता है, किन्तु वह केवल अज्ञा-

---

१. शांकर भाष्य ३.२.२२।

२. बृहदारण्यक ४.३.११; ४. ३. ३०; ४३. ३. २३।

३. बृहदारण्यक ४.५.१३।

४. योगसूत्र २०।

नावरण में दबा हुआ है। इस आवरण को हटाये बिना कोई भी उपलब्धि सम्भव नहीं हैं। हम शंकर के गीता-भाष्य में पढ़ते हैं कि यदि किसी का सत्वात्मा अज्ञात है, तब किसी भी वस्तु की प्राप्ति के उसके समग्र प्रयास और व्यापार अर्थहीन हो जाते हैं।[१]

इस कारण उपरोक्त विवेचन से हम यह निष्कर्ष निकालते हैं कि यद्यपि निरपेक्ष चेतना व्यावहारिक रूप से अविशेष्य है, तथापि वह अज्ञात नहीं है। उसका स्वरूप, अचित् के विपरीत, 'ज्ञ' या शुद्ध चित् का है। वह बुद्धि के परिवर्तनशील रूपों का नहीं है जिनका अनुभव कि हमें दैनिक जीवन की परोक्ष चेतना में होता है, बल्कि उस नित्य अपरिवर्तनशील और आधारभूत चित् का है जो कि संपूर्ण विभेद और अनेकत्व की आधारभूत पूर्व-कल्पना है।

१. बृहदारण्यक शांकर भाष्य, ४. ४. २०।

तृतीय अध्याय

चेतना का सत्तामीमांसात्मक स्वरूप

चेतना क्या है ?

यह प्रश्न प्रस्तुत करना आवश्यक है कि आखिर चेतना है क्या ? स्वानुभूति के परम सिद्धांतों के सम्बन्धों में पूछे गये प्रश्नों का उत्तर देना अत्यन्त कठिन कार्य है और चेतना इसी प्रकार की एक परम धारणा है। किन्तु हमें उसे किन्हीं न किन्हीं शब्दों में सोचना पड़ता है और विचार के इस या उस सामान्य वर्गीकरण में उसे द्रव्य, गुण या कर्म, किसी के अन्तर्गत रखकर विभेदित करना होता है। हिन्दू दर्शन इस परम चेतना के विवेचन को समग्र सम्भवनीय विकल्पों में प्रस्तुत करता है। चेतना को द्रव्य, गुण या कर्म और चिरन्तन एवं अपरिवर्तनीय की तरह, या फिर परिवर्तनीय और क्षणिक या पुनः, नित्य रूप से विषयी और विषय के विभेद में विभक्त तथा सदैव विषय-वस्तु सहित विभिन्न रूपों में प्रस्तुत और प्रतिपादित करता है।

इन संपूर्ण विभिन्न और विरुद्ध विचारों को यथार्थवाद और प्रत्ययवाद के दो स्थूल विभाजनों में वर्गीकृत किया जा सकता है। यथार्थवादी की मान्यता है कि चेतना का उद्भव कुछ विशिष्ट परिस्थितियों के संयोग के फलस्वरूप होता है, और संयोगावधि के अनुसार वह कम या अधिक काल तक अस्तित्व में रहती है। वह नित्य रूप से वर्तमान नहीं है, और न परिस्थितियों के संयोग से स्वतंत्र है। यथार्थवादियों के पक्ष को भी पुनः दो और उप-विभाजनों में वर्गीकृत किया जा सकता है। पदार्थवादी यथार्थवाद और आत्मवादी यथार्थवाद। पदार्थवादी-यथार्थवाद का प्रतिनिधि, चार्वाक दर्शन, चेतना को केवल पोद्गलिक द्रव्यों के संयोग-फल की तरह ही स्वीकार करता है, जब कि आत्मवादी यथार्थवाद का प्रतिनिधि दर्शन, न्याय वैशेषिक, पोद्गलिक द्रव्यों से भिन्न एक आध्यात्मिक द्रव्य, आत्मा, में भी अपना विश्वास प्रगट करता है। उसकी मान्यता है कि चेतना का उद्भव यद्यपि आत्मा के साथ मनस्, इंद्रियों और विषयों आदि के संयोग से ही होता है, तथापि उसका संस्थान केवल आध्यात्मिक द्रव्य, आत्मा में ही होता है, जिसका कि वह एक गुण मात्र है। किन्तु आत्मा भी चेतना को

निरन्तर या सदैव ही धारण नहीं करती है। क्योंकि मुक्तावस्था में वह अपने समग्र गुणों से रिक्त होती है। इन गुणों में चेतना का गुण भी सम्मिलित होता है जिसे कि वह मनस्, इंद्रियों और विषयों के साथ संयुक्त होने पर ही केवल ग्रहण करती है।

यह प्रतीत होता है कि पदार्थवादी चार्वाक न्याय-वैशेषिक यथार्थवादी के मध्य का भेद केवल उनके एक अभौतिक द्रव्य या आत्मा की धारणा के मानने या न मानने में ही सन्निहित है। इस बात में वे दोनों समानरूपेण सहमत हैं कि विशिष्ट परिस्थितियों के संयोग से पृथक चेतना का कोई अस्तित्व नहीं है, और चेतना किसी द्रव्य का केवल एक सांयोगिक गुण 'आगन्तुक धर्म' मात्र ही है। इसके ठीक विपरीत, प्रत्ययवादी अपनी आस्था एक स्वतंत्र चेतना में प्रगट करता है, जो कि एक शुद्ध विषयवस्तु रहित और रूपहीन चित्, 'ज्ञाप्ति मात्र' की तरह चिरन्तन रूप से अस्तित्व में है। उसका न सृजन होता है, न विनाश, और बिना किसी अन्य पदार्थ की सहायता के वह स्वाधिकार से ही सदैव वर्तमान रहती है। रामानुज की तरह कुछ विचारकों का विश्वास है कि चेतना चेतनात्मा का एक अविभेद्य गुण धर्म है, जब कि शंकर की तरह अन्य लोगों की मान्यता है कि चेतना आत्मा का गुण नहीं बल्कि उसका स्वरूप ही है। सांख्य योग अद्वैत वेदान्त से इस धारणा में एकमत हैं कि चेतना चिरन्तन है तथा पुरुष अविभेद्य है। इसके साथ ही वे आत्मा को स्वयंभू भी मानते हैं। उनकी दृष्टि में वह एक स्वनिर्भर यथार्थ है, जो किसी भी अन्य विषय से असदृश है। वह मात्र अस्तित्व या यथार्थता के गुण को छोड़कर सर्वगुणों में अद्वितीय है, और इस कारण द्रव्य, गुण या कर्म की भाषा में पूर्णरूपेण अवर्णनीय है। उसकी सत्ता चिन्मात्रा और सर्वचित्त के मूल स्रोत के रूप में है। वह विषयवस्तु-शून्य, शुद्ध चेतनत्व है जिसमें अहम् 'मैं' या इदम् 'यह' का कोई बोध उपस्थित नहीं होता। इस प्रकार चेतना के स्वरूप तथा अस्तित्व के सम्बन्ध में निम्नलिखित दृष्टिकोण प्राप्त होते हैं।

१—उसका कोई अस्तित्व नहीं है। चेतना की तरह जगत् में किसी वस्तु की कोई सत्ता नहीं है। यह शून्यवादी दृष्टिकोण है।

२—वह केवल पोद्गलिक द्रव्यों का एक संयोग मात्र ही है। उसका कोई स्वतंत्र अस्तित्व नहीं है। पोद्गलिक द्रव्य ही केवल स्वतंत्र रूप से अस्तित्व में है। यह चार्वाक दर्शन का दृष्टिकोण है।

३—यद्यपि चेतना की उत्पत्ति कुछ विषयों के संयोग से ही होती है, तथापि वह एक आध्यात्मिक द्रव्य का ही गुण है, और उसका संस्थापन

समवाय के सम्बन्ध से इस आध्यात्मिक द्रव्य में ही होता है। उसका जन्म होता है, उत्पत्ति होती है, तथा विनाश होता है। यह न्यायवैशेषिक यथार्थवादी दृष्टिकोण है।

४—चेतना एक चिरन्तन, शुद्ध, अविषयीकृत तथा विभेदहीन अनन्त यथार्थ है, जिसके अन्तर्गत 'अहम्' और 'अ-अहम्' के किसी भेद का अस्तित्व नहीं है। उसकी सत्ता स्वतन्त्र और स्वयम् है। अनुभवातीत तथा आधारभूत चेतना का यह सिद्धान्त शांकर वेदांत और सांख्य-योग की प्रत्ययवादी दृष्टि की अभिव्यंजना करता है।[१]

५—चेतना एक नित्य एवं चेतन द्रव्य का नित्यगुण है जो कि सदैव ही अहम् और अ-अहम् के विभेद से चिह्नांकित है। यह रामानुजीय प्रत्ययवाद का दृष्टिकोण है।

चेतना की शून्यवादी अस्वीकृति

चेतना के स्वरूप के सम्बन्ध में अन्वेषण किसी के भी लिए उसके अस्तित्व की पूर्वमान्यता आवश्यक है, क्योंकि जिसका किसी भी अर्थ में कोई अस्तित्व नहीं है, उस पर कोई भी विवेचना सम्भव नहीं हो सकती। जिस वस्तु के अस्तित्व के खंडन का प्रयास किया जाता है, उसे भी कम से कम विरोधी की यथार्थ धारणा के जगत में तो अस्तित्ववान् होना ही चाहिए। इस अर्थ में चेतना से बच पाना सम्भव प्रतीत नहीं होता, क्योंकि वह उसके अस्तित्व के खंडन के प्रयास में भी, उपलक्षित रूप से, स्वयं अपने होने को ही सिद्ध करती है। चेतना का पूर्ण अस्वीकार इस कारण स्वयं अपने आप में अविवेकपूर्ण है, क्योंकि पूर्ण अस्वीकार स्वयं अपना ही अस्वीकार करता है और उस वस्तु की स्थापना पर समाप्त होता है जिसके निषेध के लिए कि वह चला था।[२]

माध्यमिक शून्यवादी द्वारा भी चेतना का अस्तित्व अस्वीकृत किया गया है, किन्तु वह केवल सर्वयथार्थ के सामान्य निषेध के सिद्धांत के एक भाग के रूप में ही हुआ है। इस दृष्टिकोण का सचेत अध्ययन यह सहज ही स्पष्ट कर

१. शंकर वेदांत और सांख्य योग दोनों को उनके महत् विभेदों के बावजूद भी यहाँ प्रत्ययवादी के पद के अन्तर्गत वर्गीकृत इस अर्थ में किया गया है कि वे दोनों ही शुद्ध चेतना के स्वतंत्र और असृष्ट अस्तित्व में अपनी आस्था प्रगट करते हैं।

२. न्याय भाष्य, २.१.११

देता है कि चेतना के पूर्ण अस्वीकार की प्रकृत बहुत कुछ उसके अनस्तित्व के घटनात्मक ज्ञान के बजाय उसके सुनिश्चित स्वरूप के सम्बन्ध में ज्ञान प्राप्त करने के नैराश्य जैसी ही है।[१] शून्यवादी दृष्टिकोण अपने विशुद्ध निषेधात्मक रूप में परम यथार्थ के स्वरूप के सम्बन्ध में मस्तिष्क को अन्तिम शब्द की तरह आकर्षित नहीं करता। माध्यमिक दार्शनिक, जो कि चेतना के मूलाधार का ही खंडन करता है, इस तथ्य से स्वयं ही खंडित हो जाता है कि संपूर्ण अस्वीकार को अर्थपूर्ण होने के हेतु अपने तार्किक आधार की तरह किसी यथार्थ वस्तु में अवस्थित होना ही चाहिए।[२]

निषेध केवल उस स्थिति में ही सार्थक है जब उसके अतिरिक्त कुछ और भी अस्तित्व में शेष होता है; किन्तु जब प्रत्येक वस्तु का निषेध ही किया जाता है तो स्वयं निषेध भी निषेधित वस्तुओं में सम्मिलित हो जाता है। और इस प्रकार निषेध के कारण वही वस्तु यथार्थ हो जाती है जिसका कि निषेध किया गया था तथा इस प्रकार पूर्ण निषेध स्वयं ही अपने प्रयोजन को पराजित कर देता है। इस कारण ही शून्यवादी को भी कुछ का ज्ञान और यथार्थत्व मानने के लिए बाध्य होना पड़ता है।[३] उसे कम से कम यह तो कहना ही पड़ता है कि अभाव का ज्ञान यथार्थ और नित्य है।[४] और अभाव के ज्ञान को स्वीकार करना तथा साथ ही समग्र ज्ञान की यथार्थता से इन्कार करना स्पष्ट ही अविवेकपूर्ण है। इस कारण संपूर्ण विषय 'आत्मपूर्वक' है। चेतना का आस्तित्व प्रत्येक वस्तु के अस्तित्व के पूर्व हैं और इसलिए किसी भी वस्तु के स्वीकार से वह पूर्वरूपेण स्वीकृत हो जाती है। इस अर्थ में वह ज्ञानमीमांसात्मक रूप से अनुभव निरपेक्ष तथा अनिषेध योग्य है।[५]

किसी ने कभी भी चेतना का अभाव या विनाश अनुभव नहीं किया है, क्योंकि यदि किसी ने वैसा अनुभव कभी किया है तो उस अनुभव के क्षण में उसे उसकी चेतना भी अविवार्यरूपेण रही होगी।[६]

---

१. लंकावतार सूत्र, २.१७५

२. शंकर भाष्य, ३.२.२२

३. बृहदारण्यक शांकर भाष्य, ४.३.७

४. प्रश्नोपनिषद् शांकर भाष्य, ६. ३।

५. शंकर भाष्य, १.१.१

६. देवी भागवत, ७.३२.१५.१६

किन्तु, तब यह पूछा जा सकता है कि फिर चेतना का अस्वीकार क्यों किया गया है ? चेतना को स्वयं अपने चेतना के ही समक्ष प्रदर्शित देख पाने की प्रवृत्ति, चेतना के अस्वीकार का एक प्रधान कारण रही है। किन्तु चेतना की यथार्थता एक अनुभवमूलक विषय की तरह उसके अज्ञेयत्व से पूर्णतया अविरुद्ध है। वह स्वयं, जो प्रत्येक अन्य पदार्थ को उद्घाटित करता तथा वस्तुओं के समग्र जगत् को प्रकाशित करता है निश्चय ही 'यह' या 'वह' के रूप में ज्ञान-ग्राह्य नहीं हो सकता।[1] चेतना को, जिसके समक्ष कि प्रत्येक अन्य वस्तु उपस्थित होती है, स्वयं उसके ही सामने ठीक उसी तरह प्रदर्शित नहीं किया जा सकता जैसे कि कोई किसी गाय को उसकी सींग पकड़कर प्रदर्शित करता है। यह कहना कि अन्य पदार्थ तो ज्ञात है किन्तु चेतना या आत्मा ज्ञात नहीं है, उतना ही अविवेकपूर्ण है जितना कि यह कथन कि रंगों का तो अस्तित्व है किन्तु चक्षुओं का कोई अस्तित्व नहीं है, क्योंकि उनका प्रत्यक्ष कभी नहीं होता। ज्ञान के स्वरूप से ज्ञाता को विशेषित करना युक्ति-संगत नहीं है।[2]

उपरोक्त विवेचन का निष्कर्ष यह है कि चेतना को चूंकि उसके स्वरूप-विशेष, 'वस्तु स्वभाव्यात्' के कारण स्वयं उसके ही समक्ष अन्य पदार्थों की भाँति प्रदर्शित नहीं किया जा सकता है, इस कारण ही उसे अस्वीकृत नहीं कर दिया जाना चाहिए। वाचस्पति मिश्र के शब्दों में, कोई भी कभी भी स्व-अस्तित्व के तथ्य में संदेह नहीं करता है।

हम यदि इस समग्र जगत को शून्य भी घोषित कर दें तब भी उनमें स्वयं शून्य के एक ज्ञाता की पूर्व कल्पना सन्निहित रहती है।[3] 'शून्यस्यापि स्व-साक्षित्वात्'। इस आत्मा को इसकी अपरोक्ष उपस्थिति के कारण ही अस्तित्वान माना जाता है। 'अपरोक्षत्वाक् प्रत्यगात्मा प्रसिद्धः'।[4]

पौद्गलिक यथार्थवादी

चेतना को अनिषेधयोग्य तथ्य स्वीकार करने के बाद भी उसके अद्वितीय और आधारभूत स्वभाव तथा ज्ञानमीमांसात्मक प्रागनुभवता से अस्वीकार करना संभव है। इस कारण भारतीय पदार्थवाद का रुक्ष रूप, चेतना को

१. देवी भागवत, ७.३२.१५.१६
२. बृहदारण्यक, शांकर भाष्य, ३.४.१
३. राधाकृष्णन: इंडियन फिलासफी, भाग २ पृष्ठ ४७८।
४. शांकर भाष्य, १. १. १।

केवल एक दृष्टि विषयक उपघटना घोषित करता है। उसकी दृष्टि में चेतना पौद्गालिक तत्वों के सम्मिलन की उसी प्रकार एक उत्पत्ति है जिस प्रकार कुछ तत्वों के संयोग से मादकता की उत्पत्ति हो जाती है। आचार्य बृहस्पति द्वारा प्रारम्भ किया गया यह वाद सर्व सामान्य रूप से चर्वाक के नाम के साथ सम्बद्ध है। इसके अनुसार चेतना के उद्भव की व्याख्या उसी प्रकार करने का प्रयास किया गया है जिस प्रकार पान, चूने तथा कत्थे या शुभ्र और पीत रंग के संयोग से बने लाल रंग, या खांड में उत्पन्न मादकता की शक्ति की व्याख्या की जाती है।[१]

पदार्थवाद की प्रत्ययवादी आलोचना

शंकर पदार्थवादी दृष्टिकोण की आलोचना इस प्रश्न से प्रारम्भ करते हैं कि उस चेतना का स्वरूप क्या है, जिसे पदार्थवादी पौद्गलिक तत्वों से पैदा हुआ मानते हैं ? चेतना को पौद्गलिक तत्वों तथा उनसे जो कुछ उत्पादित होता है उसका प्रत्यक्षीकरण होना चाहिए, या फिर उसे पौद्गलिक तत्वों का एक गुण होना चाहिए। किन्तु दोनों ही स्थितियों में हमें कठिनाइयों का सामना करना पड़ता है।[२] क्योंकि प्रथम स्थिति में पौद्गालिक तत्व और उसकी उत्पत्तियाँ चेतना के विषय हैं, जो कि स्वयं इस कारण स्पष्टतया उनकी उत्पत्ति नहीं हो सकती। द्वितीय स्थिति में यह कहना नितांत अविवेकपूर्ण होगा कि पौद्गलिक गुण स्वयं अपने ही रंग रूप को विषयीकृत कर सकते हैं, जैसा कि प्रत्यक्षीकरण में होता है। चेतना जो कि स्वयं पौद्गलिक तत्वों की ही उत्पत्ति है, पौद्गलिक तत्वों तथा उनकी उत्पत्तियों को अपना विषय नहीं बना सकती। इस हरह का प्रस्ताव करना उसी तरह विवेकशून्य है, जैसे कि यह सुझाना कि नट स्वयं अपने ही कन्धों पर चढ़ सकता है।

इस कारण यह निष्कर्ष अनुसरित होता है कि चेतना या आत्मा को पौद्गालिक तत्वों से भिन्न एक व्यतिरेकी तत्व होना चाहिए और चूँकि वह तात्विक रूप से ज्ञान-स्वरूप उपलब्धि स्वरूप है, इसलिए भौतिक शरीर से किसी भी तृष्टि से एक नहीं हो सकती है।[३] पदार्थवादी दृष्टिकोण की यह आलोचना दो प्रत्ययवादी सिद्धान्तों पर आधरित है। प्रथमतः यह कि जो कुछ

१. द्रष्टव्यः।

२. शांकर भाष्य, ३. ३. ५. ४।

३. शांकर भाष्य, २. ३. ४० तथा ३. ३. ५४।

भी चेतना के समक्ष उपस्थित होता है, चेतना का उसके साथ तादात्म्य नहीं किया जा सकता और चूँकि पदार्थ केवल उस सीमा तक ही अर्थ पूर्ण है जब तक कि वह चेतना के समक्ष प्रदर्शित है, इसलिए चेतना को अनिवार्यतः पदार्थ से समग्ररूपेण भिन्न होना चाहिए और द्वितीयतः यह कि जो कुछ भी चेतना का विषय है, वह चेतना की उत्पत्ति में एक पूर्वगामी तथ्य नहीं हो सकता। शरीरशास्त्री के लिए जिस प्रकार मांसल स्नायुओं के द्वारा प्राणभूत प्रक्रियाओं की व्याख्या करना अविवेकपूर्ण है, क्योंकि स्नायु प्राणभूत प्रक्रियाओं को नहीं, बल्कि यह प्राणभूत प्रक्रिया ही है जो स्नायुओं की गति को संभव बनाती है, उसी प्रकार पदार्थवादी द्वारा चेतन प्रक्रियाओं की व्याख्या पौद्‌गलिक तत्वों की गति के संदर्भ में करना भी अविवेकपूर्ण है। किसी या सर्व ज्ञेय पदार्थों के संग्रह का कोई भी लक्षण चेतना में नहीं है। वह अपूर्व रूप से स्वयं और स्वयंभू है। किन्तु पदार्थवादी के लिए प्रत्ययवादी को यह प्रत्युत्तर देना तथा प्रतिपादित करना अभी भी संभव है कि उसे कोई भी कारण नहीं दीखता है कि चेतना मनोवैज्ञानिक रूप से अनुभवाश्रित होते हुए भी ज्ञानमीमांसात्मक रूप से प्रागानुभव क्यों नहीं हो सकती है।

किन्तु यह युक्ति चेतना के पूर्व भी कुछ मान लेती है. जिसे कि वस्तुओं की व्याख्या में संदर्भित नहीं किया जा सकता[१] क्योंकि वह चेतना की तार्किक प्रागनुभवता को पूर्व से ही प्रस्तावित करता है। ज्ञान के संपूर्ण विषयों का निर्धारण समय में होता है, जैसे अतीत, वर्तमान और भविष्य की संज्ञियों के अन्तर्गत, किन्तु वह स्वयं, जिसकी अपेक्षा में ये सामयिक निर्धारण सार्थक है, समयान्तर्गत नहीं हो सकता। वह एक चिरन्तन उपस्थिति सत्ता है। 'सर्वदा वर्तमानस्वभावः।'[२]

पदार्थवाद की न्याय-वैशेषिक आलोचना

न्याय भाष्य (३. २. ३५–४०) चेतना के प्रति पदार्थवादी दृष्टकोण की आलोचना प्रस्तुत करता है। उसके अनुसार चेतना, निम्न कारणों से, पौद्‌गलिक तत्वों या उनके संयोग का गुण नहीं हो सकती:—

१. क्रिया की उपस्थिति और क्रिया की अनुपस्थिति, इच्छा और अनिच्छा के सुझाव निर्देशक तत्व हैं, जिन्हें कि पुद्‌गल तत्वों के प्रति स्वीकार नहीं किया जा सकता है।

१. ए० सी० मुकर्जी: दि नेचर आफ सेल्फ पृष्ठ १३५।

२. शांकर भाष्य २. ३. ७ तथा भगवद्‌गीता शांकर भाष्य, २. १८।

२. चेतनाओं के प्रति पदार्थवादी का दृष्टिकोण प्रत्येक पृथक् शरीर में अनेक ज्ञाताओं की निष्पत्ति की ओर ले जाता है।

३. शरीर और इन्द्रियाँ किसी अन्य के उतने ही नियंत्रण में हैं जितने कि घट आदि हैं। मनस् भी स्वयं से अन्य किसी के नियंत्रणाधिकार में है, क्योंकि वह कुल्हाड़ी की तरह एक साधन मात्र से किञ्चित अधिक नहीं है। इस तरह शरीर, मनस्, और इन्द्रियां सभी किसी एक नियंत्रण के अन्तर्गत हैं, जो कि वास्तविक ज्ञाता है।[१]

पौद्गलिक तत्वों से भिन्न, पुरुष के स्वतंत्र और अपूर्व अस्तित्व के पक्ष में सांख्य कारिका भी इसी तरह के कारण प्रस्तुत करती है।[२]

चेतना के प्रति आध्यात्मिक यथार्थवादी दृष्टिकोण

न्याय-वैशेषिक या आध्यामिक यथार्थवादी का चेतना के प्रति दृष्टिकोण दार्शनिक रूप से पदार्थवादी दृष्टिकोण से मुश्किल से ही श्रेष्ठतम कहा जा सकता है। न्याय-वैशेषिक के अनुसार चेतना तात्त्विक रूप से पदार्थ की उत्पत्ति नहीं है न किसी पौद्गलिक वस्तु का गुण ही है। यह वह विलोम की प्रक्रिया द्वारा सिद्ध करने का प्रयास करता है। जयन्त अपने ग्रन्थ, न्याय मंजरी, में इस निष्कर्ष पर पहुँचते हैं कि चेतना परिशेषानुमान के अनुसार आत्मा से सम्बद्ध है। परिशेषानुमान अवशेषानुमान का एक प्रकार है[३] जिसके अनुसार कि किसी वस्तु या गुण को किसी एक विशिष्टि वस्तु से इस कारण सम्बन्धित बताया जाता है, क्योंकि वह किसी भी अन्य वस्तु से सम्बन्धित नहीं है। न्याय वैशेषिक विचारक, इस कारण चेतना को आत्मा से सम्बद्ध बताते हैं, क्योंकि वह शरीर के पौद्गलिक तत्वों में से किसी एक से या समग्र समूह से सम्बन्धित नहीं हो सकती है।[४]

आत्मा में चेतना के अधिष्ठान के निष्कर्ष पर श्रीधर भी इसी प्रकार के तर्क द्वारा पहुँचते हैं। वह प्रश्न उठाते हैं कि यदि आत्मा स्वरूपतः अचेतन है, तब चेतना को मनस्, इन्द्रियों और विषयों के किसी अन्य संयोग में अधिष्ठित न मानकर आत्मा में ही अधिष्ठित मानने का क्या कारण है।

---

१. न्याय भाष्य, २. ३. ३७. ४०।

२. सांख्य कटिका, १७. सांख्य प्रवचन सूत्र, ५. १२९. ३. २०. २२. ६. १. २.।

३. न्याय मंजरी पृष्ठ १३३ तथा न्याय कंदली, ७३।

४. न्याय मंजरी पृष्ठ ४४१।

तदन्तर वह स्वयं ही उत्तर देते हैं कि यह स्वभाव नियम के कारण हैं। चेतना की उत्पत्ति यद्यपि चारो अर्थात् मनस्, इंद्रियों, विषयों और आत्मा के ही द्वारा होती है, तथापि उसका संस्थान उसी तरह केवल आत्मा ही है, जिस तरह कपड़ा यद्यपि धागों और ढरकी से पैदा होता है तथापि उसका संस्थान ढरकी में नहीं, धागों में ही होता है। इस तरह, आत्मा यद्यपि चेतना के स्वभाव की नहीं है, तथापि चेतना का अधिष्ठान वही है।[1]

इस कारण ज्ञान मनस्, इन्द्रियों तथा विषयों के सम्मिलन से आत्मा में उत्पन्न तथा उस पर ही आधारित एक गुण है।[2]

न्याय-वैशेषिक यथार्थवाद का यह सिद्धान्त द्रव्य और गुण के अद्वैत की पूर्वमान्यता पर आधारित है। इस कारण यह स्थिति से अधिक भिन्न नहीं है, क्योंकि चेतना की धारणा का प्रतिपादन इसके अन्तर्गत भी परिस्थितियों के एक उपयुक्त संयोग पर निर्भर एक उत्पत्ति मात्र की तरह किया गया है।[3] इसके अतिरिक्त, न्याय वैशेषिक के अनुसार चूंकि चेतना और आत्मा में कोई अविच्छेद्य सम्बन्ध नहीं है, इसलिए चेतना की उत्पत्ति के पूर्व तथा पश्चात् आत्मा चेतना के बिना भी अवशिष्ट रह सकती है।

आचार्य कणाद का कथन है कि चेतना का उद्भव उसी तरह होता है जैसे कि घट में अग्नि के सम्पर्क से लाल रंग पैदा होता है। 'अग्निघट संयोजक रोहितादि गुणवत्।'[4]

इस तरह न तो चार्वाक पदार्थवादी और न न्याय-वैशेषिक आध्यात्मिक यथार्थवादी विचार या ज्ञान के तत्वतः स्वतंत्र और चिरन्तन स्वरूप को अपना दृष्टिकोण बनाते हैं। इसके विपरीत वे उसकी धारणा एक सांयोगिक उत्पत्ति तथा परतंत्र गुण मात्र की तरह ही करते हैं।

निष्कर्ष रूप में चेतना के स्वरूप के सम्बन्ध में न्याय-वैशेषिक स्थिति की निम्न विशेषताएँ ध्यान देने योग्य प्रतीत होती हैं :—

१—कि चेतना का अस्तित्व परतंत्र है और वह स्वरूपतः संयोग की एक यांत्रिक उत्पत्ति मात्र तथा क्षणिक या अनित्य है।

---

१. न्याय कंन्दली पृष्ठ ६७।

२. न्याय भाष्य ३.२.१२.४१ तथा वैशेषिक भाष्य १.१.६ जहाँ चेतना की गणना एक गुण की तरह की गई है। न्याय कंदली ५७।

३. न्याय सूत्र १.१.४।

४. शंकर भाष्य २.३.१२

२—कि चेतना के स्वरूप की न्याय वैशेषिक गणना में आत्मा अन्ततः अचेतन या जड़ वस्तु हो जाती है।

३—कि अन्य विषयों के मध्य चेतना की स्थिति इसके सिवाय किसी भी रूप में अपूर्व या अद्वितीय नहीं है कि वह अन्य पदार्थों को अभिव्यञ्जित और प्रकाशित करती है, किन्तु उसका स्वयं का स्वरूप स्वप्रकाशित या स्व-स्थापित नहीं है। वह न स्वतः प्रकाश है, और न स्वतः सिद्ध है।

चेतना के स्वरूप के सम्बन्ध में चरक का दृष्टिकोण

चेतना के सम्बन्ध में आचार्य चरक का दृष्टिकोण जैसा कि चरक संहिता में प्राप्त है तथा जैसी कि चक्रपाणि द्वारा उसकी व्याख्या की गई है, किंचित् नवीन प्रतीत होता है। यद्यपि सूत्र और शरीर स्थान में व्यक्त चेतना का दृष्टिकोण पूर्णरूप से विकसित नहीं है, तब भी हमें यहाँ कुछ मौलिक सुझाव प्रस्तुत करने का प्रयास देखने को मिलता है। चरक के अनुसार आत्मा स्व-रूप में निष्क्रिय है। वह न शुद्ध चित् है, न शुद्ध आनन्द है। मनस् के साथ अनवरत साहचर्य के कारण ही वह चेतन और ज्ञाता है। यह साहचर्य ही उसमें क्रियात्मकता का जन्मदाता भी है। किन्तु इसके साथ ही आत्मा को सर्वदा ही चेतनत्व की एक रूपहीन उपस्थिति से युक्त माना गया है। इस कारण चरक के दृष्टिकोण को किसी भी अन्य आस्तिक दर्शन में रखना कठिन है। यह विचार कि आत्मा मनस् के साथ संयोग के कारण चेतन है, न्याय-वैशेषिक दृष्टिकोण के अति निकट आता है, किन्तु न्याय-वैशेषिक में आत्मा मनस् के सम्पर्क में सर्वदा नहीं रहती है और इस कारण वह सदैव चेतन नहीं होती, जब कि चरक के अनुसार चेतन 'अनादि' है। इस दृष्टिबिंदु में निस्सन्देह ही वेदांत और सांख्य की झलक है, यद्यपि सविस्तार विवरण का यहाँ अभाव है। इस तरह चरक का दृष्टिकोण यथार्थवादी न्याय-वैशेषिक और प्रत्ययवादी सांख्य तथा वेदांत के मध्य में स्थित है।

इसमें कोई संदेह नहीं है कि चरक ने, न्यायवैशेषिक मत के विरुद्ध, चेतना के स्वतंत्र और असृष्ट स्वभाव को स्वीकार किया है; किन्तु वह इसे मनस् के सम्पर्क के बिना स्वीकार नहीं कर सके, जिसके कारण दोनों के सम्पर्क को नित्य मानना उनके लिए आवश्यक हो गया। यह मत ग्रहण नहीं किया जा सकता कि चेतना, जो कि एक अनादि चेतन द्रव्य है, किसी अन्य द्वारा सृष्ट है। हाँ, यह अन्य स्रष्टा यदि स्वयं आत्मा या चेतना ही हो तो हम सहमत हो सकते हैं।[1]

---

१. द्रष्टव्यः चरक संहिता, १.११.१३

इस वक्तव्य का अन्य वक्तव्यों से सामञ्जस्य बिठाना कठिन है, उदाहरणार्थ कि आत्मा अचेतन द्रव्य है, तथा शक्तियाँ और इन्द्रियाँ चेतना के अस्तित्व के कारण हैं।[१] एक ओर तो यह कहा गया है कि आत्मा नित्य है और यह सम्भव नहीं है कि किसी समय चित् की कोई धारा अस्तित्व में नहीं थी वहीं दूसरी ओर यह भी कि अन्तिम अवस्था में सर्वचेतना मूलतः ही समाप्त हो जाती है। आत्मा इंद्रियों से संयोग के फलस्वरूप ज्ञाता है। जब इन्द्रियाँ असंयुक्त रहती हैं, तब ज्ञान का उद्भव नहीं होता।[२]

यह प्रतीत होता है कि चरक के अनुसार, अनुभव तथा क्रियात्मकता तथा जो कुछ भी दृश्य जगत् के अन्तर्गत है, सभी के आधार में सम्पर्क का सिद्धांत निहित है। सम्पर्क के सिद्धान्त का स्थान चरक में अन्य दर्शन-प्रणालियों की अपेक्षा अत्यधिक महत्वपूर्ण है। आत्मा को उसकी विशुद्धावस्था में अक्रिय माना गया है, किन्तु सम्पर्क से सब का उद्भव होता हैं; उसके अभाव में कुछ भी नहीं हो सकता है।[३] यदि सम्पर्क के अभाव में कुछ भी नहीं हो सकता है तब स्वभावतः चेतना का अस्तित्व भी सम्पर्क के ही कारण होना आवश्यक है। किन्तु, चूँकि चेतना अनादि है, इसलिए सम्पर्क को भी नित्य उपस्थित की तरह प्रस्तावित किया जाना आवश्यक दीखता है। और इसी कारण, हमें बताया गया है कि सम्पर्क आदि हीन हैं। और केवल उस समय ही समाप्त होता है जब आत्मा उसके स्वरूप की श्रेष्ठतम पवित्रता को प्राप्त कर लेती है।

इस तरह हम देखते हैं कि चरक का दर्शन अभी चेतना की नित्यता तथा सम्पर्क के सिद्धान्त के मध्य निर्णीत होने के संघर्ष में ही पड़ा हुआ है, और एक या दूसरे के पूर्ण विभाजन में अभी तक विभक्त नहीं हो सका है। पहले दृष्टिविन्दु पर जोर वेदांत के स्वतंत्र्य या सांख्य योग के केवलत्व में निष्पन्न होता है, जब कि सम्पर्क के सिद्धांत पर वैसा ही जोर चेतना को कुछ तथ्यों के संयोग की कृपा पर उत्पादित एक वस्तु मात्र के स्तर पर ले आता है। वह आत्मा द्वितीय स्थिति में अपनी नित्यता तथा स्वतंत्रता खो देती है, जैसा कि न्याय-वैशेषिक के साथ वस्तुतः घटित होता है।

१. चरक संहिता, सूत्र १.५५।

२. चरक संहिता शरीर १.५२।

३. शरीर १. ५५

यथार्थवादी की प्रत्ययवादी आलोचना

चेतना के न्याय-सिद्धांत की प्रत्ययवादी आलोचना, आत्मा और ज्ञान के सम्बन्ध या समवाय-सम्बन्ध के न्याय-सिद्धान्त के ऊपर आक्षेप पर ही मुख्यतः आधारित है। न्यायानुसार आत्मा 'चिद्धर्मः न तु चित् स्वभावः' है, तथा नित्य आत्मा ज्ञान के अनित्य धर्म का धर्मी मात्र है। आत्मा और ज्ञान के मध्य द्रव्य और गुण का यह सम्बन्ध प्रत्ययवादी को स्वीकार नहीं है। न्याय द्वारा प्रस्तावित, द्रव्य और गुण, गुण और गुणी, या धर्म और धर्मी के मध्य एक पूर्ण और कठोर विभाजन को प्रत्ययवाद स्वीकार नहीं करता है। आचार्य शंकर के अनुसार, समवाय सम्बन्ध में किसी को या तो यह मानना पड़ेगा कि एक सम्बन्ध दूसरे सम्बन्ध के द्वारा सम्बन्धित है और तब वह दूसरा सम्बन्ध भी किसी तीसरे सम्बन्ध से ही सम्बन्धित हो सकेगा जिसकी समाप्ति अनवस्था प्रसंग में होगी या फिर यह स्वीकार करना होगा कि सम्बन्ध जिन पदों को जोड़ता है वह स्वयं उनसे किसी सम्बन्ध से सम्बन्धित नहीं होता जिसका फल उस सम्बद्धता का ही विनाश होगा जो दो पदों को जोड़ता है।[१] और इस कारण, शंकर के अनुसार, स्थायी आत्मा और अस्थायी चेतना के मध्य समवाय-सम्बन्ध का सिद्धान्त सन्तोषजनक नहीं माना जा सकता। न्याय-वैशेषिक दर्शन हमारे ज्ञान में अन्तर्भावित एक स्थायी सिद्धांत की आवश्यकता का तो अनुभव करता है, किन्तु उसे यह भी अनुभव करना चाहिए कि ज्ञान या आत्मा के इस सिद्धान्त का केवल स्थायीरूप से उपस्थित होना ही नहीं, बल्कि स्थायीरूप से सचेतन होना भी आवश्यक है, अर्थात् उसके चेतनत्व को उसका अविच्छेद्य स्वरूप होना चाहिए।

शांकर वेदांत, समवाय-सम्बन्ध को अस्वीकार करने के पश्चात्, उसके स्थान में आत्मा और चित् के मध्य तादात्म्य या एकरूपता के सिद्धांत को प्रस्थापित करता है। उसकी युक्ति है कि चित् और आत्मा के बीच का सम्बन्ध या तो विभिन्नता का होगा या एकरूपता का या एकरूपता और विभिन्नता दोनों का। आत्मा और चित् यदि पूर्णतया विभिन्न है तब उनमें द्रव्य और गुण का सम्बन्ध नहीं हो सकता। संयोग के वाह्य सम्बन्ध के द्वारा भी उन्हें सम्बद्ध नहीं किया जा सकता क्योंकि वे पौद्गलिक वस्तुएँ नहीं हैं और अनवस्था दोष के कारण समवाय का आंतरिक सम्बन्ध भी उनके मध्य नहीं हो सकता। इस तरह, आत्मा और चित् भिन्न नहीं हो सकते। यह कहना कि वे विभिन्न और एकरूप दोनों ही हैं, स्व-विरोधी वक्तव्य देना है, और

१. शांकर भाष्य २.२ १३; गौडपाद कारिका शांकर भाष्य २.५।

यदि दोनों एकरूप हैं तब यह कहने में कोई अर्थ नहीं है कि एक दूसरे का गुण है। इस कारण, शांकर-वेदांत का निष्कर्ष यह है कि चित् और आत्मा तादात्म्य रूप हैं :—'आत्मचैतन्योर् अभेद:' ।

विद्यारण्य का कथन है कि चेतना और आत्मा का समान तथा एक ही होना आवश्यक है, न कि विभिन्न, जैसे कि न्याय तथा प्रभाकर सम्प्रदाय द्वारा माना गया है। कोई भी गुण द्रव्य के उद्भव से भिन्न और पृथक् उद्भूत नहीं होता। वह उसी तरह पैदा होता है जैसे कि ज्वाला की दीप्ति ज्वाला के साथ ही पैदा होती है।[१] आत्मा और ज्ञान के मध्य किसी वास्तविक विभेद को नहीं माना जा सकता है, क्योंकि अन्यथा इस प्रकार की अभिव्यक्तियों को कि 'यह मेरे द्वारा ज्ञात हैं' गौण तथा लक्षणात्मक रूप से ही समझा जा सकेगा। अग्नि और उसकी दीप्ति के गुण यदि एक ही और तादात्म्यक् न होते, तब यह कहना कि यह अग्नि से प्रकाशित है, शाब्दिक अर्थ में सत्य नहीं हो सकता था, बल्कि उसे इन अर्थों में विशेषित करना होता कि यह वस्तु काष्ठ से प्रकाशित है।[२] ज्ञान और आत्मा के सम्बन्ध के सम्बन्ध में भी यही सत्य हैं। कोई भी यह नहीं कहता है कि किसी विषय को आत्मा के ज्ञात गुण से जाना जाता है। यह आपत्ति भी नहीं उठाई जा सकतीं कि ज्ञान आत्मा से इस कारण तादात्म्यक् नहीं हो सकता क्योंकि जहाँ ज्ञान अनवरत रूप से परिवर्तित होता रहता है वहीं आत्मा निरन्तर रूप से स्व-समान ही बनी रहती है, क्योंकि, ज्ञान की भाँति ज्ञान की विभिन्न स्थितियों में भी कोई भेद नहीं होता। ज्ञान का स्वरूप तो सर्वदा एक ही होता है, परिवर्तित तो केवल विषय-वस्तु ही होती रहती है।[३] इस तरह, ज्ञान के पैदा होने तथा विलीन होने की समग्र प्रक्रिया को स्व-समान तथा एक ही चेतना के विभिन्न विषयों से सम्बन्धित होने के तथ्य से समझाया जाना आवश्यक है।[४] हम जब भी ज्ञान के उत्पन्न तथा विलीन होने की चर्चा करते हैं, तब हम यह भूल जाते हैं कि हमारा अर्थ स्वयं ज्ञान से नहीं बल्कि केवल ज्ञान के विषय-वस्तु से ही है, क्योंकि चेतना

---

१. विवरण प्रमेय संग्रह ५८

२. विवरण प्रमेय संग्रह ५८ विवरण प्रमेय संग्रह ५७

३. विवरण प्रमेय संग्रह ५८

४. विवरण प्रमेय संग्रह ५८

के अस्तित्व का स्वयं कोई पूर्वगामी अभाव नहीं हो सकता, कारण कि वे सारे कार्य जिनका कि पूर्वाभास पाया जाता है, चेतना के ही विषय होते है।[1]

इस कारण, आत्मा और चेतना को एक मानना आवश्यक है। व्यावहारिक सुविधा की दृष्टि से, उस सीमा तक जहाँ तक हम चेतना का उपयोग आत्मा और विषयों के सम्बन्ध को निर्दिष्ट करने के लिए करते हैं, दोनों के बीच विभेद मान लिया गया है। किन्तु यह विभेद मात्र व्यावहारिक है, और उस समम तक ही उचित है जब तक हम सरल रूप से ही उसका प्रयोग करते हैं और उस पर जोर नहीं देना चाहते,[2] जैसे कि हम वृक्षों की निकटता को पृथक बताने के लिए वन का प्रयोग करते हैं, किन्तु उनके सम्बन्ध को अस्पष्ट ही छोड़ देते हैं। चेतना को या तो आत्मा से पूर्णरूपेण अविच्छेद्य या फिर पूर्णरूपेण अनस्तित्ववान मानना आवश्यक है।[3] यह कहना कि चेतना एक नित्य द्रव्य का अनित्य गुण है, व्यर्थ है, क्योंकि वह तर्क और आलोचना के समक्ष ठहरने में समर्थ नहीं है। यह निश्चय ही आश्चर्यजनक है कि आत्मा को, जो कि चेतना का आधार है, स्वयं अपने ही अस्तित्व की अभिव्यक्ति के लिए अपने ही गुण पर निर्भर होना आवश्यक है।

ज्ञान की निरन्तर परिवर्तित होती स्थितियाँ और आत्मा का एक अपरिवर्तनशील ज्ञान का सिद्धान्त, अनुभव में अन्तर्भावित दो अनिवार्य तत्व प्रतीत होते हैं। इन दोनों के मध्य का सम्बन्ध ही विवाद का प्रमुख विषय है। निष्कर्ष रूप में यह प्रतीत होता है कि ज्ञान को पूर्णतया व्यवस्थित करने के लिए और न्याय वैशेषिक यथार्थवाद द्वारा प्रतिपादित आत्मा और चेतना के सम्बन्ध पर पहुँचना आवश्यक है। अचेतन आत्मा के सिद्धान्त में, जिसमें आत्मा अपनी ज्ञान यात्रा पर कोरी तख्ती की तरह अग्रसर होती है और अपने सम्पूर्ण बौद्धिक साज-बाज के लिए ज्ञान के विशिष्ट और अस्थायी टुकड़ों पर निर्भर करती है, हमें सार्वभौम धारणाओं के ज्ञान, या सम्बन्धों, या आत्मा की वैयक्तिक एकरूपता, किसी की भी सन्तोषजनक व्याख्या प्राप्त नहीं होती। आत्मा की अचेतन नित्यता ही वह सब कुछ है जिसे प्रतिपादित करने के लिए न्याय अतिशय चिंतित है, किन्तु एक अचेतन आत्मा तथा आत्मा में बाहर से उत्पन्न ज्ञान, घटनाओं की क्षणिक

---

१. विद्यारण्य द्वारा उद्धृत

२. सुरेश्वराचार्य का कथन

३. नष्कर्म्य सिद्धि २. ५६

और रुकावटपूर्ण धारा से हम ज्ञान की व्याख्या करने में किसी भी तरह सफल नहीं हो सकते।

इस स्थल पर हम ज्ञान की स्थितियों और संभावनाओं के विस्तृत विवेचन में प्रविष्ट नहीं हो सकते। इसलिए इतना इंगित करना ही यहाँ यथेष्ट है कि ज्ञान के एक सन्तोषप्रद सिद्धान्त के लिए चेतना की नित्यता, आत्मा की नित्यता के सदृश ही, आवश्यक और न्याय दर्शन के मूल ज्ञान को उसके संगठक अनिवार्य तत्वों में से केवल एक से समझाने के प्रयास में निहित है।

अद्वैत दर्शन की यह आग्रहपूर्ण मान्यता है कि आत्मा को ही केवल निय नहीं होना है, बल्कि चेतना की नित्यता भी धारण करना उसके लिए आवश्यक है, क्योंकि अन्यथा, वह अनिवार्य रूप से प्रकृति के एक अचेतन सिद्धान्त मात्र में परिणत हो जायगी। पारमार्थिक दृष्टि से चेतना और आत्मा में कोई भेद करना सम्भव नहीं है, जिसे कि व्यावहारिक रूप से, चेतना के परिवर्तनमय तथा अपरिवर्तमय द्वि-अभिनय के अनुसार ग्रहण करना होता है। इन तरह, अद्वैतानुसार चेतना को आत्मा का विच्छेद्यनीय गुण किसी भी रूप में नहीं बनाया जा सकता है।

चेतना के स्वरूप के प्रति प्रत्ययवादी दृष्टिकोण

चेतना की यांत्रिक उत्पत्ति तथा परनिर्भर गुण के यथार्थवादी दृष्टिकोण के विपरीत हमें वेदान्त और सांख्य योग का प्रत्ययवादी या अनुभवातीत दृष्टिकोण प्राप्त होता हैं, जिनके अनुसार चेतना न तो किसी सम्पर्क की उत्पत्ति है, और न आत्मा का गुण ही है। इस दृष्टि-विन्दु के अनुसार चेतना आत्मा का मूल तत्व है, वह उसका धर्म नहीं, स्व-रूप है। वह स्वयं अपने अधिकार पर स्वतंत्ररुपेण अस्तित्ववान है। आत्मा ज्ञान की क्रिया का कर्त्ता नहीं है, बल्कि स्वयं ज्ञान ही है। इस कथन में कि वह जो चमकता है, सूरज है जिस तरह वस्तुतः यही अर्थ प्रयोजित है कि ज्ञान आत्मा की क्रिया मात्र नहीं है, बल्कि वह उसका आंतरिक स्वरूप ही है।[१]

सांख्य का पुरुष भी, इसी तरह, केवल चेतनत्व है। वह एक अस्तित्ववान वस्तु है। वह न उत्पादित है, न किसी कारण का कार्य है, बल्कि अपने स्वाधिकार से ही यथार्थ है। वह न कोई भ्रांतिजन्य धारणा है और

१, छांदोग्य ८. १२. ५. शंकर भाष्य

न मात्र सैद्धान्तीकरण है। वह साकार है किन्तु अनुभव-निरपेक्ष है।[१] वह सर्वप्रकाश और चित् के एक अपरिवर्तनीय सिद्धान्त की तरह, जिसमें कोई परिवर्तन, क्रिया, या सुधार सम्भव नहीं है, नित्यरूप से सत्तावान है।[२]

प्रत्यवादी की अनुभवातीत चोतना को स्वयं उसके परिवर्तित रूपों से पृथक् करना आवश्यक है। बुद्धि चेतना के इन रूपों—भेदों का सिद्धान्त है। यह बुद्धि, या रुपांतरित चेतना ही ज्ञाता, ज्ञेय और ज्ञान के सामान्य विभेदीकरण का स्रोत है। ज्ञाता, ज्ञेय और ज्ञान के सामान्य भेदों में चैतन्य का विभाजन, जिसे कि अनुभववादी भूल से चेतना का परम स्वरूप ही समझ लेता है, केवल रूपांतरित चेतना (चित्तवृत्ति) का ही स्वभाव है। बुद्धि के सत्व में परम चेतना का प्रतिफलन इस विभेदीकरण का कारण है। यह विभेद स्वयं चेतना या चिन्मात्र के स्वरूप का अंग नहीं है। उसका सम्बन्ध केवल बुद्धि से ही है और इस कारण ही उसे गुहा कहकर सम्बोधित किया गया है।[३] ज्ञान को केवल ज्ञाता से सम्बद्ध प्रतिपादित किया गया है, क्योंकि ज्ञाता का ज्ञान से पृथक् या भिन्न कोई अस्तित्व नहीं होता है।[४]

यह चेतना या ज्ञान, जो कि आत्मा का स्वरूप है, विभेदनीय गुण या क्रिया के स्वभाव का नहीं है। केवल भाषा की आवश्यकता के अनुरूप ही सूरज के चमकने की स्थिति की तरह हम उसका वर्णन विषयी के ज्ञान के रूप में करते हैं। किन्तु चेतना को इस रूप में प्रस्तुत करना आवश्यक तथा अपरिहार्य होते हुए भी सत्य नहीं है। वह एक असत्य प्रतिनिधित्व से अधिक कुछ नहीं कहा जा सकता जिसका उद्भव विवेचनात्मक विचार-शक्ति की सीमाओं के कारण होता है। उसका, स्वभाव, इस कारण, एक लक्षणात्मक प्रतिमा मात्र जैसा , जिससे कि अनुभवातीत चेतना का निर्देश ही हमारे लिए केवल भिन्नता है, जिसके अन्दर कि स्वयं किसी प्रकार के भेद का कोई अस्तित्व नहीं है। विवेचनात्मक विचार और भाषा की परम चेतना के स्वरूप को अभिव्यक्त करने की नितान्त अक्षमता के कारण ही

१. शांकर भाष्य २. १. १६। द्रष्टव्य सांख्य कारिका पर तत्व कौमुदी ५. वैशारदी ४. २२. १. ४. २. ६. १८. २०। योग भाष्य १. ६. ७।

२. चित्सुखी १. ७ ३।

३. तैतरीय शांकर भाष्य।

४. तैतरीय शांकर भाष्य।

इस रीति को ग्रहण करना अनिवार्य हो जाता है, क्योंकि जो कुछ भी ज्ञात होता है वह उस बुद्धि से ही ज्ञात होता है जो कि उसे केवल भेदों में ही ग्रहण कर सकती है। इस कारण, चेतना के प्रति प्रत्ययवादी दृष्टिकोण के निम्नलिखित महत्वपूर्ण विन्दु हमें प्राप्त होते हैं :

(१) कि, चतना सर्वज्ञाता (ग्राहक), ज्ञान का गुण (ग्रहण), ज्ञान का विषय (ग्राह्य) इन सब के सम्पूर्ण भेदों की परम पूर्व कल्पना है, और स्वयं भेदरहित तथा एक है।

(२) कि, चेतना आत्मा का गुण-धर्म नहीं है। वह ऐसा कुछ भी नहीं है जो आत्मा द्वारा ग्रहण कर लिया गया है। वह स्वयं आत्मा ही है।

(३) कि, परम चेतना द्रव्य, गुण या कर्म की किसी भी संज्ञि के अन्तर्गत नहीं आती है। वह सबका आधारभूत यथार्थ है।

(४) कि, चेतना किसी भी अन्य वस्तु से पूर्णरूपेण भिन्न है। वह अपूर्व और अद्वितीय है।

(५) कि वह किसी संघात, परिस्थियों के संयोग, या सामग्री की उत्पत्ति नहीं है।

(६) कि, किसी वस्तु की उत्पत्ति तथा आगे किन्हीं इकाइयों में विभाजनीय न होने के कारण वह नित्य, अनुत्पादित, अनन्त तथा असीम है। उसमें कोई जटिलता नहीं है। स्वप्रकाशन उसका स्वरूप है।

तथा (७) कि चेतना और उसके विषय में एक अन्तः स्वभावगत भिन्नता है। जहाँ प्रथम सामान्य और नित्य है वहीं द्वितीय विशिष्ट और परिवर्तनशील है।

चेतना के स्वरूप पर मीमांसा दृष्टिकोण

चेतना के स्वरूप के सम्बन्ध में मीमांसा दर्शन का दृष्टिकोण इतना अधिक विकसित नहीं है कि उस पर आलोचनात्मक रूप से विस्तार से विचार किया जा सके। तत्वमीमांसा मीमांसा की प्रमुख वृति नहीं रही है, किन्तु तब भी चेतना के स्वप्रकाशी स्वभाव के सम्बन्ध में उसने एक महत्वपूर्ण विचार विकसित किया है, जिनके कारण कि चेतना के स्वरूप के अध्ययन में से उसे एक महत्वपूर्ण स्थान स्वभावतः उपलब्ध हो गया है। मीमांसानुसार, चेतना स्व-अभिव्यंजक विचार का साक्षात् एवं अपरोक्ष प्रकाशन है। वह स्वयं अपने को, ज्ञाता और ज्ञेय को प्रकाशित करती है।

प्रभाकर-मीमांसा के अनुसार प्रत्येक ज्ञान की एक त्रिपुटी संवित् है। है। इस त्रिपुटी सवित् में (१) विषय संवित, (२) अहम् संवित् और (३) स्व संवित् अन्तर्भावित रहते हैं।

चेतना का स्वरूप दीपक के प्रकाश की भाँति है। वह एक ही बार में न सिर्फ वाह्य विषय को बल्कि स्वयं को तथा उसके आधार आत्मा या अहम् को भी उसी तरह प्रकाशित करती है जैसे कि दीपक किसी विषय को, स्वयं को, तथा स्वयं के आधार वर्तिका को भी प्रकाशित करता है।

इस प्रश्न का कि चेतना स्वयं अपने आप में क्या है, अर्थात् उसका स्वरूप क्या है, मीमसा द्वारा प्रस्तुत उत्तर यह है कि वह कर्म या आत्मा की क्रिया है। वह आत्मा की क्रिया, ज्ञान-क्रिया है, जो विषयों में ज्ञानता उत्पन्न करती है और जिसके कारण कि वे ज्ञेय बनते हैं। वेदान्त-दर्शन की भाँति चेतना को यहाँ आत्मा का पर्यायवाची नहीं माना गया है। मीमांसा में चेतना और आत्मा के बीच एक विभेद को सर्वदा मान्यता दी गई है, और दोनों के मध्य के सम्बन्ध को कर्त्ता और कर्म के बीच का सम्बन्ध प्रतिपादित किया गया है। न्यायवैशेषिक के लिए चेतना एक यांत्रिक प्रक्रिया का फल है, क्योंकि वह आत्मा में किसी भी प्रकार की गतिमयता को स्वीकृत करने में असमर्थ है; कारण, उसकी दृष्टि में आत्मा पूर्णरूपेण निर्गुण है। इस प्रकार, न्याय वैशेषिक में, चेतना आत्मा से आधारभूत रूप से सम्बद्ध नही है। किन्तु मीमांसा दर्शन चेतना को आत्मा का कर्म मानकर न्याय दर्शन की अपेक्षा चेतना को आत्मा से अधिक आधारभूत रूप से सम्बद्ध बनाती है, यद्यपि अन्ततः इस सिद्धान्त में भी न्याय के अनुरूप ही आत्मा चेतन और अचेतन दोनों ही हो जाता है, जैसे कि खद्योत् प्रकाशित और अप्रकाशित दोनों ही रूपों में होता है।

मीमांसा चेतना और आत्मा के विभेद पर इन सरल कारणों से आग्रह करता है कि प्रथमतः प्रगाढ़ निद्रा में कोई चेतना शेष नहीं रहती है, यद्यपि आत्मा को उस समय भी अस्तित्व में मानना पड़ता है, और द्वितीयतः यह कि मुक्ति की परमावस्था में आत्मा को ज्ञान तथा आनन्द दोनों से ही विर-हित मानना आवश्यक है।

इन दोनों कारणों का प्रत्ययवादी द्वारा इस आधार पर विरोध किया जाता है कि यदि इन कारणों को स्वीकार कर लिया जाय तो आत्मा को अचेतन बनाने तथा चेतन होने के लिए परिस्थितियों के यांत्रिक संयोग की

कृपा पर छोड़े बिना, ज्ञान तथा आत्मा के बीच किसी भी प्रकार के सम्बन्ध का अन्वेषण करना असम्भव हो जाता है।

किन्तु, चेतना के स्वरूप के सम्बन्ध में मीमांसा दर्शन का महत्व उस अत्यधिक जोर में निहित है जो उसने चेतना के स्वप्रकाशी स्वभाव पर एक अपूर्व तथा किसी अन्य वस्तु से असमान पदार्थ की तरह डाला है। चेतना के स्वप्रकाशी स्वरूप के सम्बन्ध में प्रभाकर की इसी असंदिग्ध घोषणा ने उसे न्याय से तीक्ष्ण रूप से पृथक कर दिया है और चेतना के अद्वैत प्रत्ययवादी सिद्धान्त को और अधिक समर्थ तथा शक्तिशाली बना दिया है। न्याय दर्शन चेतना को, जो अन्य पदार्थों को जानती तथा प्रकाशित करती है, उसी तल पर रखता है जिस तल पर कि वह उसके प्रकाश में प्रकाशित पदार्थों को रखता है। न्याय की दृष्टि में जगत् विषयों और ज्ञानों की दो पृथक् संज्ञियों में विभाजित नहीं है। इस कारण जब कि विषय ज्ञान के द्वारा जाने जाते हैं, ज्ञान स्वयं अपने ही द्वारा जाना जाता है। चेतना स्वयं अपने प्रकाशन के सम्बन्ध में किसी भी अन्य विषय की तरह ही परनिर्भर है।

मीमांसा आविष्कृत करता है कि चेतना स्वप्रकाशन के सम्बन्ध में स्वयं अपने ही पैरों पर खड़ी हो सकती है, और इसके स्वयं के ज्ञान का अन्य ज्ञानों पर निर्भर होना आवश्यक नहीं है। इस कारण, वह त्रिपुटी संवित् या ज्ञाता, ज्ञेय और ज्ञान तीनों के ज्ञान के एक ही कौंध में अपरोक्ष तथा सहज उद्घाटन के सिद्धान्त को प्रस्तावित करता है। चेतना के स्वत: प्रकाशत्व पर यह बल दर्शन को प्रभाकर सम्प्रदाय की एक विशेष देन है, यद्यपि वह इस धारणा के बाद भी आत्मा और ज्ञान के विभेद के आग्रह पर न्याय दर्शन से सहमत है।[१]

चेतना के स्वरूप पर आचार्य रामानुज का दृष्टिकोण

रामानुज के अनुसार आत्मा नित्य है तथा उसका प्रकृत गुण चेतना भी शाश्वत है। वह 'चिद्रूप' है तथा 'चैतन्य गुणक' भी है।[२] आत्मा चेतना

१. चेतना के स्वरूप के प्रति स्वतः प्राशत्व का यह दृष्टिकोण जैसा कि प्रभाकर द्वारा प्रतिपादित है, एक उसी रूप में कुमारिल द्वारा स्वीकृत नहीं है। दोनों का भेद आगामी अध्याय में स्पष्ट हो जायेगा।

२. वही भाष्य १. १. १. पृष्ठ ३०।

से संगठित है, जो उसका स्वरूप तथा उसी तरह उसका गुण दोनों ही है। वह चेतनत्व से ही परिपूर्ण है, पर चेतना उसका गुण भी है।[१] आत्मा मात्र ज्ञान ही नहीं है बल्कि ज्ञान का विषयी भी है।[२] ज्ञान, ज्ञाता और विषयी से, जिसका कि वह गुण है, उसी तरह भिन्न है, जिस तरह कि सुगन्ध उस भूमि से भिन्न है जो कि उसका गुण दीख पड़ती है।[३] इस कारण, आत्मा का स्वरूप ज्ञान के रूप में विशुद्ध चैतन्य जैसा उतना नहीं है जितना कि दीखता है। ज्ञान तो उसे कभी-कभी विषयों से सम्बन्धित करा देता है। यह ज्ञान चेतना सदैव सविभेद होती हैं, (न च निर्विषया काचित् सम्वित्स्ति),[४] और उसका रूप सर्वदा 'यह यह है' का तथा अनवरत रूप से परिवर्तनशील होता है।

इस प्रकार, रामानुज में आत्मा और चेतना के बीच सम्बन्ध की धारणा स्पष्ट नहीं है, क्योंकि चेतना आत्मा का नित्य स्वरूप तथा अनित्यगुण दोनों ही कैसे हो सकती है। रामानुज न्याय-वैशेषिक यथार्थवादी और शांकर प्रत्ययवादी के मध्य का मार्ग ग्रहण करना चाहते हैं, जो कि सुचारु रूप से कार्यकारी प्रतीत नहीं होता है। न्याय-वैशेषिक ढंग पर यदि चेतना को आत्मा का अनित्य गुण बनाया जाता है, तब उसका स्पष्ट फल आत्मा को, जब कभी भी वह उक्त गुण से विरहित होती है, अचेतन बताना होता है। यह दृष्टिकोण रामानुज को स्वीकार्य नहीं है क्योंकि उनके अनुसार आत्मा को किसी भी स्थिति में अचेतना नहीं विचार जा सकता। उसके लिए आत्मा न अचित् है, न हो सकती है। इस कारण, आत्मा के चित्-स्वरूप की रक्षा के हेतु चेतना को आत्मा के साथ सह-अस्तित्वान् तथा आत्मा की भाँति ही नित्य बनाना आवश्यक हो जाता है। यह चेतना को आत्मा का केवल धर्म मात्र बना देने से नहीं हो सकता है, इसलिए उसे उसका स्वरूप बनाना अत्यन्त आवश्यक बन जाता है, किन्तु, इस स्थिति में आत्मा और चेतना में कोई भेद शेष नहीं रह जाता, और शंकर की स्थिति की ओर अग्रसर होते हुए दोनों पर्यायवाची बन जाते हैं।

रामानुज इन दोनों ही विकल्पों से बचने के लिये चिन्तित हैं, और इसलिए यह प्रतिपादित करते हैं कि आत्मा में चेतना उसके सत् और गुण दोनों

१. रामानुज भाष्य २. ३. २९।
२. रामानुज भाष्य १. १. १. पृष्ठ २६।
३. रामानुज भाष्य २. ३. २७।
४. रामानुज भाष्य १. १. १. पृष्ठ २६।

की ही तरह अवस्थित है। चेतना को गुण होना ही चाहिए क्योंकि उसके लिए आधार आवश्यक है, और आत्मा को भी नित्य रूप से सचेतन होना चाहिए क्योंकि वह अचेतन नहीं हो सकता है। किन्तु गुण नित्य नहीं होता और जो गुण द्रव्य से नित्य रूप से सम्बद्ध है वह उसका गुण नहीं स्वरूप ही है, जैसे कि ताप अग्नि का है। इस तरह, यह स्पष्ट दीखता है कि रामानुज जीव के 'ज्ञ-स्वरूप' के अपने अभीष्ट सिद्धान्त की तत्वमीमांसात्मक उपलक्षणाओं को उनके पूर्ण तार्किक अन्त तक नहीं ले जाते।

वह कहते हैं[२] कि संवित्, अनुभूति, तथा ज्ञान आदि पद 'सम्बन्धी' शब्द' हैं (संविदानुभूति ज्ञानादि शब्द सम्बन्धी शब्द हैं, किन्तु सम्बन्ध की तत्वमीमांसा के परिणाम के सम्बन्ध में विचार करने के पूर्व ही वह रुक जाते हैं। आत्मा को यदि नित्यरूप से चेतन होना है, तो चेतना के धर्म या गुण होने की परिकल्पना अनावश्यक है, क्योंकि यह धारणा चेतना के आत्मा के स्वरूप होने की परिकल्पना में पहले से ही उपस्थित है। आत्मा की अचेतना ही, चेतना के आत्म-स्वरूप होने के सिद्धान्त का विकल्प हो सकता है, और जब कि एक बार यह स्वीकार कर लिया गया है कि धर्म या गुण से भिन्न और विपरीत चेतना आत्मा का स्वरूप या स्वभाव है, तब आत्मा और चेतना के तादात्म्य का अनुगमित होना भी अनिवार्य हो जाता है।

इस कारण, रामानुज का चेतना को धर्म या गुण मानने के साथ ही साथ, आत्मा के चित्-स्वरूप की नित्यता को भी सिद्ध करने का प्रयत्न सफल होने से अत्यन्त दूर रह जाता है।

शंकर, प्रभाकर तथा रामानुज के दृष्टिकोणों के विभेद

प्रथमत: शंकर के लिए अभेदित चेतना ही सत् है।[१] सभेद चेतना सांयोगिक तथा भ्रान्तिपूर्ण है।[२] अहंकार का सिद्धान्त तथा ज्ञाता और ज्ञान का विभेद भी, जो कि व्यावहारिक ज्ञान को अत्यन्त आधारभूत तथा आत्यंतिक प्रतीत होता है, भ्रान्तिपूर्ण है। यह भ्रान्तिपूर्णता अन्तःकरण आदि परिच्छित करानेवाली उपाधियों के कारण उत्पन्न होती है।[३] यह अहंकार जब अपने को प्रगाढ़ निद्रा या मुक्तावस्था में विलीन कर लेता है, तभी अविभाजित

१. शांकर भाष्य २.३.४०।
२. शांकर भाष्य १.१.४, शांकर भाष्य गौडपाद कटिका ४.६.७।
३. शांकर भाष्य १.३.२।

चेतना अपने नित्य अपरिवर्तनशील प्रकाश में प्रकाशित होती है। इस तरह, यह केवल अविभाजित आत्मा ही है, जो कि वस्तुतः यथार्थ है। अहंकार उस पर आरोपित किया गया है। वह परम यथार्थ नहीं है और प्रगाढ़ निद्रा में भी उसका अस्तित्व नहीं रह पाता। द्वितीयतः, चूँकि शंकर चेतना तथा नित्यात्मा में कोई अन्तर नहीं करते हैं, इसलिए यह स्वभावतः अनुसरित होता है कि चेतना प्रगाढ़ निद्रा तथा मूर्च्छावस्था में भी वर्तमान रहती है। शंकर के दृष्टिकोण से विपरीत, प्रभाकर और रामानुज के लिए अहंकार आत्मा का नित्यांश है,[१] तथा आत्मा और वह दोनों तादात्म्यक् हैं। प्रभाकर और रामानुज दोनों ही अस्वीकृत करते हैं कि या तो अहं कभी विलीन भी होता है, अथवा चेतना प्रगाढ़ निद्रा में भी वर्तमान रहने के अर्थ में नित्य है। इस तरह, शंकर के लिए जब कि आत्मा और चेतना तादात्म्यक् तथा आत्मा और अहं विभिन्न धारणाएँ हैं वहीं प्रभाकर और रामानुज के अनुसार स्थिति ठीक इसके विपरीत है। उनके लिए जब कि आत्मा और चेतना तादात्म्यक् नहीं है क्योंकि आत्मा मात्र चेतना ही नहीं, चेतना का विषयी भी है, वहीं आत्मा और अहं तादात्म्यक् है, क्योंकि 'मैं' की चेतना के अभाव में चेतना का अस्तित्व नहीं हो सकता है। अहं आत्मा पर भ्रान्तिपूर्ण आरोपण नहीं बल्कि उसी प्रकार उसके स्वरूप का विधायक अंग है जिस प्रकार कि शंकरवादी के लिए विभेद तथा अहंहीन चेतना है। केवल इस एक विन्दु पर ही तीनों विचारक सहमत हैं कि चेतना आत्मा का सांयोगिक गुण नहीं है, जैसा कि न्याय वैशेषिक दर्शन द्वारा प्रतिपादित किया गया है, बल्कि वह आत्मा से कहीं अधिक आधारभूत रूप से सम्बद्ध है।

पुनरावलोकन तथा आलोचनात्मक मूल्यांकन

शंकराचार्य तथा सांख्य-योग विचारक चेतना को स्वाधिकार से अस्तित्ववान् एक नित्य प्रकाश मानते हैं। यह नित्य प्रकाश-चेतना आत्मा या पुरुष के सत्य स्वरूप का संगठक है। वह न गुण है और न किसी का कर्म है, बल्कि स्वयं अपने में एक स्वतंत्र सत्ता है।

रामानुजाचार्य इस सम्बन्ध में मध्य मार्ग ग्रहण करते हैं और चेतना को आत्मा का गुण तथा स्वरूप दोनों ही मानते हैं।

न्याय-वैशेषिक तथा प्रभाकर चेतना को आत्मा का गुण मानते हैं, जब कि कुमारिल की मान्यता है कि चेतना आत्मा का कर्म है, क्योंकि ज्ञानात्मक

४. रामानुज भाष्य १.१.१ पृष्ठ २० (अ)

क्रिया ज्ञान-कर्म का फल या परिणाम है। इस तरह उसका अस्तित्व पर-निर्भर तथा अनित्य है।

चरक के विश्वासानुसार चेतना सर्वकाल में वर्तमान एक अनादि सत्ता है, किन्तु फिर भी, मनस् के साथ आत्मा के संपर्क से उसकी उत्पत्ति तथा जन्म होता है।

चेतना के स्वरूप के सम्बन्ध में न्याय की यह स्थिति कि चेतना स्वयं से भिन्न एक द्रव्य में संस्थापित अनेक खंडांशों के सम्पर्क से उत्पन्न यान्त्रिक गुण है तत्वमीमांसा की दृष्टि से सब से कम संतोषजनक है। वह अपना आधार न तो विचार के स्वतन्त्र अस्तित्व को और न उसके स्व-प्रकाशी स्वभाव को ही बनाती है। यह सामान्य दृष्टिकोण कि द्रव्य उनके गुणों तथा कर्मों से समग्र-रूपेण भिन्न होते हैं, दार्शनिक रूप से प्रतिपादित नहीं किया जा सकता है। यह न केवल आत्मा को जड़ ही बना देता है, बल्कि इसके द्वारा अनुभव की व्याख्या भी और दुरूह हो जाती है।

सांख्यदर्शन पुरुष की अपनी उत्पत्ति में चेतना के स्वतंत्र सिद्धान्त को मान्यता प्रदान करता है, किन्तु वह दुर्भाग्यवश ज्ञान के रूप को उसकी विषय-वस्तु से पूर्णतया विच्छेदित कर देता है। पुरुष का अनुभवातीत सिद्धान्त ज्ञान द्रव्य से इतना विछिन्न तथा केवल बना रहता है कि यह एक रहस्य बन जाता है कि ज्ञान का विशुद्ध तत्व अपने स्वरूप से समग्ररूपेण भिन्न रूप को अपने ऊपर किस प्रकार ग्रहण करता है। सांख्य ज्ञानमीमांसा तथा तत्वमीमांसा में यह समस्या सर्वाधिक दुरूह बनी रही है। हम पौद्गलिक संग्रह मात्र से चेतना को अनुमित नहीं कर सकते जैसा कि न्याय-वैशेषिक द्वारा किया गया है, किन्तु हमें यह विस्मृत नहीं कर देना चाहिए कि चेतना अपने व्यावहारिक स्वरूप में सदैव अपनी पौद्गलिक सामग्री द्वारा ही अभिव्यक्त होती है। ज्ञान के इन दो सिद्धान्तों, रूपात्मक तथा द्रव्यात्मक, के बीच के तात्विक सम्बन्ध को न देख पाना ही सांख्य दर्शन की भूल है।

प्रभाकर चेतना के स्वतः प्रकाशी स्वरूप की अद्वितीय स्थिति को घोषित करने का साहसपूर्ण कदम उठाते हैं जो कि प्रकाश की एक ही झलक में ज्ञाता तथा ज्ञेय दोनों का उद्घाटन करती है। इस तरह, वह न केवल न्याय के विरुद्ध जिसके अनुसार कि चेतना का उद्घाटन अचेतन विषय 'घटादिवत्' की तरह होता है, बल्कि ज्ञान के विषय और विषयी के अतिद्वैत से मुक्त होने में सांख्य के विरुद्ध भी एक नया विन्दु प्राप्त करते हैं। किन्तु प्रभाकर ने इस सम्बन्ध में जाँच-पड़ताल नहीं की कि चेतना अपने स्व-प्रकाशी स्वरूप 'स्वतः-

प्रकाशत्व' से अलग अपने आप में क्या है और इस कारण, उन्हें चेतना तथा आत्मा के मध्य इस असंतोषजनक परिणाम के साथ विभेद मानने को विवश होना पड़ा कि चेतना जब कि स्व-प्रकाशी है, आत्मा अ-प्रकाशी है, जो कि दोनों के बीच सही सम्बन्ध का अधोमुखी रूप है।

शांकर वेदांत ने चेतना के स्वतंत्र तथा नित्य अस्तित्व को विशेष बल के साथ अभिव्यक्ति दी, जो कि स्वयं तथा प्रत्येक अन्य वस्तु को अपने प्रकाश से प्रकाशित करता है। उसने घोषित किया कि सार्वभौम चेतना का आधारभूत तथ्य सर्वज्ञान की पूर्व कल्पना है। ज्ञान के विषय और विषयी स्वयं अपने में भिन्न और पृथक् नहीं हैं, बल्कि केवल गणनानुसार ही अलग और भिन्न हैं। वे अनुभव के क्षेत्र से समग्रतया वाह्य नहीं हैं, बल्कि उनका विभेद एकात्मक तथा सार्वभौम चेतना के अन्तर्गत ही किया जाता है। इस स्व-सत्तावान विशुद्ध चेतना के अनुभवातीत तथा अनुभवान्तर्गत, दो पहलू हैं। प्रथम के अन्तर्गत उसे अद्वैत, सार्वभौम, अपरिवर्तनीय, अक्रिय तथा विभेदहीन समझा जाना चाहिए, जब कि द्वितीय के अन्तर्गत विशिष्ट, परिवर्तनशील, सक्रिय तथा भेदों से परिपूर्ण। वह इन दोनों में है और दोनों से अतीत भी है।

●

चतुर्थ अध्याय

चेतना का ज्ञानमीमांसात्मक स्वरूप

समस्या का वक्तव्य

हिन्दू दर्शन में चेतना के स्वरूप के सम्बन्ध में अत्यधिक महत्वपूर्ण विवादों में से एक स्वतः प्रकाशत्व या चेतना के स्व-प्रकाशी स्वभाव से सम्बद्ध है। चेतना के स्वरूप के सम्बन्ध में हिन्दू दृष्टि को सही रूप से समझने के लिए इस समस्या का अत्यधिक दार्शनिक महत्व है। यह प्रश्न प्रस्तुत किया गया है कि जब कोई पदार्थ ज्ञात होता है तब क्या इस प्रक्रिया में ज्ञात का भी ज्ञान होता है? क्या वह अज्ञात रहता है, अपरोक्ष रूप से ज्ञात होता है, या तद-नंतर किसी उत्तरोत्तर ज्ञान से ज्ञात होता है? यदि वह अज्ञात रहता है तब एक अज्ञात ज्ञान द्वारा किसी विषय को जानने की अविवेकपूर्ण घटना घटित होती है और यदि वह किसी अन्य ज्ञान द्वारा जाना जाता है तब इस तरह इस प्रक्रिया की निष्पत्ति अनवस्था में होगी, जिसका अर्थ होगा यह स्व-विरोधी स्थिति बिना अपना हल पाये ही शेष बनी रहती है। इस कारण, प्रत्ययवादी विचार द्वारा सामान्यतया यह घोषित किया गया है कि चेतना या ज्ञान, ज्ञात विषय के साथ ही अपरोक्षरूप से ज्ञान बनता है। ज्ञान न तो किसी तदनन्तर या उत्तरोत्तर मानसिक प्रत्यक्षीकरण में ज्ञात होता है, जैसा कि यथार्थवादी की मान्यता है और न वह अनुमान द्वारा ज्ञेय बनता है जैसा कि कुमारिल प्रतिपादित करते हैं। ज्ञान और उसके ज्ञान के मध्य कोई मध्यवर्ती मानसिक प्रक्रिया नहीं होती है अर्थात् समस्त ज्ञान अपने उत्पन्न होने के साथ ही स्वतः ज्ञान हो जाते हैं। प्रत्ययवादी का कथन है कि अज्ञात ज्ञान किसी विषय को उद्घाटित नहीं कर सकता और यदि अनवस्था में ज्ञान को स्व-प्रकाशवान् मानना ही पड़ता है, तब उसे पहली ही अवस्था में स्व-प्रकाशी मानने में क्या दोष है?

इस कारण, प्रत्ययवादियों के अनुसार चेतना न अवेद्य है न किसी विषय की भाँति वेद्य है बल्कि स्व-वेद्य या स्व-प्रत्यक्ष है। चेतना, इस दृष्टि में, नितान्त अद्वितीय है। विश्व में वह, एक साथ ही, सम्पूर्ण प्रकाशन, ज्ञान तथा

प्रकाश का स्रोत तथा सिद्धान्त है। वह अपने प्रकाश से जगत् के समग्र विषयों को प्रकाशित करते हुए भी, स्वयं अपने प्रकाश के अतिरिक्त किसी भी अन्य के प्रकाश से अभिव्यक्त नहीं होती है। वह 'स्वयं ज्योतिः' और 'स्वप्रकाश' है। यह 'स्वयं-ज्योति' चेतना यदि न होती तो समग्र जगत् अविद्या विषयक अज्ञान के तिमिर में डूबा रहता, क्योंकि ज्ञान के अभाव में चेतना की प्रक्रिया कभी प्रारम्भ ही नहीं हो सकती थी। वह, इस कारण, शाश्वतरूप से स्व-दीप्तिमान है। वह अपने स्वरूप को उसी प्रक्रिया से अभिव्यक्त करती है जिससे कि दूसरे विषय उसके द्वारा प्रकाशित होते हैं। स्वयं के ज्ञान के लिए उसे किसी दूसरे ज्ञान की अपेक्षा नहीं होती है। स्व-बोध के सम्बन्ध में, जगत् के समग्र विषयों से भिन्न और अद्वितीय, वह स्वयं अपने आप में सम्पूर्ण है।

चेतना के स्व-प्रकाशत्व तथा अद्वितीयता के इस दृष्टिकोण का उन यथार्थ-वादियों द्वारा प्रचण्ड विरोध हुआ है जो कि चेतना को केवल 'परप्रकाश' की स्थिति ही प्रदान करते हैं। यह प्रतिवाद प्रस्तुत किया गया है कि चेतना चक्षु के प्रकाश की भाँति है, जिसे कि दूसरे विषयों को प्रकाशित करने के लिए स्वयं प्रकाशित होने की कोई आवश्यकता नहीं है। ज्ञान की क्रिया में ज्ञान नहीं केवल उसका विषय ही सदैव ज्ञेय बनता है। इस तरह, चेतना स्व-प्रकाश नहीं, केवल 'परप्रकाश' ही है।

इसके विपरीत प्रत्ययवादी यह प्रतिपादित करता है कि चेतना दीपक या सूरज के प्रकाश की भाँति है, जो कि स्व-प्रकाशन की एक ही क्रिया द्वारा, स्वयं तथा अन्य पदार्थों दोनों को एक साथ ही उद्घाटित करती है और जो स्व-प्रकाशन के इस सम्बन्ध में किसी भी अन्य प्रकाश से स्वतंत्र है। यह विचारना अविवेकपूर्ण है कि कोई भी प्राकृतिक प्रकाश, जो कि दूसरे विषयों को प्रकाशित करता है, स्वयं अप्रकाशी है और अपने स्वत्व की अभिव्यक्ति के हेतु किसी अन्य प्रकाश की अपेक्षा करता है। इस तरह, स्वतः प्रकाशत्व का विकल्प परप्रकाशत्व नहीं, बल्कि अप्रकाशत्व है। स्वतः प्रकाशत्व और पर-प्रकाशत्व के बीच चुनाव नहीं करना है जैसा कि यथार्थवादी सोचता हुआ प्रतीत होता है, किन्तु चुनाव स्वतः प्रकाशत्व और जड़त्व के बीच है। वह जो स्व-प्रकाशी नहीं है, प्रकाशी भी नहीं है। चेतना भी यदि स्व-प्रकाशी नहीं है तो वह भी वस्तुतः किसी अचेतन विषय की स्थिति में परिणत हो जाएगी और ज्ञान तथा चेतना की व्याख्या नहीं कर सकेगी।

औपनिषदिक दृष्टिकोण

उपनिषदों ने आत्मा या पुरुष को स्वप्रकाशी या स्व-दीप्तिवान की तरह विशेषित करने पर अत्यधिक बल दिया है। बृहदारण्यक में जाग्रत और स्वप्नचेतना की विस्तृत परीक्षा द्वारा पुरुष के स्वप्रकाशत्व को प्रस्थापित किया गया है। 'अत्रायम् पुरुषः स्वयम् ज्योतिर् भवति।'[१] उस समय जबकि सर्व वाह्य प्रकाश बुझ जाते हैं, जिनमें शरीर और इन्द्रियों के प्रकाश भी सम्मिलित हैं, तब आत्मा, जिसके प्रतिबिम्ब को बुद्धि उससे अपनी निकटता तथा पवित्रता के कारण ग्रहण कर लेती है, अपने नित्य एवं शुद्ध प्रकाश में प्रकाशवान रहती है। कठोपनिषद् ने भी कहा है। 'उसके प्रकाशित होने से सब कुछ प्रकाशित होता है। यह विश्व उसके प्रकाश के परिणामस्वरूप ही प्रकाशित है।'[२] छान्दोग्य कहता है, 'उसका रूप प्रकाश है', 'भारूपः'।[३] पुरुष को हृदय का आन्तरिक प्रकाश (हृदयान्तर ज्योति) कहा गया है।[४] मुण्डक पुनरुक्ति करता है, 'तमेव भांतम् अनुभाति सर्वम् तस्य भाषा सर्वमिदम् विभाति।' गीता १३, ३३. में हम पढ़ते हैं, 'ओ अर्जुन, जिस तरह एक सूरज सम्पूर्ण जगत को प्रकाशित करता है उसी तरह इस शरीर क्षेत्र का ज्ञाता, आत्मा, भी समग्र शरीर को प्रकाशित करता है।'[५] इस तरह हम पाते हैं कि उपनिषद् के ऋषियों ने चेतना को स्वयम् प्रकाश की भाँति ही विशेषित किया है।

अभिनवगुप्त द्वारा लिखित बताये जानेवाले तन्त्रसार आह्न में चेतना को स्वअभिव्यक्तिमय प्रकाश के स्वभाव का उपदेशित किया गया है। प्रकाश-रूपता चित् शक्तिः।[६] क्षेमराज का भी कथन है कि चेतना को असिद्ध नहीं किया जा सकता है। क्योंकि वह सदैव प्रकाशवान है, और प्रत्येक अन्य वस्तु केवल उसके द्वारा ही सिद्ध होती है।[७]

उसे किसी अचेतन विषय की भाँति किसी अन्य ज्ञात क्रिया द्वारा प्रत्यक्ष नहीं किया जा सकता है। वह स्वप्रकाशित है।

---

१. कठोपनिषद् ५. १५।
२. छान्दोग्य ३. १४. २।
३. वृहदारण्यक् ४. ३. ७।
४. गीता १३. ३३।
५. तन्त्रसार, आह्न १ देवी भागवत भाष्य ७. ३२. १२. १३।
६. शिव सूत्र विमर्शणी सूत्र १।
७. देवी भागवत ७. ३२. १२. १३।

अद्वैत वेदान्त का दृष्टिकोण

चेतना के स्वतः प्रकाशत्व के सिद्धान्त के सर्वाधिक प्रभावशाली प्रतिपादक शांकर वेदान्तवादी, योगाचार विज्ञानवादी, पूर्वमीमांसा के प्रभाकर-मतीय तथा सांख्य योगवादी विचारक रहे हैं। वेदान्तानुसार, ज्ञान स्वयं प्रकाशी है, क्योंकि ज्ञान के ज्ञान को स्वीकार करना अविवेकपूर्ण है। ज्ञान ज्ञान का विषय नहीं हो सकता है, क्योंकि विषय का स्वभाव अचेतन होता है तथा विषय और विषयी के स्वरूपों के मध्य आद्यन्त वैभिन्य है। विषय होना ज्ञान के स्वभाव के विपरीत है। वह कभी भी विषय के गुण ग्रहण नहीं कर सकता है, न ही विषय कभी विषयी हो सकता है। ज्ञान चूँकि चेतन-स्वभावी हैं, इस कारण उसका विषय बनना असम्भव है, और इसलिए उसका स्वतः प्रकाशी होना आवश्यक है।

शंकर गौड़पाद कारिका के अपने भाष्य ३. ३३ में कहते हैं कि ब्रह्म, जो कि नित्य चेतना का एक सजातीय पुंज है, सूर्य की भाँति ही अपने प्रकाशन के लिए ज्ञान के किसी अन्य उपकरण पर निर्भर नहीं हो सकता। उनका कथन है कि जबकि समग्र वस्तुओं को ज्ञान तथा ज्ञेय के वर्गों में वर्गीकृत किया जा सकता है तब केवल वैनाशिकों को छोड़कर अन्य कोई भी, ज्ञान को ही प्रत्यक्ष करनेवाले एक तृतीय ज्ञान के रूप में स्वीकृत नहीं कर सकता।[1] ज्ञान के अनभिव्यक्त विषयों तथा स्व-अभिव्यक्तिपूर्ण ज्ञान के मध्य विभेद करना अपरिहार्य है। यह कहा गया है कि सौ वैनाशिक मिलकर भी स्वयं ज्ञान को ज्ञेय नहीं बना सकते, उसी भाँति जिस प्रकार वे किसी मृत व्यक्ति को पुनर्जीवित नहीं कर सकते। ज्ञान का ज्ञान 'ज्ञेयस्य ज्ञेयत्वम्' या चेतना की चेतना एक मनोवैज्ञानिक विवेकशून्यता है। फिर भी यह स्मरण रखना चाहिये कि ज्ञान केवल ऋणात्मक अर्थों में ही स्वदीप्तिवान् है, अर्थात् उसकी अभिव्यंजना किसी अन्य ज्ञान द्वारा नहीं होती है। स्व-प्रकाशत्व की धारणा इस घटनात्मक अर्थ में कि वह स्वयं अपने ही द्वारा ज्ञात बनता है, प्रयुक्त नहीं हुई है।

चेतना के लिए, चूँकि वह स्वयं ही प्रकाशन का परम सिद्धान्त है अतः स्वयं के प्रकाशन के हेतु किसी अन्य और दूरस्थ सिद्धान्त की आवश्यकता नहीं है। उस प्रकाश को जो कि स्वयं प्रत्येक वस्तु को उद्घाटित करता है, स्वभावतः ही स्वयं के प्रकाशन के लिए किसी अन्य प्रकाश की अपेक्षा नहीं हो सकती है।

---

१. प्रश्नोपनिषद, शांकर भाष्य ६. १

इस तरह, सर्वज्ञान स्व-प्रकाशी है, जिसका अर्थ है कि ज्ञान की क्रिया और उसके ज्ञान के मध्य कोई मध्यवर्ती मानसिक स्थिति नहीं होती। ज्ञान की सीधी तथा अपरोक्ष बौद्धिक अनुभूति होती है। एक ज्ञान को यदि दूसरे ज्ञान से ज्ञात होना आवश्यक है, तो इसकी अन्ततः निष्पत्ति अनवस्था दोष में ही हो सकती है, जिससे कि प्रत्येक मूल्य पर बचना आवश्यक है।

श्री हर्ष सिद्ध करते हैं कि चेतना के स्व-प्रकाशत्व के सिद्धान्त को, वह चाहे साधारण अनुभव के विपरीत ही क्यों न पड़ता हो, दो प्रमुख कारणों के आधार पर स्वीकार कर लेना आवश्यक है। प्रथमतः, कि अन्यथानुपत्ति की युक्ति इसे समग्ररूपेण सिद्ध करती है, अर्थात् चेतना का कोई अन्य द्रष्टिकोण न आलोचना के समक्ष ठहरता है और न ज्ञान के तथ्य की व्याख्या में ही समर्थ सिद्ध होता है; तथा द्वितीयतः यह कि ज्ञाता, ज्ञान और ज्ञेय का सामान्य विभेद, जो कि ज्ञान के स्व-ज्ञान के सिद्धान्त के विपरीत जाता है, वस्तुतः सत्य नहीं है, क्योंकि पारमार्थिक रूप से ज्ञाता और ज्ञान या ज्ञान या ज्ञेय के मध्य कोई विभेद नहीं है। हमें इस दृष्टिकोण का परित्याग कर देना चाहिए कि ज्ञेय ज्ञान से भिन्न है, क्योंकि अन्यथा, 'मैं जानता हूँ' का बोध, जबकि ज्ञान ही ज्ञेय विषय भी है, सम्भव नहीं हो सकता है।[१]

विद्यारण्य भी ज्ञान को स्व-बोधित तथा अपरोक्षानुभूति से उपलब्ध मानते हैं। उन्होंने ज्ञानों के ज्ञान के न्याय तथा भाट्ट दृष्टिकोण की आलोलना की है। इस दृष्टिकोण से उनकी सहमति है कि ज्ञान के ज्ञान में यह उपलक्षित है कि समय के दो क्षण एक साथ ही अस्तित्व में होते हैं, जो कि नितान्त अविवेकपूर्ण है।[२] ज्ञान का ज्ञान अपरोक्षतया उसी समय, जैसे ही वह उद्भूत होता, ज्ञान की बिना किसी तदनन्तर क्रिया के हो जाना आवश्यक है।[३]

चित्सुखामुनि अपनी तत्वप्रदीपिका में स्व-प्रकाशत्व की समस्या का विस्तृत अध्ययन प्रस्तुत करते हैं और उनका यह दावा है कि यदि ज्ञान स्व-प्रकाशक न होता तो जीवन की कोई भी व्यावहारिक क्रिया सम्भव न होती क्योंकि हमारा समग्र व्यवहार हमारे ज्ञान के स्व-बोधित होने के एक अन्तर्निहित विश्वास पर आधारित है।

---

१. बृहती पृष्ठ २६

२. श्लोकवार्त्तिक, सूत्र २ पृष्ठ ६१, बनारस

३. शास्त्रदीपिका पृष्ठ ६०, १२९८. ४७. ६९

दृश्यविवेक चेतना के स्व-प्रकाशत्व पर जोर देता है तथा 'स्वयम् विभात्य् अथान्यानि भाष्येत् साधनम् बिना' की तरह उसकी परिभाषा करता है। प्रथम श्लोक में ही यह कहा गया है, 'रूप देखा जाता है, आँख देखनेवाली है, आँख देखी जाती है और मनस् देखने वाला है, मनस् देखा जाता है और साक्षी देखने वाला है, किन्तु साक्षी स्वयं किसी और के द्वारा देखा नहीं जाता।' इसका स्पष्ट अर्थ यही है कि चेतना या प्रकाश के परम सिद्धान्त की धारणा स्व-प्रकाशवान की भाँति तथा प्रकाशन के अन्य उपकरणों से स्वतंत्र रूप से की जानी चाहिए। समग्र विशिष्ट प्रकाशों के उद्गम स्रोत को ही स्वयं प्रकाशित करने की आशा कोई कैसे कर सकता है? यदि चेतना को स्वयं ज्योति की भाँति स्वीकृत नहीं किया जाता है, तो एक ज्ञान के अन्य किसी दूसरे ज्ञान द्वारा ज्ञात होने की प्रक्रिया का अन्त कभी नहीं हो सकता।

प्रभाकर का दृष्टिकोण

विगत अध्याय में हम पहले ही देख चुके हैं कि इस दृष्टिकोण के अनुसार स्व-प्रकाशी चेतना ज्ञान की किसी घटना के समग्र खंडांशों, अर्थात् ज्ञाता, ज्ञेय तथा ज्ञान तीनों को एक साथ ही प्रकाशित करती है। मीमांसा के लिए सर्वज्ञान, ज्ञान की ही भाँति स्व-प्रमाणित हैं। यह स्व-स्थापित प्रत्यय नहीं बल्कि ज्ञान की अप्रमाणिकता है जिसे प्रमाणों के द्वारा प्रस्थापित करना होता है। यह दृष्टिकोण जेमिनी सूत्र १, १, ५ : (तस्मात् प्रमाणम्, अपेक्षत्वात्) पर आधारित है, जिसे कि प्रभाकर तथा कुमारिल दोनों के द्वारा तदनन्तर विकसित किया गया है। प्रभाकर शाबर को उद्धृत करते हैं तथा कहते हैं कि यह निश्चय ही आश्चर्यजनक है कि कैसे एक ज्ञान को किसी विषय को जानता हुआ तथा फिर भी साथ ही अप्रमाणिक भी कहा जा सकता है। कुमारिल यह कहकर उक्त दृष्टि का समर्थन करते हैं कि ज्ञान का ज्ञात होना ही उसकी प्रमाणिकता होनी चाहिए। सारे ज्ञान यदि स्व-प्रमाणित न होते तो हमारे ज्ञानों के सम्बन्ध में हमें विश्वास कहाँ से प्राप्त हो सकता था? ज्ञान, किसी विषय को उद्घाटित करते समय स्वयं को भी अभिव्यंजित करता है। अ जब ब को देखता है, तब अ के मस्तिष्क में उस ज्ञान के प्रति कोई संदेह नहीं देखा जाता है। ज्ञान के स्वबोध का निषेध आवश्यक रूप से स्वतः ज्ञान के ही अविवेकपूर्ण अस्वीकार की ओर ले जाता है जिसे कि सभी ने स्वीकार किया है। और, इस कारण, ज्ञान चाहे कभी वस्तुओं की यथार्थ स्थिति से सहमत होता हुआ न भी मिले जिससे कि उसकी अप्रमाणिकता सिद्ध हो, फिर भी ज्ञान को ज्ञान की भाँति स्व-प्रमाणित से अन्य स्वीकार

नहीं किया जा सकता, क्योंकि चाहे ज्ञात वस्तु वहाँ उपस्थित न भी हो, फिर भी ज्ञान तो वहाँ सर्वविधि है ही। और जबकि तदनन्तर ज्ञान पूर्व ज्ञान की प्रमाणिकता को असिद्ध करता है, तो उसे पूर्व ज्ञान की उस प्रमाणिकता को नष्ट करता हुआ माना जाना चाहिए जो कि उससे ज्ञेय ज्ञान की तरह सम्बन्धित थी। ज्ञान केवल उस सीमा तक ही अप्रामाणिक होते हैं, जहाँ तक वे किसी अन्य ज्ञान द्वारा शोधित होते हैं।

प्रभाकर के अनुसार आत्मा स्व-प्रकाशी नहीं है, केवल चेतना ही स्व-प्रकाशी है। आत्मा तथा बाह्य विषय दोनों अप्रकाशक हैं। आत्मा स्व-प्रकाशी इसलिए नहीं है, क्योंकि वह ज्ञान के द्वारा ज्ञात बनती है। ज्ञान ही केवल स्व-प्रकाशयुक्त है, क्योंकि उसे किसी अन्य ज्ञान द्वारा ज्ञात बनने की आवश्यकता नहीं होती है। चेतना तथा आत्मा के मध्य के सम्बन्धों के सम्बन्ध की विगत अध्याय में वर्णित प्रभाकर की असंगत स्थिति के प्रभावों को हम यहाँ स्पष्ट देखते हैं। यह निश्चय ही एक असाधारण धारणा है कि चेतना को, जिसे आत्मा का एक गुण माना गया है, स्व-दीप्तिमय तथा स्वतन्त्र रूप से प्रकाशित माना जाये, जबकि आत्मा को इससे रिक्त तथा स्वयं की ही अभिव्यक्ति के लिए अपने ही गुण पर निर्भर प्रस्तावित किया गया है। इस स्थिति का उद्भव द्रव्य और गुण के मध्य सही सम्बन्धों के पर्याप्त विश्लेषण और विचार न करने के कारण ही हुआ प्रतीत होता है।

सांख्य-योग का दृष्टिकोण

इस मत के अनुसार ज्ञान उस बुद्धि का मानसिक व्यवसाय है जो कि स्वरूपतः अचेतन है और इस तरह स्वयं की चेतना का एक विषय नहीं हो सकती है। वह न किसी विषय को जान सकती है और न स्वयम् को ही अभिव्यक्त कर सकती है। वह आत्मा द्वारा ज्ञात बनती है, जिसका स्वरूप केवल शुद्ध चित् या प्रकाश है। योग सूत्र ४.१९ (न तत् स्वभासम् दृश्यत्वात्) यह स्पष्ट करता है कि मनस् या बुद्धि स्वयं को प्रकाशित क्यों नहीं कर सकते हैं। मनस् या बुद्धि स्व-प्रकाशन में इस कारण असमर्थ हैं, क्योंकि वे स्वयं ही दृष्टि या ज्ञान के एक विषय हैं। इसी सूत्र के आधार पर वैशारदी ने निरूपण किया है कि स्व-प्रकाशत्व, जो कि मनस् के सम्बन्ध में अव्याख्यात्मक है, आत्मा के प्रसंग में वैसा क्यों नहीं है। यह भेद इसलिए है क्योंकि आत्मा की स्व-दीप्ति किसी अन्य वस्तु पर निर्भर नहीं है और उसके अनुभव का विषय भी वह नहीं बनती है। मनस् पदार्थ, जो कि दृष्टि या ज्ञान का एक विषय

है, स्वयं को प्रकाशित कैसे कर सकता है ? वह आत्मा का प्रतिबिम्ब मात्र है, जो कि प्रकाश का स्रोत है। आत्मा से विकीर्णित प्रकाश ही केवल उसमें प्रतिफलित होता है। मनस् या बुद्धि अनुभव के विषय हैं और रूपांतरित होते रहते हैं, जब कि आत्मा रूपान्तरण से कभी नहीं गुजरती, और न ही अनुभव का विषय ही कभी बनती है। यह अपरिवर्तनशील आत्मा ही स्व-दीप्तिमय है जो कि विषय और ज्ञान दोनों को जानती है।

योग सूत्रों के अनुसार न्याय का अनुव्यवसाय सिद्धान्त असन्तोषजनक समझा गया है। वह स्मृति-विभ्रम की ओर ले जाता है। क्योंकि, यदि हमें ज्ञान के ज्ञान में विश्वास करना पड़े, तो मानसिक संस्कार उतने ही होंगे जितनी कि ज्ञान के ज्ञान की संख्या होगी और परिणामत: संस्मरणों की संख्या भी उतनी ही हो जाना आवश्यक होगी, जिसका फल अन्ततः, स्मृति-विभ्रम से अन्यथा और क्या हो सकता है। इस कारण योग सूत्रकार ने चेतना सिद्धान्त को ही केवल स्व-उद्घटित सिद्धान्त की भाँति ग्रहण किया है।

यथार्थवादी दृष्टिकोण

न्यायानुसार, 'मैं यह देखता हूँ', में दो ज्ञान सन्निहित हैं। 'यह' का प्रथम तथा मौलिक ज्ञान, जिसे परिभाषिक रूप से व्यवसाय कहा गया है, प्रथम ज्ञान व्यवसाय है जो कि ज्ञाता से विषय के संस्पर्श से उत्पन्न होता है। 'मैं देखता हूँ' अनुव्यवसाय है जिस का उद्भव मनस् के साथ उसके सम्पर्क के कारण होता है। व्यवसाय या प्रथम ज्ञान हमें कभी भी 'मैं देखता हूँ' इस रूप में नहीं होता है। उसका रूप सदैव 'वह यह है' होता है और चूँकि हमारी सम्पूर्ण क्रियाएँ वस्तुओं के सुनिश्चित ज्ञान से प्रारम्भ होती हैं न कि ज्ञान के ज्ञान से, इस कारण यह दृष्टिकोण हमारे दैनिक अनुभव के साथ बहुत कुछ सहमत है। यह प्रथम ज्ञान का व्यवसाय ही है जो कि वस्तुओं को जानता है। उसका स्वयं के ज्ञान से कोई सम्बन्ध नहीं है। उत्तरोत्तर ज्ञान से इन्कार नहीं किया गया है किन्तु वह केवल बाद में ही प्रगट होता है। नैयायिकों का विश्वास है कि ज्ञानों का स्व-बोध नहीं होता है, किन्तु वे मानसिक प्रत्यक्षीकरण (मानस प्रत्यक्ष) द्वारा ज्ञान-गम्य जरूर हैं। उनके अनुसार चेतना कि अनुमति न तो ज्ञानता से होती है जैसा कि भट्ट सम्प्रदाय का विश्वास है और न वह स्व-बोधित होती है जैसी कि वेदान्त तथा योगाचार की मान्यता है। नैयायिक विचारकों की दृष्टि से उसका प्रत्यक्षीकरण अन्य ज्ञान के द्वारा होता है। कोई ज्ञान स्वयं अपने को नही जानता। उसका ज्ञान किसी अन्य ज्ञान द्वारा ही सम्भव होता है।

'ज्ञानम् ज्ञानान्तर अवेद्यम्, प्रमेयत्वात् पटादिवत् ।' कोई ज्ञान स्वयं अपने पर परावर्तित नहीं हो सकता, वह स्व-प्रकाश नहीं, केवल परप्रकाश ही होता है। इस तरह, न्याय-यथार्थवाद ज्ञान या चेतना को स्व-प्रकाश नहीं मानता है। उसके अनुसार ज्ञान या चेतना केवल परप्रकाश ही है।

स्वप्रकाशत्व पर न्याय भाष्य

न्याय भाष्य की मान्यता है कि ज्ञान स्वज्ञेय नहीं है[१]। एक ज्ञान दूसरे ज्ञान द्वारा प्रत्यक्ष होता है। न्याय सूत्र २.१, १६ ज्ञान-साधनों के ज्ञेयत्व के सम्बन्ध में प्रश्न उपस्थित करता है। इस प्रसंग में न्यायभाष्य के समक्ष केवल स्व-प्रकाशत्व दोष के ही दो विकल्प प्रस्तुत हैं। वह कहता है कि यह परिस्थित्यानुसार निश्चित होता है कि कोई वस्तु उसी प्रकार प्रत्यक्षीकरण की विषय भी बन सकती है जिस प्रकार कि वह प्रत्यक्ष का साधन बन सकती है।[२] इस भाँति आत्मा एक परिस्थिति के अन्तर्गत ज्ञाता है तथा अन्य के अन्तर्गत ज्ञेय है। अनवस्था दोष के आक्षेप का उत्तर भाष्य ने यह दिया है कि ज्ञान के विषयों और ज्ञान के उपकरणों के ज्ञेय होने के आधार पर सम्पूर्ण प्रयोग की व्याख्या की जा सकती है तथा अनवस्था दोष से कुछ भी उपलब्ध नहीं होता; जिसका अर्थ है कि भाष्य द्वारा अनवस्था दोष से कुछ के आक्षेप को अत्यन्त सैद्धान्तिक होने के कारण अस्वीकृत कर दिया जाता है।

न्याय दर्शन, इस तरह, इस निष्पत्ति से अपने आपको सन्तुष्ट कर लेता है कि ज्ञान स्व-प्रकाश नहीं है, क्योंकि यह परिकल्पना, श्रेष्ठता, उत्कर्ष, सुख तथा सर्वान्तिम मुक्ति पाने के व्यावहारिक प्रयोजन के लिए आवश्यकीय नहीं है, जिसका कि न्याय दर्शन में चिन्तन की सम्पूर्ण वृति पर आधिपत्य है।

न्यायभाष्य दृष्टिकोण की आलोचना

वेदान्तवादी द्वारा न्याय दृष्टिबिन्दु पर इस आधार पर आक्षेप किया गया है कि अनुव्यवसाय का अस्तित्व वस्तुत: असम्भव है। वह प्रश्न करता है कि यदि यह भी मान लिया जाय कि एक ज्ञान का दूसरे अनुगामी ज्ञान द्वारा प्रत्यक्ष होता है, जो कि अपने आप में नितान्त अविवेकपूर्ण है, तब द्वितीय ज्ञान-अनुव्यवसाय का उद्भव क्या उस समय होता है जब कि प्रथम ज्ञान-व्यवसाय अभी अस्तित्व में है, या कि उस समय जब कि प्रथम ज्ञान विनष्ट हो

१. न्याय भाष्य २.१. १६।
२. न्याय भाष्य।

गया है।[1] प्रथम विकल्प सम्भव नहीं है क्योंकि न्याय-वैशेषिक के अनुसार ज्ञान समकालीन नहीं, क्रमानुगत होते हैं। द्वितीय विकल्प भी स्पष्टतया असम्भव है, क्योंकि यदि अनुव्यवसाय उस समय पैदा होता है, जब कि व्यवसाय विनष्ट हो चुका है, तो फिर अनुव्यवसाय द्वारा, यदि अनस्तित्ववान् व्यवसाय का प्रत्यक्ष होता है, तो यह प्रत्यक्षीकरण यथार्थ नहीं, भ्रमात्मक है।

नवीन स्थितियों तथा नई कठिनाइयों को पैदा करके गंगेश द्वारा तत्व-चिन्तामणि[2] में उपरोक्त आलोचना का प्रत्युत्तर देने का प्रयास किया गया है। क्योंकि, प्रथमतः यह उत्तर कि अनुव्यवसाय ठीक उसी समय अस्तित्व में आता है, जिस समय कि व्यवसाय विनष्ट होता है तथा द्वितीयतः यह कि ज्ञानत्व है, न कि कोई ज्ञान विशेष जो कि शेष रहता हुआ चेतना को सोपाधिक बनाता है, न्याय की पूर्व-स्थिति में किसी प्रकार का भी परिवर्तन उपस्थित नहीं करता। यह पुनः, या तो अनवस्था दोष की ओर ले जाता है, या फिर सम्पूर्ण ज्ञान को ही असिद्ध कर देता है, क्योंकि इस दृष्टिकोण के अनुसार प्रथम ज्ञान में विश्वास करने का कोई भी कारण शेष नहीं रह जाता है, तथापि यह दैनिक अनुभव की बात है कि ज्ञान के होने के लक्ष्य में कोई भी सन्देह प्रगट नहीं करता है। एक अर्थ में कहा जा सकता है कि न्याय-वैशेषिक यथार्थवादी भी चेतना के स्व-प्रकाशत्व के स्वभाव को स्वीकार करता है, क्योंकि वह यदि व्यवसाय को नहीं, तो कम से कम अनुव्यवसाय को तो स्व-ज्ञेय मानता ही है।

यथार्थवादी, चेतना के स्वप्रकाशत्व के सिद्धान्त पर इस आधार पर भी आक्षेप करता है कि एक ही और वही वस्तु विषय और विषयी दोनों नहीं हो सकती है। वेदान्तवादी सदैव ही इस आक्षेप का प्रत्युत्तर श्रीहर्ष के शब्दों में इस प्रकार देता आया है कि वेदान्तवादी विषय और विषयी की मध्यकालीन असंगति को स्वीकार नहीं करता है, और विषयी और विषय यदि तात्विक रूप से नितान्त भिन्न वस्तुएँ होतीं तो न तो स्व-चेतना संभव हो सकती थी और न ज्ञान ही किसी अन्य प्रकार से सम्भव हो सकता था।[3] इसके साथ ही, ज्ञान के स्व-प्रकाशत्व में विश्वास करनेवाला प्रत्ययवादी, इस कारण ही कि वह इन प्रकाशत्व में विश्वास करता है, इस उपपत्ति का समर्थक नहीं है

१. न्याय भाष्य।

२. तत्व चिन्तामणि, पृष्ठ ८०४. ८, विव इन्द्रिका जिनद ९८ भाग १ अनव्यवसायवाद।

३. खण्डनखण्ड खाद्य पृष्ठ ६६।

कि एक ही वस्तु विषय और विषयी दोनों बनती है। ज्ञान-चेतना के स्व-ज्ञयत्व के सिद्धान्त पर उपरोक्त कठिनाई के आधार पर आक्षेप करना, वस्तुतः उन सिद्धान्त के मूल तत्वों को ही गलत रूप से समझना है। स्व-प्रकाशित होने का अर्थ एक विषय की भाँति प्रकाशित होना कदापि नहीं है। ज्ञान का विषय की भाँति प्रकाशित होने का सिद्धान्त तो प्रत्ययवादी का नहीं, स्वयं यथार्थ-वादी का ही है। प्रत्ययवादी के अनुसार ज्ञान के स्व-ज्ञेयत्व या स्व-प्रकाशत्व की क्रिया की उपमा किसी और क्रिया से नहीं दी जा सकती है। वह स्वयं अपने आप में एक अपूर्व और अद्वितीय क्रिया है।

कुमारिल भट्ट का दृष्टिकोण

कुमारिल मानते हैं कि ज्ञान उस समय अपने आपका प्रत्यक्ष नहीं करता जब कि वह किसी विषय का प्रत्यक्ष करता होता है। ज्ञान यद्यपि वाह्य वस्तुओं के प्रकाशन में प्रकाश-स्वरूप ही है, तथापि वह स्वयं अपने ज्ञेयत्व या प्रकाशत्व के प्रसंग में किसी अन्य ही क्रिया पर निर्भर करता है। उस समय जब कि वह अन्य किसी विषय के प्रत्यक्ष में संलग्न होता है, उसे स्वयं अपना प्रत्यक्ष नहीं होता। ज्ञान प्रकाशत्व का यह स्वभाव है कि वह वाह्य विषयों को तो प्रकाशित करता है, किन्तु स्व-प्रकाशत्व की क्षमता उसमें नहीं हैं। स्व-प्रकाशत्व के लिए उसे स्व-प्रकाश से भिन्न किसी अन्य क्रिया पर निर्भर होना पड़ता है : 'बाधयान्यत् प्रतीक्षते'। उसके प्रकाशयुक्त स्वभाव का विधान स्व-चेतना के हेतु नहीं, बल्कि केवल वाह्य विषयों के प्रकाशन के लिए ही है।[१] इस तरह आचार्य कुमारिल भट्ट के अनुसार ज्ञान स्वतः प्रकाश नहीं, केवल परप्रकाश ही है।

प्रभाकर के त्रिपुटी प्रत्यक्ष से भिन्न इस सम्प्रदायानुसार ज्ञान की क्रिया में चार खण्डांश सम्मिलित हैं। ज्ञान क्रिया के ये चार विधायक अंग निम्न है प्रथम, विषयों का कर्ता या ज्ञाता; द्वितीय, ज्ञान-विषय या ज्ञेय; तृतीय, उप-करणात्मक ज्ञान या कारण-ज्ञान की क्रिया जिस भाँति वस्तु चावल में पाकत्व पैदा कर देती है, उसी भाँति ज्ञान-क्रिया विषय में ज्ञातता पैदा कर देती है इसी ज्ञातता से कार्य की तरह हम उसके कारण-ज्ञान के अस्तित्व को अनुमित करते हैं। इस तरह ज्ञान की अनुमिति उसके विषय की ज्ञातता से होती है। कोई ज्ञान स्वयं उसके या किसी अन्य ज्ञान के द्वारा प्रत्यक्षीकृत नहीं होता, बल्कि उसकी अनुमिति उसके विषय में निहित ज्ञातता के आधार पर ही की

१. श्लोकवार्त्तिक, शून्यवाद १८७।

जाती है। 'ज्ञाततानुमेयम् ज्ञानम्'।[१] इस तरह कुमारिल के अनुसार ज्ञान का ज्ञान स्वप्रकाशत्व पर नहीं, अनुमान पर आधारित होता है।

भट्ट दृष्टिकोण की आलोचना

कुमारिल की ज्ञातता की परिकल्पना को प्रायः सार्वभौमिक रूप से अस्वीकृत किया गया है। श्रीधर ने इंगित किया है कि कुमारिल ने ज्ञाता की परिकल्पना में गाड़ी को बैलों के आगे बाँधने की भूल की है। उनके तर्क में उत्तार को पूर्व में रखने का हेत्वाभास निहित है क्योंकि ज्ञातता को ज्ञान का कारण नहीं, कार्य होना चाहिए।[२]

केशव मिश्र तथा शिवादित्य ने भी ज्ञातता की परिकल्पना को पूर्णतया अनावश्यक कहा है। ज्ञातता-ज्ञान और उसके विषय अद्वितीय सम्बन्ध से भिन्न कुछ भी नहीं हैं।[३] ज्ञेय बनना विषय का कोई गुण नहीं है। वह तो ज्ञाता और ज्ञेय के मध्य एक स्वयंभू सम्बन्ध मात्र है। विषय में ज्ञातता के एक नए गुण की उत्पत्ति का, चावल के पाकत्व के साधर्म्य पर दिया गया तर्क अरक्षणीय है, क्योंकि, चावल में तो हमें अ-पकी स्थिति से पकी स्थिति में परिवर्तन का अनुभव नहीं होता।[४] इसके अतिरिक्त, यदि एक ज्ञान ज्ञातता के किसी विशिष्ट गुण के द्वारा ज्ञेय बनता है, तो उस ज्ञातता को उसमें उत्पन्न किसी अन्य ज्ञातता के द्वारा अनुमिति करना होगा और इस प्रक्रिया का अन्त कहीं भी नहीं हो सकता। और यदि इस अनवस्था दोष से बचने के लिए ज्ञातता को स्व-प्रकाशी माना जाता है, तो हम उसी भाँति स्वयं ज्ञान को ही स्व-प्रकाशी मान सकते हैं।[५]

कुमारिल पर शान्तरक्षित की आलोचना

विज्ञानवाद के अनुसार भी स्वप्रकाशत्व ज्ञान का तात्विक स्वरूप है, और इस कारण तत्वसंग्रह में कुमारिल के ज्ञान के परप्रकाशी स्वरूप के सिद्धान्त पर तीक्ष्ण आक्रमण किया गया है। आचार्य शान्तरक्षित ने परप्रकाशत्व के सिद्धान्त के विरोध में शून्यवादी सूत्रसंग्रह श्लोकवार्तिक से उद्धरण प्रस्तुत

१. द्रष्टव्य पार्थसारा मिश्र की शास्त्र-दीपिका पृष्ठ १५७.१६१।
२. तर्क भाषा पृष्ठ ५४.५५।
३. न्याय कंदली पृष्ठ ६६।
४. न्याय कंदली पृष्ठ ६६ अननुभवात्।
५. न्याय कंदली पृष्ठ ६७।

किए हैं, तथा एक अरक्षणीय सिद्धान्त के रूप में उसकी आलोचना प्रस्तुत की है।[१]

कुमारिल की मान्यता है कि ज्ञान में स्वप्रकाशत्व की कोई क्षमता नहीं है। ज्ञान की प्रकाशन शक्ति, उनके अनुसार, केवल बाह्य विषयों को प्रकाशित करने तक ही आबद्ध है। इसके प्रत्युत्तर में शान्तरक्षित ने कहा है कि ज्ञान को स्वप्रत्यक्ष होना ही चाहिए, क्योंकि, ज्ञान जब किसी विषय का प्रत्यक्ष करता है, तब उसे उससे या तो भिन्न होना चाहिए या अभिन्न होना चाहिए। यदि ज्ञान विषय से भिन्न है तब वह उसका प्रत्यक्ष कभी भी नहीं करता, और यदि वह उससे अभिन्न है, तब विषय के प्रत्यक्षीकरण में स्वयं उसका प्रत्यक्ष भी अनिवार्यतः हो जाता है।

इस कारण शान्तरक्षित का कथन है कि यदि ज्ञान को स्वप्रकाशी नहीं माना जाता तो निम्न दो परिणाम में से किसी एक का स्वीकार आवश्यक हो जाता है। एक ओर या तो विषय अप्रत्यक्षीकृत छूट जाता है, या दूसरी ओर अनवस्था दोष की स्थिति पैदा हो जाती है। प्रथम परिणाम को स्वीकार करने पर, यदि ज्ञान को प्रत्यक्ष करने में असमर्थ है, तब ज्ञान के स्वयं अदृष्टिगोचर होने के कारण, विषय का प्रत्यक्ष भी अदृष्टिगोचर हो जाता है। इस तरह इस विकल्प के अनुसार ज्ञान का कोई अस्तित्व नहीं हो सकता। प्रथम परिणाम से भिन्न यदि द्वितीय परिणाम को स्वीकार किया जाता है, जहाँ कि किसी विषय के ज्ञान के ज्ञान के लिए ज्ञान की किसी अन्य क्रिया की अपेक्षा होती है, तो इस विकल्प का अन्ततः परिणाम अनवस्था दोष ही हो सकता है, क्योंकि उस स्थिति में प्रत्येक ज्ञान के ज्ञान के हेतु अन्य ज्ञान की अपेक्षा सदैव ही अन्तहीन रूप से बनी रहती है। इस अनवस्था दोष से बचाव का केवल एक ही मार्ग है कि हम माने कि सर्वज्ञान स्वप्रकाशी है, तथा कोई भी ज्ञान स्वयं अपने ज्ञान के हेतु किसी अन्य ज्ञान-क्रिया की अपेक्षा नहीं करता।[२]

जयन्त ने भी, कुमारिल के परप्रकाशवाद के विपरीत विज्ञानवाद द्वारा प्रकाशवाद के पक्ष में प्रस्तुत तर्कों को निम्न रूप से उपस्थित किया है।

यदि यथार्थवादी यह स्वीकार करता है कि ज्ञान स्वयं को अभिव्यक्त करने में असमर्थ जड़ पदार्थों को प्रकाशित करता है, तब उसे यह भी स्वीकार

१. तत्व संग्रह, श्लोक २०१२.१३.२६.२२।

२. तत्व संग्रह, श्लोक २०२५, २७, २८ तथा पंजिका।

कर लेने में कोई आपत्ति नहीं होनी चाहिए कि कोई ज्ञान तब तक किसी विषय का प्रत्यक्ष नहीं कर सकता है जबतक कि उस ज्ञान का स्वयं उसके पूर्व प्रत्यक्ष नहीं कर लिया गया है, क्योंकि जिस भाँति कि कोई दीपक बिना स्वयं दृष्टिगोचर हुए अन्य विषयों को प्रकाशित नहीं कर सकता है, उसी तरह ज्ञान स्वयं प्रत्यक्ष हुए बिना अन्य विषयों का प्रत्यक्ष कैसे कर सकता है ? यथार्थवादी यह कह सकता है कि किसी ज्ञान को उसकी उत्पत्ति के समय तथा उन क्षणों में ही जब कि वह अन्य विषयों को प्रकाशित कर रहा हैं, प्रत्यक्ष करना असम्भव है। जयन्त ने इसके उत्तर में कहा है कि यदि ज्ञान को उसकी उत्पत्ति के साथ ही नहीं जान लिया जाता तो किसी अन्य समय में भी उसका प्रत्यक्ष फिर नहीं हो सकता, क्योंकि वह बाद में समान ही बना रहेगा और कोई नये गुण ग्रहण नहीं करेगा जिनके कारण कि किसी अन्य समय में उसका प्रत्यक्ष सम्भव हो सके [१]।

जयंत की यह उक्ति न्याय-स्थिति पर किये गये वेदान्तवादी उत्तर के समान ही है कि यदि किसी ज्ञान का उसके प्रथम ज्ञान-व्यवसाय के समय ही प्रत्यक्ष नहीं कर लिया जाता है, तो फिर उसका प्रत्यक्ष कभी भी नहीं किया जा सकता। इस कारण, यथार्थवादी को मान लेना चाहिए कि किसी विषय का प्रत्यक्ष हो सके इसके पूर्व ही स्वयं ज्ञान का प्रत्यक्ष होना आवश्यक है।[२] यह कहा गया है कि किसी विषय का तब तक प्रत्यक्ष सम्भव नहीं है, जबतक कि उसके ज्ञान का भी प्रत्यक्ष नहीं कर लिया जाता। 'अप्रत्यक्षोपलम्भस्य नार्थदृष्टिः प्रसिद्ध्यति।'[२]

किन्तु यथार्थवादी प्रत्युत्तर देता है कि ज्ञान यदि स्व-प्रकाशी हो, तो उसका 'यह नीला है' इस रूप में नहीं बल्कि 'मैं नीला हूँ' इस रूप में प्रगट होना आवश्यक है।[३] किन्तु यह आक्षेप मुश्किल से युक्तियुक्त प्रतीत होता है। ज्ञान के स्वप्रकाशत्व से यह अर्थ प्रयोजित नहीं है कि ज्ञान ज्ञाता है, या कि उनमें कोई विषयी अन्तर्भावित है। कोई ज्ञान, यदि वह स्वयम् 'मैं' नहीं है, तो 'मैं नीला हूँ', इस रूप में प्रकट नहीं हो सकता। अतः यथार्थवादी आलोचक विवाद बिन्दु के निकट नहीं है। उसका आक्षेप व्यर्थ है क्योंकि स्व-प्रकाशत्व का अर्थ इस प्रस्ताव के बिना कि ज्ञान में कोई विषयी है या कि ज्ञान स्वयं को प्रत्यक्ष करता है, केवल ज्ञान की अपरोक्ष दृष्टिगोचरता ही है।

---

१. न्याय मंजरी पृष्ठ ५३८।

२. न्याय मंजरी पृष्ठ ५३८ धर्मकीर्ति से उद्धृत।

३. न्याय मंजरी, पृष्ठ ५४१।

स्व-प्रमाणत्व तथा स्व-प्रकाशत्व कुमारिल दर्शन की एक असंगति

मीमांसा दर्शन सम्पूर्ण ज्ञानों की आप्तता तथा सत्यता के आसाधारण दृष्टिकोण के लिए प्रसिद्ध है। इस दृष्टिकोण को जैमिनी सूत्र १. २ तथा ५, से लिया गया है तथा कुमारिल और प्रभाकर दोनों ने क्रमशः अपने ग्रन्थों, श्लोक वार्तिक तथा बृहती, में उसे विकसित किया है। कुमारिल श्लोकवार्तिक के द्वितीय सूत्र में इसकी व्याख्या करते हैं। यह निरूपित किया गया है कि सर्व ज्ञान, जैसे ही वे उद्भूत होते हैं, अन्तरस्थ रूप से प्रामाणिकता प्राप्त कर लेते हैं।

इस तरह ज्ञान में प्रमाणत्व के अन्तरस्थ गुण की प्रस्तावना से प्रारम्भ करने के कारण, अनुगामी खोज द्वारा जो कुछ सिद्ध करने को रह जाता है, वह उनकी प्रमाणिकता नहीं बल्कि अप्रामाणिकता है। यह प्रश्न पूछा गया है कि ज्ञान का प्रमाणत्व निहित कहाँ हो सकता है? वह या तो स्वयं उसमें ही निहित हो सकता है या उसके बाहर, ज्ञानेन्द्रियों की कार्य कुशलता आदि में निहित हो सकता है। किन्तु, यदि ज्ञान की प्रमाणिकता बाह्य स्थितियों पर निर्भर होती है और मूलतः उसका सम्बन्ध स्वयं ज्ञान से ही नहीं होता तो हमारा, व्यावहारिक अनुभव जैसा है वैसा नहीं हो सकता क्योंकि तब हमें जीवन के व्यावहारिक कार्यों के लिए उस समय तक राह देखनी होती जब-तक कि ज्ञान के वाह्य यन्त्र की प्रमाणिकता असंदिग्ध रूप से स्थापित न हो जाती। इस कारण यह विकल्प सम्भव नहीं है।

हम एक उदाहरण लेकर देखें, यदि कोई व्यक्ति लिखने की इच्छा से, किसी कलम को देखता तथा तथा उसे उठाता है, तो वह ऐसा अपने प्रत्यक्षीकरण की प्रामाणिकता के विश्वास की मान्यता के अन्तर्गत ही करता है। उसका ज्ञान ही, स्वयं उसका प्रमाण है। ज्ञान का प्रमाण कहीं बाहर से नहीं स्वतः उसके अपने भीतर से ही आता है। कोई भी साधारणतः कलम के प्रत्यक्ष के बाद यह विचारने नहीं बैठता है कि मुझे सोचना चाहिए कि क्या मेरा यह प्रत्यक्ष प्रमाणिक है क्योंकि वह ठीक उसी भाँति अप्रमाणिक भी हो सकता है? क्या मेरी इन्द्रियाँ परिपूर्ण रूप से ठीक स्थिति में हैं तथा क्या ज्ञान की अन्य परिस्थितियाँ भी एक प्रमाणिक प्रत्यक्ष की सम्भावना के पक्ष में है? क्या मैं सुनिश्चित हूँ कि जो वस्तु मैंने अभी देखी है वह कोई अन्य वस्तु नहीं, कलम ही है? यदि प्रत्यक्ष के पश्चात व्यवहार तक आने की यह सामान्य प्रक्रिया होती तो जीवन की समग्र व्यावहारिक क्रियात्मकता अबतक कभी की अपंग हो चुकी होती। इस स्थिति में जीवन की क्रियाएँ सम्भव ही कैसे हो सकती थीं? किन्तु सौभाग्य से वस्तुस्थिति ऐसी कदापि

नहीं है, और इससे हमारे ज्ञान, की स्वतः प्रामाणिकता सिद्ध होती है। ज्ञान स्वयं या तो हमारी ज्ञानेन्द्रियों के सदोष होने के कारण पैदा होते हैं या पश्चात् ज्ञान द्वारा जिनका बोध होता है। इन ज्ञानों के अतिरिक्त सर्वज्ञान स्वतः प्रमाण सत्य होते हैं।[१]

कुमारिल आगे भी कहते हैं कि यदि ज्ञान में स्वतः प्रमाण होने की यह शक्ति न होती, तो इस शक्ति को फिर उसमें किसी भी रूप से किसी अन्य के द्वारा पैदा नहीं किया जा सकता था। ज्ञान की प्रामाणिकता को यदि स्वतः से भिन्न किन्हीं अन्य परिस्थितियों पर निर्भर बनाया जाता है तो यह प्रक्रिया ज्ञान की प्रामाणिकता को तो किंचित भी सिद्ध नहीं करती है, बल्कि उसके विपरीत हमें केवल अनवस्था दोष की ओर उन्मुख कर जाती है। इस कारण ज्ञान के स्वतः प्रमाणत्व का सिद्धान्त ही युक्तियुक्त तथा सार्थक है। इस तरह जब कि ज्ञान मीमांसाशास्त्र के अन्य पद्धतियों में यह ज्ञान का प्रमाणत्व है जो कि सुनिश्चित किया जाता है, वहीं मीमांसा की ज्ञानमीमांसा में इस स्वतः प्रमाणवाद के कारण, इसके ठीक विपरीत, यह ज्ञान की अप्रामाणिकता है, जिसे कि प्रस्थापित करना होता है। किसी प्रत्यक्ष की प्रामाणिकता उसके बाहर से परतः नहीं आ सकती है, और उस समय भी, जब कि कोई प्रत्यक्ष बाद में बधित तथा असिद्ध सिद्ध होता है, पूर्वज्ञान से मूलतः सम्बन्धित प्रामाणिकता ही केवल असिद्ध होती है। पूर्व ज्ञान में यह प्रामाणिकता यदि पूर्व से ही निहित हो तो बाद में उसे उससे छीना भी नहीं जा सकता।

यह प्रश्न स्वाभाविक ही है कि स्वतः प्रमाणत्व अथवा ज्ञान की अन्तरस्थ प्रामाणिकता का सिद्धान्त स्वतः प्रकाशत्व या ज्ञान की अन्तरस्थ ज्ञेयता के सिद्धान्त से किस भाँति सम्बन्धित है। यह स्पष्ट दीखता है कि दोनों सिद्धान्त एक दूसरे में अन्तर्भावित हैं। दोनों यदि वस्तुतः तादात्म्यक् नहीं तो कम से कम एक दूसरे के पूरक तो प्रतीत होते ही हैं। यह कहना कि ज्ञान आन्तरिक रूप से प्रामाणिक है, वस्तुतः यही कहना है कि वह स्व-प्रकाशी है। स्वतः प्रमाणत्व का अर्थ स्वतः ज्ञानत्व से भिन्न और क्या हो सकता है। जिस तरह कोई किसी पदार्थ का प्रत्यक्ष करने के समान जब कुछ जानता है तो वह यह शंका भी प्रगट नहीं करता कि क्या वस्तुतः उस पदार्थ का प्रत्यक्ष कर रहा है, उसी भाँति कोई जब कुछ जानता है तो वह यह शंका भी प्रगट नहीं करता है कि क्या उसने वस्तुतः कुछ जाना भी है। इसका कारण यह है कि दोनों ही

१ श्लोक वार्तिक सूत्र २।

स्थितियों में ज्ञान का बोध अपनी अभिव्यक्ति को स्वतः अपने ही साथ लेकर चलता है। ज्ञान यदि स्वप्रकाशी न होता और अपने बोध के लिए उसे किसी अन्य पर निर्भर रहना पड़ता तो उसकी आन्तरिक प्रमाणिकता को भी अपरोक्ष तथा सीधे रूप से प्रस्थापित नहीं किया जा सकता। स्वत: प्रमाणत्व तथा स्वत: प्रकाशत्व की धारणाओं में यदि कोई भेद करना सम्भव है तो केवल यही कहा जा सकता है कि ज्ञान की अन्तरस्थ प्रामाणिकता की धारणा ज्ञान की अन्तरस्थ ज्ञेयता को पूर्व-प्रस्तावित करती है।

स्वत: प्रमाणत्व की धारणा में, कोई यदि स्वत; प्रकाशत्व से कुछ अधिक देख पाने के प्रयास में लगा हुआ है तो उसका श्रम निरर्थक है, क्योंकि ये स्वरूपत: तादात्म्यक् धारणायें हैं। स्वत: प्रमाणत्व का अर्थ स्वत: ज्ञेयत्व से किञ्चित भी अधिक और अतिरिक्त नहीं है। यह वक्तव्य धर्मकीर्ति के प्रसिद्ध वक्तव्य के समान ही है कि कोई यदि ज्ञान के अपरोक्ष रूप से ज्ञेय होने में विश्वास नहीं करता है, तो वह किसी भी वस्तु के ज्ञान को प्रस्थापित नहीं कर सकता। इसी तरह स्वतः ज्ञेयत्व की धारणा के अभाव में स्वतः प्रमाणत्व की धारणा को भी प्रस्थापित नहीं किया जा सकता है। इसके साथ ही साथ अनवस्था दोष, तथा प्रत्यक्षीकरण की असम्भावना की करीब-करीब समग्र युक्तियाँ, जो ज्ञान के परत: या वाह्य प्रमाणत्व के विरुद्ध प्रस्तुत की जाती हैं, ज्ञान के अ-स्वप्रकाशी स्वभाव के सिद्धान्त के विपरीत भी लागू होती हैं। हमारा विचार यह है कि उपरोक्त दोनों धारणाओं में मुश्किल से ही किसी भाँति का महत्वपूर्ण भेद निरूपित किया जा सकता है।

तथापि यह अत्यन्त आश्चर्यजनक है कि कुमारिल, जो कि अपने श्लोकवार्तिक के द्वितीय सूत्र में स्वतः प्रमाणत्व के सिद्धान्त को प्रस्थापित करते हैं, स्वयं ही किस भाँति बाद में उसी वार्तिक के शून्यवाद खण्ड में ज्ञान के स्वत; प्रकाशत्व के सिद्धान्त के विपरीत चले जाते हैं। स्वत: प्रकाशत्व की धारणा की कुमारिल द्वारा प्रस्तुत आलोचना प्रथम द्रष्टया ही अर्ध-हृदय से समर्थित प्रतीत होती है। वह अत्यन्त प्रभावहीन और असन्तोषजनक है। कुमारिल द्वारा स्वतः प्रकाशत्व के विरोध में कोई भी गम्भीर युक्ति प्रस्तुत नहीं की गई है। यह कथन तो निश्चित ही उपयुक्त नहीं कहा जा सकता है कि ज्ञान चक्षु-प्रकाश की भाँति है जो कि स्वयं को नहीं, किन्तु केवल अन्य विषयों को ही प्रकाशित करता है।

स्वयं को प्रकाशित कर सकना चक्षु की क्षमता के बाहर है। ज्ञान की स्थिति भी चक्षु की ही तरह है। वह भी स्वयं को प्रकाशित करने में असमर्थ है।

हमने अन्य स्थान[१] पर चक्षु और ज्ञान के साधर्म्य की अनुपयुक्तता से सम्बन्ध में विस्तार से विचार किया है, तथा ज्ञान या चेतना के अ-स्वप्रकाशत्व की परिकल्पना की कठिनइयों को भी दर्शाया है। इस कारण इस स्थल पर विस्तार में जाना तो सम्भव नहीं है, फिर भी यह विचारणीय है कि क्या कोई ज्ञान की स्वतः प्रामाणिकता के सिद्धान्त को मानते हुए भी, एक ही साँस में विवेकपूर्ण रीति से ज्ञान की स्वज्ञेयता के सिद्धान्त को अस्वीकृत कर सकता है।

यह स्पष्ट प्रतीत होता है कि जो कुछ अन्तरस्थ रुप से स्व-ज्ञेय नहीं है उसे अन्तरस्थ रूप से स्व-प्रामाण्य भी प्रस्थापित नहीं किया जा सकता है, क्योंकि जो अपने क्षेत्रत्व के हेतु पश्चात ज्ञानों और अनुमानों पर निर्भर है, वह स्वयं अपनी प्रामाणिता के प्रतिकूल कैसे हो सकता है, और इस स्थिति में प्रमाणत्व आंतरिक नहीं, बल्कि वाह्य परिस्थतियों पर निर्भर वाह्य प्रमाणत्व या परतः प्रमाणत्व ही हो सकता हैं। अनवस्था दोष से बचने के लिये यदि ज्ञान की अन्तरस्थ स्व-प्रामाणिकता की स्वीकृत किया जाता है, तो ज्ञान की अन्तरस्थ स्व-ज्ञेयता के सम्बन्ध में यही दृष्टि ग्रहण करना आवश्यक हो जाता है। कुमारिल ने यह स्वीकार किया है कि यदि प्रमाणत्व ज्ञान से आन्तरिक तथा स्वरूप से सम्बन्धित नहीं है, तो उसे उस पर बाहर से किसी भी भाँति नहीं थोपा जा सकता है। ज्ञान के स्वज्ञेयत्व के सम्बन्ध में भी स्थिति पूर्णरूपेण यही है। ज्ञान का ज्ञेयत्व यदि ज्ञान के प्रथम चरण में ही उससे आंतरिक और स्वरूपतः सम्बन्धिन नहीं है तो उसे पश्चात् की किसी भी अवस्था में किसी भी रूप से उसमें प्रविष्ट नहीं किया जा सकता है।

ज्ञान या तो ज्ञान हो सकता है या अज्ञान, और यदि वह ज्ञान है, तब यह मानना ही कहीं अधिक युक्तियुक्त और सन्तोषजनक हैं कि वह अपरोक्षतया ज्ञात है, बजाय इसके कि वह तत्पश्चात ज्ञात बनता है। यह दृष्टिकोण तो माना ही नहीं जा सकता है कि ज्ञान अज्ञात है, क्योंकि प्रथमतः तो यह मानना ही अविववेकपूर्ण होगा कि विषय, ज्ञान के बिना स्वयं ज्ञेय बने ही, ज्ञेय बन जाते हैं, तथा द्वितीयतः, विचार के समग्र मतवाद इस बात को स्वीकार करने में सहमत हैं कि ज्ञान किन्हीं साधनों द्वारा किसी अवस्था में ज्ञेय अवश्य बनता है।

१. चतुर्थाध्याय।

यदि स्वतः ज्ञेयत्व तथा स्वतः प्रमाणत्व की धारणाओं के सम्बन्ध का उपरोक्त विश्लेषण सही है, तब यह प्रश्न उठता है कि कुमारिल ने स्वयं अपने को ही बाद में बाधित क्यों किया है ? यह प्रतीत होता है कि श्लोक-वार्तिक में शून्यवाद पर विवेचन करते सकय कुमारिल विज्ञानवाद के ज्ञान के विषय और विषयी की तात्विक तादात्म्यकता के सिद्धान्त के खण्डन की अतिचिन्ता में केवल असावधानीवश हीं स्वतः प्रकाशवाद की आलोचना में भी प्रवृत हो गए हैं। कुमारिल इस सामान्य भय से भयभीत प्रतीत होते हैं कि यदि चेतना के स्वतः प्रकाशत्व की धारणा या अपरोक्ष प्रत्यक्ष के सिद्धान्त की प्रस्थापना होती है तो उससे बौद्ध विज्ञानवाद के विषयीगत सिद्धान्त को वजन मिल जाता है। कुमारिल इस भय के कारण ही, विषयीवाद के अन्य विरोधियों की भाँति ही, विज्ञानवाद के इस सिद्धान्त के विपरीत कि विषय-जगत केवल ज्ञान की आन्तरिक विषयीगत ज्ञान धारा से भिन्न कुछ नहीं है, विषय-जगत को पूर्ण वाह्य अस्तित्व, स्वतंत्रता तथा परता प्रदान करने को इच्छुक हैं। विषयोवादी, विज्ञानवादी के विरीत, जो कि विषयीगत तथा विषयगत के मध्य किसी प्रकार का निरपेक्ष भेद नहीं करता है, यह मानना आवश्यक समझा गया है कि आन्तरिक ज्ञानो तथा वाह्य विषयों के दोनों विभिन्न जगत न तो कभी एक दूसरे में विलीन होते हैं और न तटस्थ रूष से दोनों विषयीगत अवस्थाओं तथा वाह्य विषयों की भाँति, प्रगट ही होते हैं। विषयीगत तथा विषयगत जगत स्वरूपतः एवं पृथक् हैं। ज्ञान के स्वतः ज्ञेयत्व के सिद्धान्त से इन्कार करने में कुमारिल के मस्तिष्क की प्रक्रिया कुछ इस प्रकार की प्रतीत होती है : यह स्वीकार करना कि ज्ञान स्व-प्रकाशी हैं, यह स्वीकृत करना है कि कोई विषय विषयी और विषय दोनों हो सकता है, और यह स्वीकार करना तो विषयीवादियों के पथ में सम्मिलित होना है, इसलिए यह घोषित करना आवश्यक है कि ज्ञान स्व-ज्ञेय या स्वप्रकाशी नहीं हो सकता है।

इस कारण कुकारिल मानते हैं कि कोई भी वस्तु विषयी और विषय दोनों नहीं हो सकती तथा ज्ञाता और ज्ञेय के कार्य एक ही तथा उसी ज्ञान से सम्बन्धित कदापि नहीं हो सकते। ज्ञान स्वतः ज्ञेय नहीं हो सकता, क्योंकि विषयीवादियों के प्रतिरोध के लिए ज्ञाता तथा ज्ञेय के मध्य एक विस्तृत खाई को हर मूल्य पर बनाये रखषा कुमारिल के लिए अत्यन्त आवश्यक प्रतीत होता है। ज्ञान के अन्य ज्ञान या अनुमान द्वारा ज्ञेय बनने के सिद्धान्त के परिणाम चाहे कुछ भी क्यों न हों, किन्तु ज्ञान का स्वयं उसका ही विषय किसी भी स्थिति में स्वीकृत नहीं किया जा सकता।

इस तरह, ज्ञान की आन्तरिक स्थितियों तथा विषयों के बाह्यजगत के मध्य विषयीवादी के विरोध में विभेद बनाए रखने की आवश्यकता के प्रभाव के अन्तर्गत कुमारिल यह भूल जाते हैं कि वैदिक शास्त्राज्ञा की अपरोक्ष तथा अन्तरस्थ प्रामाणिकता की एक इसी तरह की आवश्यकता के दबाव के अन्तर्गत उन्होंने स्वयं ही अपने ग्रन्थ श्लोकवार्तिक के द्वितीय सूत्र में क्या प्रस्थापित करने का प्रयास किया है। कुमारिल जानते हैं कि ज्ञान के अन्तरस्थ प्रमाणत्व के सिद्धान्त के अभाव में वेदों की अन्तरस्थ आप्तता को किसी भी तरह प्रस्थापित नहीं किया जा सकता। किन्तु विषयीवादी प्रत्ययवाद को आमूल विनष्ट करने के अपने अति उत्साह एवं व्यग्रता में उन्हें यह बोध नहीं रह जाता है कि वे स्वतः प्रकाशत्व का निषेध करके स्वयं अपने ही द्वारा प्रतिपादित सिद्धान्त का विरोध कर रहे हैं। स्वतः प्रकाशत्व से अस्वीकार करके कुमारिल ने अपनी दर्शन प्रणाली में जो असंगति पैदा कर ली है, वह इतनी सुस्पष्ट है कि किसी को भी बिना दिखे नहीं रह सकती। फिर विषयवादी प्रत्ययवाद के खंडन के हेतु यह आक्रमण आवश्यक भी नहीं है, इसीलिए कुमारिल की स्थिति अत्यन्त दयनीय हो जाती है।

यह देख पाना निश्चय ही अत्यन्त कठिन है कि विषयीवादी प्रत्ययवाद के विरुद्ध ज्ञानानुभव की विषयकता की पुर्नस्थापना के हेतु आखिर ज्ञान की स्वतः ज्ञेयता को अस्वीकृत करना क्यों आवश्यक समझा जाता है। किन्तु, इस उद्घोषणा की बार बार पुनरुक्ति के बावजूद भी कि स्वतः प्रकाशत्व के सिद्धान्त से यह अर्थ कभी भी अभिहित नहीं है कि ज्ञान भी मत के अतिरिक्त और कोई आधार नहीं है, या कि ज्ञान स्वयं ही अपना विषयी और विषय है, दार्शनिकों के एक वर्ग विशेष में यह भ्रान्त धारणा अत्यन्त सामान्य रूप से प्रचलित रही है कि स्वतः ज्ञेयत्व का सिद्धान्त विषय जगत की विषयकता को समाप्त कर देता है। यह वस्तुस्थिति को बिल्कुल उल्टे रूप से ग्रहण करना है। इसके ठीक विपरीत ज्ञान के स्वतः ज्ञेयत्व का सिद्धान्त ज्ञान-विषय की विषयकता की परिपूर्ण वाह्यता के विश्वास से पूर्णतया संगतिपूर्ण है। इसका ज्वलन्त उदाहरण आचार्य शंकर हैं, जो कि ज्ञान के स्वतः ज्ञेयत्व का सिद्धान्त तथा ज्ञान विषय की विषयकता दोनों को, विज्ञानवादी विषयीवादी के अपने विरोध में किंचित् भी ढीले हुए बिना, मान्यता प्रदान करते हैं। इस कथन का कि ज्ञान के ज्ञान का ग्रहण अपरोक्ष रूप से तथा ज्ञान-विषय के ज्ञान बनने के समकालीन ही होता है, यह कदापि अर्थ नहीं है कि ज्ञान तथा उसका मनस्-अतिरिक्त आधार या विषय दोनों एक और तादात्म्यक् हैं, जिससे कि

विषयीवाद के विरोधी विचारक इतने भयभीत प्रतीत होते हैं। यह कहने का अर्थ भी कि ज्ञान स्वतः प्रकाशी है, बौद्ध विज्ञानवाद के साथ उसके ज्ञान-विषय की अयथार्थता की परिकल्पना को मान्यता प्रदान करना नहीं है। विषय-जगत की अयथार्थता तथा ज्ञान के स्वतः ज्ञेयत्व या स्वतः प्रकाशत्व का सिद्धान्त तादात्म्यक् नहीं है, तथापि इन दोनों धाराणाओं को दुर्भाग्यवश बहुधा भ्रान्त किया गया है, और एक को दूसरे में अन्योन्याश्रित रूप से उपलक्षित माना गया हैं। स्थिति अत्यन्त दुखद है। शंकर और प्रभाकर के अपवादों को छोड़ कर अन्य किसी भी दार्शनिक ने ज्ञान की स्वतः ज्ञेयता तथा ज्ञान की निरपेक्ष विषयीगतता की दो स्वरूपतः भिन्न धारणाओं को और उनसे सम्बद्ध समस्याओं को पृथक करने का कष्ट नहीं उठाया है। प्रथम धारणा, ज्ञानमीमांसाशास्त्र की समस्या की तरह, विषयों की सत्ताशास्त्रीय स्थिति की अनुत्तर धारणा से, विषय विस्तार में स्पष्ट रूप से अत्यन्त संकीर्ण हैं। यह देख पाना कठिन है कि ज्ञान के स्वतः ज्ञेयत्व के ज्ञानमीमांसात्मक सिद्धान्त का यथार्थ के सम्बन्ध में प्रतिपादित मानसिक विषयीवाद के तत्त्व मीमांसात्मक सिद्धान्त से किसी भी रूप में तादात्म्य नहीं किया जा सकता।

कुमारिल की स्थिति इस भ्रांत तादात्म्य पर ही निर्भर है, और इस कारण जो असंगति उनकी प्रणाली में आ गई है, वह यह है किया तो ज्ञान अन्तरस्थ रूप से स्वतः प्रमाणिक नहीं है या फिर वह अन्तरस्थ रूप से स्वतः ज्ञेय भी है। यह सम्भव नहीं हैं कि कुमारिल एक धारणा को ग्रहण कर लें और दूसरे से इन्कार कर दें। दोनों धारणायें या तो साथ ही साथ खड़ी होती हैं या साथ ही साथ गिर जाती हैं। स्वतः प्रमाणत्व का स्वीकार और स्वतः ज्ञेयत्व का विरोध एक साथ ही किसी भी भांति नहीं किया जा सकता है। इस सम्बन्ध में यह जान लेना अत्यन्त महत्वपूर्ण है कि कुमारिल जो भूल करते हैं, वह प्रभाकर नहीं करते। प्रभाकर कुमारिल से ज्ञान के स्वतः प्रमाणत्व के साथ ही साथ ज्ञान के स्वतः ज्ञेयत्व के सिद्धान्त को भी मान्यता प्रदान करते हैं, और इस तरह अपनी दर्शन प्रणाली को एक ऐसी असंगति से बचा लेते हैं जिससे की कुमारिल की प्रणाली को आन्तरिक आघात पहुँचा है।

स्वतः प्रकाशत्व की श्रीधर द्वारा आलोचना

श्रीधर इस कथन के साथ प्रभाकर की आलोचना में प्रवृत्त होते हैं कि ज्ञान आवश्यक रूप से स्वतः चेतन नहीं होता है, तथा चेतना में भी आवश्यक रूप से स्व चेतना कमावेशा स नहीं होता है। उदाहरणार्थ, 'यह घट है'

में विषयी तथा ज्ञान का नहीं, केवल विषय घट का ही प्रत्यक्ष है।[१] प्राथमिक ज्ञान अनिवार्यरूपेण सदैव केवल विषय का ही होता है। इस प्राथमिक ज्ञान को द्वितीय ज्ञान 'मैं घट को जानता हूँ' में प्रत्यक्ष किया जा सकता है, किन्तु यह सदैव ही नहीं होता। यह द्वितीय चेतना स्वयं तथा विषयी को उद्‌घाटित करती है, किन्तु इसमें भी विषयी के ज्ञान द्वारा विशेषित घट का मानसिक प्रत्यक्ष ही होता है।[२] इस कारण, श्रीधर यह निष्कर्ष निकालते हैं कि ज्ञान मूलतः तथा स्वयं अपने में स्व-चेतन नहीं है। चेतना तथा स्वचेतना दोनों को ही एक ही स्तर पर लाना स्पष्टतः बहुत ज्यादती है। इस तरह, जब कि ज्ञान की चेतना की सम्भावना से श्रीधर इन्कार नहीं करते, वह इससे इन्कार जरूर करते हैं कि प्राथमिक ज्ञान अपनी स्वचेतना या ज्ञेस्व-यत्व को अपने साथ लिए रहता है। उनके अनुसार चेतना स्वतः ज्ञेय इस कारण नहीं है, क्योंकि हमारे पास एक भी ऐसा उदाहरण नहीं है जिसमें कि एक ही और वही वस्तु विषय और उपकरण दोनों होती है।[३] दीपक भी, जो कि मनुष्य द्वारा जाना जाता है, आँख द्वारा ज्ञेय बनता है। किन्तु यह आक्षेप वस्तु-स्थिति की भ्रान्ति पर आधारित है। यह तथ्य कि दीपक आँख द्वारा ज्ञेय बनता है, दीपक के प्रकाश को उसी प्रकार अप्रकाशवान नहीं बनाता जिस तरह कि कुछ विशेष परिस्थितियों के अभाव में सूर्य का प्रकाशित न होना उसे अ-स्व-प्रकाशी नहीं बनाता। चेतना का स्व-प्रकाशत्व प्रत्यक्षीकरण के सामान्य मनोविज्ञान के किसी प्रतिवाद में स्वीकृत नहीं किया गया है, किन्तु वह केवल यही घोषित करता है कि जब कभी भी चेतना का उद्भव होता है तब उसका ज्ञान भी तत्क्षण ही, बिना उसे जानने की किसी अन्य मानसिक प्रक्रिया के हो जाता है। किन्तु श्रीधर पूछते हैं: 'वह क्या है जिसका कि ज्ञान होता है? वह कोई विषय है जिसका कि ज्ञान होता है, या कि ज्ञान ही है जिसका ज्ञान होता है? और यदि ज्ञान ही है जिसका कि ज्ञान होता है, तब किसी विषय के ज्ञेय बनने के स्थान पर कहना होगा कि यह स्वयं ज्ञान ही है जिसका प्रत्यक्ष होता है।

श्रीधर के खंडन में कहा जा सकता है कि उनका प्रतिवाद एक अनावश्यक युक्तिवाद प्रतीत होता है, क्योंकि ज्ञान कभी भी ज्ञात के विषय में भिन्न नहीं होता है। संपूर्ण ज्ञान किसी न किसी विषय का ही ज्ञान है, और

१. न्याय कंदली पृष्ठ ९१

२. न्याय कंदली पृष्ठ ९२

३. न्याय कंदली पृष्ठ ९०. ९१

अतएव ज्ञान के स्वतः प्रकाशत्व की प्रत्येक घटना भी किसी विषय के ज्ञान की ही घटना है। श्रीधर यहाँ ज्ञान तथा ज्ञान के विषय में पूर्ण विभेद करते हैं, जो कि मुश्किल से ही न्याययुक्त कहा जा सकता है। यदि, 'मैं घट को देखता हूँ' में ज्ञान का कोई ज्ञान नहीं है, तब स्वतः घट के ज्ञान के यथार्थ अस्तित्व की प्रतिभू क्या है, जिसे कि यथार्थवादी पूर्व स्वीकृत ही मान लेता है? श्रीहर्ष ने यथार्थवादी के इन्हीं सिक्कों में उसके सिद्धान्त का प्रतिवाद प्रस्तुत किया है। वह स्वतः ज्ञान के ही अस्तित्व की उस प्रतिभू की माँग करके जिसके ऊपर कि अन्य समस्त क्रियायें निर्भर होती हैं, यथार्थवादी के ही शस्त्र से उसका मुकाबिला करते हैं। श्रीहर्ष ने पूछा है कि यह निर्दिष्ट करने को क्या है कि ज्ञान यथार्थ है और वह अयथार्थ क्यों नहीं हो सकता है? ज्ञान का जब कभी भी उद्भव होता है तब यह सन्देह कभी नहीं जागता है कि 'क्या मैं जान रहा हूँ' या 'क्या मैं नहीं जान रहा हूँ ?' जिससे कि यह स्पष्टतया सिद्ध और प्रगट होता है कि ज्ञान स्व-प्रकाशी है। उसे जानने के लिए न किसी और क्रिया की अपेक्षा है, और न वह अज्ञेय ही है, बल्कि उसका ज्ञान स्वयं उसमें ही निहित होता है।

स्व प्रकाशत्व की जयन्त द्वारा आलोचना

आचार्य जयन्त भट्ट की न्याय मंजरी में चेतना के स्व-प्रकाशत्व पर हमें सर्वाधिक तीव्र आलोचना प्राप्त होती है। उनकी आचोचना में चेतना के पर-प्रकाशत्व के स्वभाव पर जो दिया गया है, तथा चेतना के अपरोक्षत्व की धारणा के खण्डन का सबल प्रयास किया गया है, जो कि स्व-प्रकाशत्व का ही उपसिद्धान्त है। इस तरह जयन्त की आलोचना को इन दोनों सीमाओं में परिबद्ध कहा जा सकता है। चेतना के स्वप्रकाशत्व का सिद्धान्त चेतना की अपरोक्षानुभूति के सिद्धान्त का ही सहयोगी है, जिसका विरोध भी महान यथार्थवादी आचार्य जयन्त द्वारा उसकी उपलक्षणाओं के कारण आवश्यक हो जाता है।

जयन्त के अनुसार चेतना स्वयं को नहीं, केवल पर-पदार्थों को ही प्रकाशित करने में समर्थ है। वह स्व-प्रकाशी नहीं है; क्योंकि वह जब अन्य विषयों का प्रत्यक्ष करती होती है तो उस समय स्वयं को प्रकाशित नहीं करती। वह चक्षु में उत्पन्न प्रकाश की भाँति है, जो किसी विषय को तो प्रकाशित करता है किन्तु स्वयं को प्रकाशित करना उसकी क्षमता में नहीं है। चेतना के स्व-प्रकाशत्व में न तो यथार्थ ही है और न विषयों के ज्ञान के हेतु उसके

ज्ञान की कोई आवश्यकता ही है। आँख को जिस तरह किसी पदार्थ के रंग को अभिव्यक्त करने के हेतु स्वयं प्रकाशित होना आवश्यकीय नहीं है, उसी तरह ज्ञान को भी अपने विषय को प्रकाशित करने के लिए स्वयं प्रकाशित होने की कोई अपेक्षा प्रतीत नहीं होती हैं। स्व-प्रकाशन पर प्रकाशन के हेतु आवश्यक नहीं है। ज्ञान का मौलिक स्वरूप स्वयं को नहीं, बल्कि केवल अपने विषय को प्रकाशित करना है।

जयन्त की इस अरक्षणीय स्थिति का प्रत्युत्तर वेदांतवादी तथा विज्ञानवादी द्वारा पहले ही यह दिया जा चुका है कि यदि ज्ञान स्वयं ज्ञान नहीं बनता है तो उसका विषय भी ज्ञात नहीं हो सकता है। यह प्रस्तावित करना स्वत: बाधित है कि ज्ञान का विषय दृष्टिगोचर नहीं हैं। अप्रकाशित स्वयं प्रकाशित हुए बिना किसी विषय को प्रकाशित नहीं कर सकता। चक्षु का साधर्म्य-दृष्टान्त उपयुक्त नहीं है, क्योंकि चक्षु का प्रकाश न तो ज्ञाता है और न ज्ञान है। चक्षु-प्रकाश उसी तरह की वस्तु नहीं हैं, जैसा कि चेतना का प्रकाश (चित्-प्रकाश) है। आँख, पौद्गलिक दीपक, और चैतन्य चेतना के प्रकाशों में स्पष्ट भेद करना अत्यन्त आवश्यक है। इन विभिन्न स्वरूपी-प्रकाशों में आंशिक समानता के आधार पर तादात्म्य करने की भूल के कारण ही वादानुवाद में अधिकांश भ्राति का जन्म हुआ है। चक्षु एक उपकरण मात्र है और अत: वह स्वयं गुप्त रहते हुए भी किसी पदार्थ को प्रकाशित करने के प्रयोजन को पूरा कर सकती है। उससे भिन्न, दीपक केवल अँधेरे को दूर करने के अर्थ में ही प्रकाश देता है, जब कि यह केवल चेतना का ही प्रकाश है जो कि विषय-अज्ञान या विषय के, प्रत्यक्ष के विपरीत. उस विषय को ज्ञात बनाने के अर्थ में प्रकाश देता है। चित्-प्रकाश, इस प्रकार, प्रकाश के शेष प्रकारों से मूलत: और अन्तरस्थ रूप से भिन्न है। वह सचेतन प्रकाश है और उसका चक्षु या दीपक के अचेतन प्रकाशों से किसी भी तरह तादात्म्य नहीं किया जा सकता है। वह, इस दृष्टि से अपूर्व और अद्वितीय है, और केवल स्वयं ही अपना उदाहरण है।

यथार्थवादी तथा प्रत्ययवादी दोनों के द्वारा ज्ञान के स्व-प्रकाशत्व के सम्बन्ध में अपनी अपनी स्थिति को व्यक्त तथा चित्रित करने के हेतु प्रयोग में लाये गये साधर्म्य दृष्टान्तों पर एक दृष्टिपात करना महत्वपूर्ण होने के साथ ही साथ कौतुकपूर्ण भी है। वेदान्तवादी दीपक के प्रकाश, तथा यथार्थवादी चक्षु के प्रकाश को अपने अपने दृष्टि विन्दु को प्रस्थापित करने के हेतु प्रयोग में लाते हैं, किन्तु क्षणभर को दोनों ही यह

विस्मृत कर देते प्रतीत होते हैं कि चेतना वस्तुतः इन दोनों में किसी के भी प्रकार या स्वरूप की नहीं है। विवाद में यह भी बहुधा भुला दिया है कि दीपक या चक्षु के प्रकाशों को केवल एक विशेष ज्ञानमीमांसात्मक विशिष्टता के अर्थ को ही अभिव्यक्त करने के लिए प्रयोग में लाया जाता है। प्रत्ययवादी द्वारा जब दीपक के दृष्टान्त को यह दिखाने के लिए प्रस्तुत किया जाता है कि ज्ञान का उसी तरह स्व-ज्ञेय होना आवश्यक है जिस तरह कि दीपक स्व-प्रकाशक है, तो जयन्त इस युक्ति को दोषयुक्त सिद्ध करते हैं। उनका कथन है कि यह साधर्म्य सदोष है, क्योंकि ज्ञान अपने विषय को उस अर्थ से बिल्कुल भिन्न अर्थों में प्रकाशित करता है जिसमें कि दीपक अपने विषय को प्रकाशित करता है। दीपक और चेतना में तात्विक भेद है। प्रकाश-स्वभावी होने मात्र से दोनों एक नहीं हो पाते। यह सत्य है कि दोनों ही प्रकाश-स्वभावी हैं, किन्तु तब भी दोनों में मूलतः भेद है क्योंकि जब कि चेतना चेतन है तब दीपक चेतन नहीं है। चेतन अचेतन का यह भेद अत्यन्त आन्तरिक और मौलिक है, और इस कारण. हम यह युक्ति प्रस्तुत नहीं कर सकते कि जिस अन्य विषयों को प्रकाशित करने के पूर्व दीपक के प्रकाश को स्वयं प्रत्यक्षीकृत होना चाहिए, उसी भाँति ज्ञान को भी अन्य विषयों को अभिव्यक्त करने के हेतु उनसे पूर्व स्वयं-प्रकाशित होना आवश्यक है।[1] इसके ठीक विपरीत जयन्त की युक्ति के ही आधार पर कोई यह सुझाव भी प्रस्तुत कर सकता था कि दीपक तथा चेतना के मध्य इस मौलिक भेद की गणना दीपक के बजाय चेतना के स्व-प्रकाशत्व के पक्ष में ही अधिक होना चाहिए। किन्तु जयन्त इस युक्ति को आधार मानकर एक बिल्कुल भिन्न निष्पत्ति पर पहुँचते हैं। इस युक्ति से वह जो निष्कर्ष लेते हैं, वह चेतना के स्वरूप को स्वप्रकाशी के विपरीत पर-प्रकाशी सिद्ध करता है।

चेतना के स्व-प्रकाशत्व के विरोध में जयन्त की द्वितीय युक्ति यह है कि हमें जगत में कभी भी किसी स्व-प्रकाश स्वरूपी विषय का अनुभव नहीं होता है।[2] प्रत्ययवादी द्वारा जयन्त की इस युक्ति के विरोध हेतु प्रकाश तथा शब्द को इस तरह के विषयों की भाँति प्रस्तुत किया जाता है जो स्व-प्रकाशी की तरह अनुभव में आते हैं। किन्तु जयन्त इस प्रत्युत्तर को मानने को तैयार नहीं हैं। उनके अनुसार शब्द तथा प्रकाश किसी भी रूप में स्व-प्रकाशी नहीं कहे जा सकते क्योंकि वे भी अपने प्रकाशन के लिए अन्य परिस्थितियों पर निर्भर होते

---

१. न्याय मंजरी पृष्ठ ५४२।

२. न्याय मंजरी पृष्ठ ५४२।

हैं। जयन्त भी स्वतः प्रकाशत्व के विरोध में श्रीधर के ही समान ज्ञान के मनोविज्ञान के इस तथ्य को प्रस्तुत करते हैं कि ज्ञान स्वतः प्रकाशी नहीं है क्योंकि वह भी अपने प्रकाशन में 'स्व' से भिन्न अन्य तथ्यों पर निर्भर होता है। इस तथ्य का बोध नहीं होता है। अनुगामी तथा उत्तरोत्तर ज्ञान के द्वारा केवल ज्ञान के ज्ञान का ही बोध होता है। यह अनुभव नहीं किया गया है कि चेतना के स्वतः प्रकाशत्व का सिद्धान्त अवेद्यत्व तथा वेद्यत्व के मध्य एक तृतीय सम्भावना के विकल्प की स्थापना मात्र करता है। यह प्रतिपादित किया गया है कि चेतना अवेद्य है, और न वेद्य है, क्योंकि वह स्व-वेद्य है। चित्सुख, स्व-चेतना की परिभाषा इस तरह करते हैं, 'अवेद्यत्वे सति अपरोक्ष व्यवहार योग्यता।'[१] अपरोक्षत्व के कारण 'वेद्य' तथा 'अवेद्यत्वे सति व्यवहार योग्यता' के मध्य इस भेद की ही वह संभावना है जिसे कि यथार्थवादी द्वारा इस वाद-विवाद में विस्मृत कर दिया गया है।

किन्तु जयन्त ने अपरोक्षज्ञान के सिद्धान्त को भी स्व-विरोधी माना है। उनके लिए आत्मा उसी कारणवश अपरोक्षानुभूति का विषय भी नहीं हो सकती है जिस कारणवश कि वह परोक्ष प्रत्यक्ष का विषय होने में असमर्थ है। आत्मा या चेतना या तो परोक्ष प्रत्यक्ष का विषय है, अथवा वह ज्ञान के किसी भी प्रकार का विषय नहीं हो सकती है।[२]

इस तरह, जयन्त प्रकाश तथा शब्द के साधर्म्यानुसार चेतना के स्व-प्रकाशत्व से भी इन्कार करते हैं। प्रकाश या शब्द जिस भाँति अपने प्रकाशन के लिए अपने से भिन्न उपकरणों पर निर्भर होने के कारण स्व-प्रकाशी नहीं है क्योंकि वह भी अपने प्रकाशन के लिए अपने से भिन्न परिस्थितियों पर निर्भर होता है। जयन्त चेतना को पर-प्रकाशी सिद्ध करने प्रयास में इस बात को बिल्कुल ही दृष्टि से बाहर कर देते हैं कि चेतना के पर-प्रकाशत्व के सिद्धान्त की उपलक्षणायें क्या हैं? वह भूल जाते हैं कि यदि चेतना या ज्ञान पर-प्रकाशी हैं तो उस स्थिति में या तो यह मानना होगा कि अज्ञेय ज्ञान विषयों का ज्ञान करता है जो कि नितान्त अविवेकपूर्ण एवं स्वविरोधी है, या फिर एक ज्ञान को दूसरे ज्ञान से ज्ञेय मान कर अनवस्था दोष को स्वीकार करना होगा। यह दोनों ही विकल्प स्वीकार-योग्य नहीं हो सकते, किन्तु इनकी ओर दृष्टिपात किये बिना ही यथार्थवादी जयन्त चेतना के पर-प्रकाशत्व को प्रस्थापित करने का प्रयास करते हैं। उनकी युक्तियाँ इस कारण भी सदोष हैं क्योंकि वह चक्षु, दीपक तथा चेतना के प्रकाशों के मूलतः भेद को अपने विवाद में बिल्कुल ही भूल जाते हैं।

स्वतः प्रकाशत्व की रामानुज द्वारा आलोचना

आचार्य रामानुज को चेतना के स्वरूप के सम्बन्ध में अर्धस्वप्रकाशवादी कहा जाता है, क्योंकि उनके अनुसार चेतना केवल कुछ परिस्थियों के अन्तर्गत ही स्वयं को प्रकाशित करती तथा स्वज्ञेय बनती है। सर्व परिस्थितियों तथा समयों के अन्तर्गत सब मनुष्यों को इसका प्रकाशन नहीं होता है। वह चेतना इस अर्थ में स्वतः प्रकाशी है कि वर्तमान क्षण में स्वयं अपने द्वारा स्वयं अपने आधार के समक्ष, वह स्वयं अपने को अभिव्यक्त करती है। हमें इस स्थिति का थोड़े विस्तार से निरीक्षण करना चाहिए। हम रामानुजभाष्य में पढ़ते हैं कि यह धारणा कि चेतना कोई विषय नहीं है, ज्ञाता विषयी के लिए उस समय तो उपयुक्त है जब कि वह अन्य विषयों को प्रकाशित करता होता हैं, किन्तु सर्वचेतनाओं के स्व-प्रकाशी से अन्यथा कभी न होने का कोई निरपेक्ष नियम नहीं है, क्योंकि सामान्य अनुभव और निरीक्षण यह बताता है कि एक व्यक्ति की चेतना अन्य किसी दूसरे व्यक्ति की चेतना या ज्ञान का विषय बन सकती है।[१] इस कारण रामानुज निष्कर्ष लेते हैं कि चेतना कभी स्व-प्रकाशी होती है और कभी नहीं होती है। स्व-प्रकाशत्व और चेतना का अस्तित्व किसी अविच्छेद्य नियम से बँधे हुए नहीं हैं। परिस्थिति विशेष में वह स्वज्ञेय बन सकती है और बनती है, किन्तु सर्वदा ऐसा होना आवश्यकीय नहीं है।

आचार्य रामानुज की इस अर्धस्व-प्रकाशवादी स्थिति को प्रतिपादित तथा धारण करना निश्चय ही कठिन है। यह कहना कि चेतना कुछ परिस्थितियों में स्वप्रकाशी नहीं होती है, वस्तुतः स्वप्रकाशत्व के पक्षविन्दु को पूर्णतया ही छोड़ देना है, क्योंकि कोई वस्तु उस गुण या धर्म को ग्रहण नहीं कर सकती है जो कि स्वरूपतः उसका अपना नहीं होता है, और न उस धर्म-स्वरूप को छोड़ ही सकती है जो कि उसका अपना होता है। यह युक्ति प्रस्तुत करना कि चेतना अपने आपको कुछ निश्चित परिस्थितियों और विशेष समयों के अन्तर्गत प्रकाशित करती है, या तो चेतना तथा उसके रूपान्तरों के बीच के विभेद को पूर्णतया भूल जाना है, या फिर 'चेतना' के पद के साथ अत्यन्त ढीले ढाले तथा अनिर्धारित रूप में खेलना है। किसी व्यक्ति की वह चेतना जो कि किसी अन्य व्यक्ति द्वारा जानी जा रही है तथा उसके मनस् में एक विषय की स्थिति में उपस्थित है, उस व्यक्ति की चेतना से नितान्त भिन्न है जो कि उसका ज्ञाता तथा विषयी है। इन दोनों की स्थितियों

के भ्रान्त तादात्म्य के आधार पर कोई युक्ति प्रस्तुत नहीं की जा सकती। चेतना के विषयों की भाँति चेतना के एक विषय तथा दूसरे विषय में कोई भेद नहीं होता, उस समय भी नहीं जब कि चेतना के दो विषयों में से एक विषय किसी व्यक्ति की पूर्व चेतना होती है। चेतना, चेतना की तरह, अपने स्वरूप में समवेत रूप से एक समान है। चेतना की एक अवस्था तथा दूसरी अवस्था के मध्य किसी प्रकार का अन्तर नहीं हैं। चेतना की अवस्था की भाँति उसकी प्रत्येक अवस्था एक समान होती है, किन्तु चेतना की एक अवस्था तथा चेतना स्वयं के बीच भेद अवश्य होता है। रामानुज की युक्ति का दोष इस भेद को न देख पाने में ही सन्निहित है। इस अन्तर को वह उस समय देखना भूल जाते हैं जब कहते हैं कि चेतना स्व-प्रकाशी नहीं है क्योंकि वह तदनन्तर एक विषय की भाँति भी जानी जाती है। चेतना स्वयं अपने ही रूप-भेदों से तादात्म्यक् नहीं है, जैसा कि रामानुज भ्रान्तिवश समझ लेते हैं। चेतना का उसके रूप-भेदों से तादात्म्य नहीं है क्योंकि ये रूप-भेद स्पप्रकाशी नहीं हैं। किन्तु चेतना तथा उसके रूप-भेदों को एक समझ लेने की भूल प्रायः की जाती है, क्योंकि दोनों एक दूसरे से अविभाज्य हैं, तथा वास्तविक अनुभव में एक को दूसरे से पृथक् कभी नहीं पाया। इस अपृथकता के कारण ही तादात्म्य की सहज भ्रांति हो जाती है। रामानुज का यह कथन समझ पाना नितान्त असम्भव है कि 'यह नहीं कहा जा सकता है, चेतना चेतना का विषथ बन कर, जैसे कि वह विषय बन सकती है, चेतन नहीं रह सकती क्योंकि इस कथन में विश्वास का अर्थ यह होगा कि किसी की चेतना की अतीतावस्थायें चेतना के विषय होने के कारण चेतन नहीं होती हैं'।[१] यहाँ यह पर्याप्त रूप से स्पष्ट हो जाता है कि रामानुज चेतना से उसकी विषयीभूत अवस्थाओं या रूप भेदों का अर्थ ग्रहण कहते हैं और इसे इन रूप-भेदों की चेतना के साथ समीकृत नहीं किया जा सकता। हम यहाँ चेतना के किसी विशिष्ट विषय से सम्बन्धित नहीं। हमारा सम्बन्ध और विचार का केन्द्र तो चेतना स्वयं ही है जो कि इन विषयों का विषयी है। यह कथन कि चेतना स्व-प्रकाशी नहीं है। क्योंकि बाद में वह चेतना का विषय बन सकती है, उसी भाँति भ्रान्तिपूर्ण है, जिस तरह कि यह कहना कि सूर्य को प्रकाशयुक्त नहीं कहा जा सकता है, क्योंकि वह अतीत में प्रकाश युक्त था तथा वर्तमान में दीवाल की ओट में प्रकाशित है, और प्रत्यक्ष द्वारा नहीं, केवल अनुमान से ही ज्ञात है। चेतना की कोई अतीत अवस्था चेतना का विषय बन सकती है पर इसका यह अर्थ कदापि नहीं है कि चेतना स्वयं चेतना का विषय बनती है, क्योंकि चेतना अपनी अवस्थाओं से तादात्म्यक्, नहीं हैं। हमारी अतीत

अवस्थायें इस अर्थ में निश्चय ही चेतन नहीं हैं, कि वे स्वयं के प्रति सचेत नहीं होती हैं। इसके अतिरिक्त, अतीत अवस्थायें, या इस दृष्टि से कोई भी अवस्था कभी चेतन नहीं होती, यह सदैव ही चेतनात्मा या चेतना है जो कि चेतन होती है। इस कारण, इस सम्बन्ध में अतीत अवस्थाओं या चेतना के विषय-वस्तु का रामानुज द्वारा प्रयुक्त सन्दर्भ नितान्त अर्थहीन और अप्रासंगिक प्रतीत होता है।

रामानुज के अनुसार चेतना के स्व-प्रकाशत्व का एकमात्र अर्थ यही हो सकता है कि वह वर्तमान क्षण में स्वयं अपने द्वारा, स्वयं अपने ही आधार के समक्ष अपने आपको प्रकाशित या अभिव्यक्त करती है, या पुनः यह कि वह स्वयं अपने द्वारा अपने ही विषय को सिद्ध करने में उपकरणात्मक है। कोई यहाँ यह प्रश्न पूछ सकता है कि 'वर्तमान क्षण में' का यहाँ क्या महत्व या अर्थ है ? उससे क्या यह अर्थ अभिहित है कि चेतना उस समय चेतन होती है, जब कि वह चेतन नहीं होती हैं ? किन्तु यह तो केवल पुनरुक्ति मात्र ही होगी जैसे कि यह कहना कि सूर्य उस समय प्रकाशित है जिस समय कि वह प्रकाशित है, और उस समय प्रकाशित नहीं है जिस समय कि वह प्रकाशित नहीं है। या क्या उसका अर्थ यह है कि चेतना अपने मौलिक तथा अन्तरस्थ स्वरूप में स्वयं अपने आधार के समक्ष अपने आपको प्रकाशित करने में समर्थ नहीं है ? और तब यह प्रश्न सहज ही प्रस्तुत किया जा सकता है कि ऐसा कौन-सा विषय है जो कि किसी न किसी रूप में स्वयं अपने अस्तित्व द्वारा स्वयं अपने ही विषय को सिद्ध करने में उपकरणात्मक नहीं है ? क्या इसका अर्थ यह ग्रहण किया जा कि चेतना के अतिरिक्त अन्य विषय भी तादात्म्यक् अर्थों में स्व-प्रकाशी हैं।

रामानुज के लिए जगत में चेतना तथा किसी भी अन्य पदार्थ के बीच कोई विभिन्नता नहीं है। चेतना भी पदार्थों के इस जगत में एक पदार्थ मात्र है। वह अन्य पदार्थों से किसी आधारभूत अर्थ में भिन्न नहीं है, बल्कि उसी प्रकार से भिन्न है जैसे कि एक पदार्थ दूसरे पदार्थ से भिन्न होता है। चेतना के स्वरूप से सन्बन्ध में रामानुज की यह स्थिति अत्यन्त असन्तोषजनक है। स्व-प्रकाशत्व को कुछ समय के लिए स्वीकार भी करना तथा नित्य रूप से उसे अस्वीकृत भी करना कदापि युक्तियुक्त नहीं हैं। इस सम्बन्ध में रामानुज की स्थिति अत्यन्त आक्षेपित नैयायिकों की स्थिति से भी कहीं अधिक असंगत और अयुक्तिपूर्ण है। क्योंकि, चेतना यदि केवल वर्तमान क्षण में ही

१. शेष पृष्ठ रामानुज भाष्य १. १. १. पृष्ठ २४

प्रकाशित होती है तथा किसी भी अन्य विषय की भाँति स्वयं का एक विषय हो सकती है, तब उसे वस्तुत: किसी भी अचेचन विषय से भिन्न नहीं कहा जा सकशा है। हम जब यह स्मरण करते हैं कि रामानुज न तो अपरोक्ष ज्ञान (अपरोक्षनुभूति) की सम्भावना में और न आत्मा के मौलिक चित् स्वरूप में ही विश्वास करते हैं, तब यह देख पाना निश्चय ही अत्यन्त कठिन हो जाता है कि वह अपने सिद्धान्तानुसार, ज्ञान के ज्ञानों के अनवस्था दोष से, या आत्मा को जड़ स्तर पर लाये बिना कैसे बच सकते हैं, जिनमें से कि कोई भी स्थिति उन्हें स्वीकार्य नहीं हो सकती है।

स्व-प्रकाशत्व तथा चेतना की निरपेक्ष अपरोक्षता

चेतना के स्वरूप की स्वत: प्रकाशत्व की धारणा उसके अपरोक्षत्व से निकटता से सम्बन्धित है। अपरोक्षत्व अनुभवमूलक या तार्किक विचार का लक्षण नहीं है। चेतना के स्वत: प्रकाशत्व को अस्वीकार करने वाला सिद्धान्त, अनिवार्य रूप से निषेध की ओर भी ले ही जाता है। इस कारण चेतना के स्वत; प्रकाशत्व तथा अपरोक्षत्व की धारणाओं को अन्योन्याश्रित कहा जा सकता है और उनका एक साथ चलना आवश्यक है। हम साधारणत: अस्तित्व तथा ज्ञान, या किसी विषय और उस विषय के ज्ञान में विभेद करते हैं। किन्तु अनुभवातीय या अपरोक्ष चेतना, विषयी और विषय, तथा ज्ञान और अस्तित्व के इस विभेद की समानरूपेण ही आधार भूमि है। अपरोक्ष रूप से अनुभूत चेतना के अन्तर्गत सर्वभेद समाहित हैं। उसमें ही ज्ञान और अस्तित्व या विषयी और विषय के भेद भी विलीन होते हैं। चेतना के इस अपूर्व तथा अद्वितीय स्वरूप को ही, जिसमें कि जानना ही होना, तथा अस्तित्व में होना ही ज्ञात होना है; और जिसमें ज्ञाता तथा ज्ञात, या ग्राहक तथा ग्राह्य के मध्य कोई भी मध्यवर्ती कड़ी नहीं है, उसका निरपेक्ष अपरोक्षत्व कहा जा सकता है। यहाँ चेतना को एक ही साथ साथ स्व-प्रकाश तथा अपरोक्ष विशेषित करके वर्णित किया जाता है। प्रकाश के इस आत्यन्तिक सिद्धान्त को अपनी स्व-अभिव्यक्ति के लिए किसी अन्य प्रकाश की अपेक्षा तो होती ही नहीं है, साथ ही स्व-ज्ञेयत्व का उसका अनुभव पूर्णरूपेण अपरोक्ष भी होता है जिसके अन्तर्गत कि विषयी और विषय, तथा ज्ञाता और ज्ञेय का कोई विभेद नहीं होता है। प्रकाशन उसका स्वरूप-कर्म है। वह उसमें बाहर से नहीं आता। प्रकाशत्व फिर उसका स्वरूप तादात्म्यक् है। इस स्व-प्रकाशी परम सिद्धान्त का अनुभव इन्द्रियानुभूति से नहीं किया जा सकता है। यह नहीं कि उसकी अनुभूति ही

नहीं होती है, बल्कि यह कि उसकी अनुभूति अपरोक्ष होती है। इन्द्रियाँ नहीं अपरोक्षनुभूति उनके ज्ञान का मार्ग हैं। 'अनिन्द्रियगोचरत्वे सत्यपरोक्षत्वात् ।'

अपरोक्ष रूप से अनुभूत आत्मा, जिसमें कि विषयी और विषय तथा ज्ञान और अस्तित्व के सर्वभेद विसर्जित हो जाते हैं, स्वाधार पर अस्तित्ववान एक यथार्थ सत्ता है। वह स्वतंत्र है और अपने अस्तित्व के लिए किसी की अपेक्षा नहीं रखती। किसी अन्य विषय की अनुपस्थिति में भी वह स्व-प्रकाशित रूप से उसी तरह अस्तित्व में [illegible] रहती है, जिस तरह कि सूर्य उससे प्रकाशित होनेवाले विषयों की अनुपस्थिति में भी प्रकाशवान बना रहता है। इस तरह स्व-प्रकाशत्व अपरोक्षत्व भी है, क्योंकि जो अपनी अभिव्यक्ति के लिए किसी अन्य वस्तु पर निर्भर नहीं है, वह बिना किसी की मध्यस्थता के अस्तित्व में भी बना रहता है क्योंकि यथार्थ में केवल स्व-दीप्तिमय आत्मा के अतिरिक्त और किसी का कोई अस्तित्व ही नहीं है। इस तरह यह कहना कि आत्मा स्व-प्रकाश है, इस कथन के ही समतुल्य है कि वह अपरोक्ष है।

यह सत्य है कि चेतना साधारणतः ज्ञाता तथा ज्ञेय के मध्य सम्बद्ध सूचित करनेवाला एक पद प्रतीत होती हैं, किन्तु थोड़ा सा ही विमर्श यह स्पष्ट कर देता है कि सम्बन्धों की चेतना भी वस्तुतः सम्बन्धहीन चेतना है, जो कि विद्युत् की चमक की भाँति एक साथ ही एक अविभाज्य एकता के रूप में ग्राह्य बनती है। यह भी यह सत्य है कि एक ही पदार्थ विषयी और विषय दोनों नहीं हो सकता है। किन्तु जिस तथ्य पर यहाँ बल दिया जा रहा है, वह यह है कि पारमार्थिक रूप से चेतना को न विषयी होना आवश्यक है और न विषय, और फिर भी वह स्वयं एक, समग्र, तथा अविभेदनीय प्रकाश है।

स्व-प्रकाशत्व तथा रहस्यवाद

प्रत्ययवाद द्वारा चेतना के स्व-प्रकाशत्व के सिद्धान्त को इसके अपूर्व एवं अद्वितीय स्वरूप को सिद्ध करने के हेतु मान्यता प्रदान की गई है, जो कि किसी भी जड़ विषय के स्वरूप से समग्ररूपेण भिन्न है। चेतना का स्वरूप विश्व के किसी भी अन्य पदार्थ के समान नहीं है। वह मूलतः स्वदीप्तिमय है, और केवल अपने ही समान है। चेतना का यह स्वयं ज्योति-स्वरूप यथार्थवादी को स्वीकार नहीं होता है। वह उसे प्रत्ययवादी द्वारा प्रदत्त अद्वितीय श्रेष्ठत्व के भवन से उतारकर विश्व के अन्य पदार्थों के साथ समानता के तल पर प्रतिष्ठित करना चाहता है। इस कारण यथार्थवादी की दृष्टि में चेतना अद्वितीय नहीं है। वह भी पदार्थों के इस जगत् में एक पदार्थ मात्र है।

चेतना के स्वतः प्रकाशत्व की धारणा में रहस्यवाद अवश्य ही प्रत्ययवाद के समर्थन में है। उन दोनों की दृष्टि में चेतना का स्वरूप स्वयं-ज्योति है। उसके पूर्ण अपरोक्षत्व के सम्बन्ध में भी दोनों सहमत हैं। रहस्यवाद ने भी स्वानुभव के अपरोक्षानुभूतिमय स्वरूप तथा ज्ञान के स्वतः प्रकाशत्व पर सदैव ही जोर दिया है। किन्तु, इस विन्दु पर प्रत्ययवाद तथा रहस्यवाद दोनों के यथार्थवादी दृष्टिकोण के समान रूप से विरोध में होने के कारण ही यह अनुमित नहीं होता है कि प्रत्ययवाद और रहस्यवाद अनिवार्यतः एक और समान हैं। उन दोनों में इस तरह की कोई एकता नहीं है। चेतना के स्व-प्रकाशत्व तथा अपरोक्षत्व के सम्बन्ध के पूर्वगामी विचार ज्ञान-क्रिया में उपलक्षित ज्ञान और चेतना के स्वभाव की परीक्षा पर आधारित है, और उनकी समानता के कारण यह कदापि नहीं समझना चाहिए कि उनमें रहस्यवाद से प्रत्यवाद की अन्य विन्दुओं पर ही किसी प्रकार की अनिवार्य सहमति समाहित है। किन्तु रहस्यवाद से यदि तार्किक विचारणा की अत्यंतिकता में अविश्वास का अर्थ ग्रहण किया जाय तब अपरोक्ष ज्ञान का प्रत्ययवादी सिद्धान्त निश्चय परम यथार्थ की अपरोक्षानुभूति के रहस्यवादी रुख के अत्यन्त निकट आ जाता है। रहस्यवादी रुख तार्किक विचार के प्रति अत्यन्त अविश्वास से भरा हुआ है, क्योंकि वह विषयी और विषय तथा ज्ञान और अस्तित्व के विभेद द्वारा ही यथार्थ को जानने का प्रयत्न करता है, जब कि भेदहीन सत्य को भेद की विधि के द्वारा कभी भी नहीं जाना जा सकता है। प्रत्ययवाद और रहस्यवाद का परम चेतना या परम यथार्थ की अपरोक्षानुभूति के इस उभय विन्दु पर ही मिलन होता है और दोनों ही अस्तित्व तथा ज्ञान की एकता या तादात्म्य को स्वीकृति प्रदान करते हैं, किन्तु जबकि रहस्यवाद अस्तित्व की प्रतिष्ठा से इस तादात्म्य को प्राप्त करता है, प्रत्ययवाद ज्ञान की प्रस्थापना से इसी लक्ष्य को पाता है। अस्तित्व और ज्ञान का दोनों की ही दृष्टि में अभेद है किन्तु एक जबकि अस्तित्व पर बल देता है तब दूसरा ज्ञान पर बल देता है।

इस कारण यह समझ लेना आवश्यक है कि स्वतः प्रकाशत्व का दृष्टिकोण आवश्यक रूप से रहस्यवादी नहीं है। इसका यहाँ समस्त ज्ञान-स्थितियों की एक आधारभूत ज्ञानमीमांसात्मक पूर्वमान्यता के रूप में ही प्रतिपादन किया गया है।

चेतना का स्वयं-भू-स्वरूप

ज्ञानात्मक सम्बन्ध मौलिक रूप से अद्वितीय तथा स्वयंभू है। उसे स्व-रूप सम्बन्ध कहा गया है। इस अपूर्व सम्बन्ध की परिभाषा इस प्रकार की गई है; वह सम्बन्ध, जिसका अस्तित्व उस स्थिति में मान्य होना चाहिए जहाँ सुनि-

श्चित ज्ञान या निर्णय विशिष्ट ज्ञान समवाय या संयोग के अन्य सम्बन्धों के न तो स्वयं अपने आपमें पौद्गलिक विषय है, और न मात्र मानसिक अवस्थिति है।[२] वह ज्ञात विषय का सत्व या स्वरूप या क्या है। वह अन्य सम्बन्धों से नितान्त भिन्न है और केवल स्व समान ही है। उसका स्वरूप काल-प्रसर तथा कार्य-कारणत्व के सम्बन्धों के अनुरूप नहीं है। वह किसी भी ज्ञान, अन्तर-विषयगत या अन्तर-विषयीगत सम्बन्ध से भी पूर्णरूपेण भिन्न तथा पृथक् है। ज्ञान का सम्बन्ध एक मौलिक और आधारभूत सम्बन्ध है, और इस कारण स्वयं उसके अतिरिक्त और किसी अन्य सम्बन्ध से उसका वर्णन नहीं किया जा सकता।

आचार्य उदयन ने प्रतिपादित किया है कि ज्ञान और उसके विषय के मध्य स्वरूप-सम्बन्ध का सम्बन्ध होता है, जिसके कारण कि प्रथम विषयी और उत्तरोत्तर विषय होता है। ज्ञान और उसके विषय के मध्य, आचार्य कुमारिल द्वारा प्रस्तावित ज्ञातता के रूप में किसी मध्यवर्ती यथार्थ का कोई अस्तित्व नहीं होता। ज्ञान और उसके विषय के मध्य का स्वभाविक सम्बन्ध, जिसके कारण कि प्रथम उत्तरोत्तर का प्रत्यक्ष करता है, विषयकता कहलाता है, जो कि ज्ञान और उसके विषय के बीच स्व-रूप सम्बन्ध का निर्माण करता है।[३] हरिदास भी घोषित करते हैं कि स्वरूप सम्बन्ध का एक विशेष सम्बन्ध ज्ञान और उसके विषय के सम्बन्ध को निर्धारित करता है।

निष्कर्ष

चेतना के स्वतः प्रकाशत्व का प्रश्न प्रमुखतया दो कारणों से महत्वपूर्ण है। प्रथम कारण यह है कि चेतना के स्वतः प्रकाशत्व के सिद्धान्त का विकल्प ज्ञान के ज्ञानों की अनन्त श्रृंखला है, जिस स्थिति में कि अवस्था दोष के अनिष्ट से बच पाना सम्भव नहीं होता है। इस से बच पाने के हेतु चेतना को केवल पर-प्रकाशी ही नहीं बल्कि स्वरूपतः स्व-प्रकाशी मानना आवश्यकीय हो जाता है। उसे अपनी स्व-अभिव्यक्ति में किसी भी अन्य उपकरण, कर्त्तृत्व, या क्रिया की अपेक्षा नहीं होनी चाहिए। चेतना को स्व-प्रकाशत्व के स्तर से मात्र पर-प्रकाशत्व के स्तर पर उतारना, वस्तुतः ज्ञान या किसी विषय के प्रत्यक्ष को ही असम्भव बताना है। स्व-दीप्तिमय या स्वयं-ज्योति प्रकाश की तरह यह चेतना के स्वरूप की अद्वितीयता ही है जो कि उसे जगत् में किसी भी अन्य वस्तु से पृथक् निर्दिष्ट करती है तथा वस्तुओं के प्रजातंत्र में उसे

१. न्याय कोश भीभाचार्य।

२. इण्डियन फिला : राधाकृष्णन् जिल्द २, पृष्ठ १२४।

३. न्याय कुसुमांजलि हरिदास टीका ४.२.३.४।

सर्वोत्तम स्थान पर प्रतिष्ठित करती है। उसकी इस प्रकार की अपूर्वता का निर्देश, वस्तुतः परोक्षरूप से स्वयं उसके अस्तित्व को ही अस्वीकार करने के बराबर है।

चेतना के स्वतः प्रकाशत्व की समस्या की महत्ता का द्वितीय कारण यह है कि चेतना अत्यन्त आधारभूत यथार्थ है। वह वह है जिसके समक्ष कि सबको प्रत्यक्ष होना पड़ता है। इस अर्थ में वह परम यथार्थ है। वह स्वयं अपने या किसी अन्य के समक्ष उसी भाँति प्रदर्शित नहीं की जा सकती। जैसे कि शेष सब उसके समक्ष प्रदर्शित होता है। उसे ज्ञाता तथा ज्ञात, विषयी और विषय के व्यावहारिक भेदों में विभक्त नहीं किया जा सकता। उसके अस्तित्व के लिए स्वयं उसके अतिरिक्त और किसी की अपेक्षा नहीं है। वह स्वयं-सिद्ध है। वह समस्त अभिव्यंजना का स्रोत तथा सार है। उसका स्वरूप चिरन्तन साक्षी जैसा है तथा वह अपने ही प्रकाश में शाश्वतरूप से देदीप्यमान रहती है। इस अद्वितीय यथार्थ, परम-चेतना, का ग्रहण केवल अपरोक्षानुभूति में भी सम्भव होता है। वह अद्वय है और अपरोक्ष ज्ञान के प्रकाश में उसका स्वबोध होता है।

प्रत्ययवादी दर्शन के लिए चेतना की स्वतः प्रकाशत्व की धारणा इस कारण आधारभूत है, क्योंकि चेतना को यदि स्वरूपतः स्वयंज्योति स्वीकार नहीं किया जाता। तो उससे अनिवार्यतः यथार्थ की एक ऐसी तत्वमीमांसा अनुसरित होती है जिसमें कि चेतना के सिद्धान्त को सत्तामीमांसात्मक रूप से स्वतंत्र तथा स्वनिर्भर और ज्ञानमीमांसात्मक रूप से अपूर्व और विशेषाधिकारी स्थिति प्राप्त नहीं हो सकती है। प्रत्ययवादी दर्शन के लिए चेतना का अपरोक्षत्व भी आवश्यक है, और उसकी सिद्धि भी चेतना के स्वतः प्रकाशत्व के सिद्धान्त से स्वभावतः हो जाती है। चेतना के स्वतः प्रकाशत्व का अर्थ ही चेतना का अपरोक्षत्व है। इस तरह स्वतः प्रकाशत्व से ज्ञान या चेतना की अपरोक्षानुभूति का सिद्धान्त भी अनुगमित हो जाता है। प्रत्ययवाद के लिए अपरोक्षत्व का अर्थ है, विषयी और विषय के उस विभेद का खो जाना जिसके कारण परम यथार्थ हमारी दृष्टि से ओझल बना रहता है। इस अपरोक्ष अनुभूति या ज्ञान में स्वसत्ताधिकारी, एकात्मक, तथा भेदातीत चेतना का प्रकाशन होता है जो कि स्वयंज्योति तथा समग्र अनुभव और ज्ञान में प्रकाशत्व का अपूर्व एवं अद्वितीय आधारभूत सिद्धान्त है।

● ●

पंचमाध्याय

चेतना का मनोवैज्ञानिक स्वरूप

समस्या की स्वविरोधी स्थिति

इस अध्याय का उद्देश्य स्वचेतना की समस्या की परीक्षा करना है। यह परीक्षा यह जानने के लिए आवश्यक है कि स्वचेतना के बहुसंख्यक सिद्धांत किस प्रकार एक एकात्मक तथा अविभेदी चेतना की निष्पत्ति की ओर ले जाते हैं। चेतना की समस्या में कुछ स्वविरोधी तथ्य अन्र्भावित हैं, जिनके कारण कि समस्या ने इतना जटिल, विवादग्रस्त और असमाधानीय प्रतीत होनेवाला रूप ग्रहण कर लिया है। इस अध्याय में प्रयासित विवेचन में यह दिखाने का प्रयत्न किया गया है कि चेतना की समस्या में कम से कम दो कठिनाइयाँ आवश्यक रूप से सन्निहित हैं। यह कठिनाइयाँ निम्न हैं। (१) चेतना के ज्ञान के ज्ञानों की अनन्त शृंखला के कारण पैदा हुई अनवस्था दोष की कठिनाइयाँ, तथा (२) विषयी-चेतना की विषय में परिवर्तित हो जाने की कठिनाई। यह कहा गया है कि प्रत्ययवाद या यथार्थवाद, किसी की भी परिकल्पना के आधार पर इन कठिनाइयों को पराजित नहीं किया जा सकता। इस कथन में यह ध्वनि स्पष्ट है कि स्वचेतना की समस्या एक छद्म समस्या है तथा विषयी को विषय की भाँति जानने का प्रयास सर्वथा अनुचित है। आत्मा वस्तुतः स्वचेतन तथा स्वप्रकाशित है किन्तु फिर भी वह स्वयं अपने में ज्ञाता और ज्ञात के किसी विभाजन के लिए उत्तरदायी नहीं होती है। यथार्थ आत्मा ज्ञान के किसी विषय की भाँति कभी ज्ञात नहीं बनती है और वह मनोवैज्ञानिक आत्मा जो कि ज्ञात बनती है, यथार्थ आत्मा नहीं होती है। यथार्थ आत्मा का स्वरूप केवल विषयी का है और इसलिए ज्ञान के विषय में वह कभी भी परिवर्तित नहीं हो सकती है। इसमें एक तथ्य और भी हमें प्राप्त होता है कि वह जो ज्ञात बनता है, उसे किसी भी स्थिति में यथार्थ आत्मा नहीं माना जा सकता है। इस तरह स्वचेतना की समस्या की न्याययुक्त और निष्पक्ष परीक्षा के हेतु, हमें उन संभ्रमों से अपने आपको सचेत रखना अत्यन्त आवश्यक है जो कि स्वचेतना के पद के आसपास एकत्रित हो गये हैं।

स्वचेतना का पद प्राय: अनिश्चित रूप से एकाधिक अर्थों में प्रयुक्त किया जाता है, और इसीलिये इसके अर्थ की अनिश्चितता के कारण बहुत सी अनावश्यक उलझनें पैदा हो गई हैं। इसका प्रयोग अन्तर्तिरीक्षण में उपलब्ध एक विषय की भाँति आत्मा की चेतना के लिए किया जा सकता है, जिसका अर्थ है कि यह अनुभवमूलक अहं, जीव, या ज्ञाता के लिए प्रयुक्त हो सकता है जो कि अन्तर्निरीक्षण की क्रिया में विकल्परूप से अनुभव का विषयी तथा विषय दोनों ही होता है। इसी तरह यह अनुभवातीत तथा विशुद्ध आत्म-विषय दोनों ही होता है। इसी तरह यह अनुभवातीत तथा विशुद्ध आत्मचेतना का प्रतीक भी हो सकता है, जो कि यद्यपि ज्ञान की किसी क्रिया में विषय की तरह ज्ञात नहीं होती है, तथापि उसके अस्तित्व का परम विषयी और समग्र ज्ञान में अन्तर्भावित पूर्वकल्पना की भाँति बोधानुभव अवश्य होता है। इसी तरह चेतना भी, परम तत्व-मीमांसात्मक चेतना का प्रतीक हो सकती है, जो कि अपरिवर्तनीय और चिरन्तन है, या कि मनोवैज्ञानिक और परिवर्तनशील चेतना का प्रतीक भी हो सकती है जिसका कि निरन्तर उद्भव तथा अनुद्भव होता रहता है। परम चेतना को ज्ञान-विषय में परिणत नहीं किया जा सकता, तथा मनोवैज्ञानिक चेतना स्वयं चेतना नहीं है। वह चेतना की विषय वस्तु मात्र है। चेतना के इन विभिन्न प्रयोगों के कारण यह ध्यान में रखना अत्यन्त आवश्यक है कि चर्चा के प्रसंग में हम पद के एक अर्थ से दूसरे अर्थ पर तो नहीं चले जाते, जैसा कि कुछ दार्शनिकों के साथ वस्तुतः घटित हो चुका है।

औपनिषदिक दृष्टिकोण

समग्र ज्ञान के लिए आधारभूत तथा चरम पूर्वकल्पना की तरह आत्मा का औपनिषदिक सिद्धान्त निश्चय ही सुप्रसिद्ध है। उपनिषदों के अनुसार आत्मा निरपेक्ष ज्ञाता है, जो कि किसी विषय की भाँति ज्ञेय नहीं बन सकता है। इस कारण उसे निर्गुण[१] माना गया है। मनस् द्वारा उसका प्रत्यक्ष नहीं किया जा सकता।[२] वह प्रसर काल और कार्य-कारण की संज्ञियों के अतीत है, जिनकी कि केवल व्यावहारिक जगत के तथ्यों के लिए संगति होती है। वह स्वयं सर्ववस्तुओं का ज्ञाता है। वह परम विषयी है और इसलिए विषय की भाँति ज्ञेय नहीं है। बृहदारण्यक के ऋषि ने पूछा है कि स्वयं

१. कथोपनिषद् ३. १५।

२. केन १. ५ तथा ३. १२, तैतिरीय ३. ४. १।

ज्ञाता को किस भाँति ज्ञात किया जा सकता है ?[१] वह बुद्धि के द्वारा ज्ञात नहीं बन सकता, क्योंकि बुद्धि स्वयं उसके ही कारण गतिमय होती है ।[२] वह विचारक है, किन्तु विचार नहीं है ।[३] वह साक्षी है, द्रष्टा है, और ज्ञाता है ।[४] और अन्ततः, वह सर्वज्ञाता 'प्रमा' है । उसमें ही सारे सम्बन्ध निहित हैं ।[५] वह विभेद आदि द्वैत के पार है । इस तरह, वह अपने स्वभाव से ही, ज्ञान का विषय बनने में असमर्थ है । तथापि, वह अज्ञात नहीं है, क्योंकि जैसा कि ऋषिवाक्य है कि 'यह आत्मा आध्यात्मयोग[६] के द्वारा 'प्रत्यगात्मा' की भाँति ज्ञेय है तथा पवित्र हृदय में उसकी अनुभूति की जा सकती है '।[७] उसकी अनुभूति अति बौद्धिक, अन्तर्साक्षी या 'प्रज्ञा' के द्वारा हो सकती है ।[८] इस तरह, परम आत्मा यद्यपि ज्ञान के समान अर्थ में 'प्रमेय' की भाँति तो ज्ञेय नहीं है, किन्तु फिर भी उसे अज्ञेय नहीं कहा जा सकता, क्योंकि उच्चतर प्रज्ञा के द्वारा उसकी अनुभूति होती है और वह ज्ञेय बनती है ।

आचार्य शंकर का अद्वैत दृष्टिकोण

शंकर के अद्वैतवाद के अनुसार पूर्ण तथा सर्वव्यापक चेतना की ही एकमात्र सत्ता है, जो कि बाह्य या आन्तरिक किसी द्वैत या विभेद से हीन एकान्तरूप स्थित है । ज्ञाता तथा ज्ञेय के सम्पूर्ण विभेद केवल व्यावहारिक यथार्थ के जगत से ही सम्बन्धित है । निश्चेतन चेतना की अनुभूति व्यावहारिक भेद की इन संज्ञियों के अन्तर्गत नहीं होती । इस अनुभूति को 'ब्रह्मानुभव' कहा जा सकता है । शंकर की दृष्टि में अहं की चेतना के समान स्वचेतना जैसी कोई वस्तु नहीं है । आत्मा उसी तरह अपने को जान नहीं सकती, जिस तरह कि अग्नि स्वयं को जला नहीं सकती । वह ज्ञान का विषय नहीं बन सकती ।[९] वह मानसिक या बौद्धिक प्रत्यक्ष का भी विषय

---

१. बृहदारण्यक २. ४. १४ ।
२. बृहदारण्यक ३. ४. २ ।
३. बृहदारण्यक ३. ८. ११ ।
४. प्रश्न, ६. ५ ।
५. छान्दोग्य ७. २४. १ ।
६. कथा, २. १२ ।
७. मुन्डक, ३. १, ८ ।
८. कथा, शांकर भाष्य, २. २४ ।
९. बृहदारण्यक, २. ४. १४ ।

नहीं है।[१] वह प्रत्यक्ष का विषय इस कारण नहीं हो सकती, क्योंकि वह स्वयं अपने को ही 'ज्ञाता' तथा 'ज्ञेय' में विभाजित नहीं कर सकती है।[२] तथापि उच्चतर अनुभूति में उसका प्रत्यक्ष किया जा सकता है।[३]

पश्चात्कालीन अद्वैतवादियों का दृष्टिकोण

वाचस्पति मिश्र के अनुसार अन्तरस्थ आत्मा केवल उस समय ही ज्ञात बनती है जबकि वह 'जीव' की स्थिति में बद्ध होती है।[४] इस स्थिति में ही उसे ज्ञेय कहा जा सकता है। उन्होंने कहा है कि 'जीव' की भाँति ही वह 'ज्ञाता' है, कर्त्ता है और 'भोक्ता' है, किन्तु 'चिदात्मा' की भाँति वह स्व-चेतना का विषय नहीं है।[५]

गोविन्दानन्द ने वाचस्पति मिश्र के दृष्टिकोण का समर्थन किया है। उनके अनुसार भी स्वचेतना में जो प्रत्यक्ष होता है, वह सक्रिय 'जीव' है।[६] परम आत्मा स्वयं उसमें ज्ञेय नहीं बनती है। वह ज्ञेय-अज्ञेय से अतीत है।

अप्पय दीक्षित का विश्वास है कि 'जीव' मानसिक रूपावस्थाओं से निर्धारित होकर स्वचेतना के विषय की भाँति प्रत्यक्ष होता है और अहंकार द्वारा उपाधित होकर ज्ञाता विषयी की तरह ज्ञान में आता है। इस तरह स्वयं आत्मा के प्रत्यक्षीकरण में किसी प्रकार का स्वविरोध मानने का कोई कारण नहीं है।[७]

पद्मपाद का दृष्टिकोण अप्पय दीक्षित के विपरीत है। उन्होंने विषय और विषयी के मध्य आधारभूत विभेद को बताकर आत्मा द्वारा उसके स्वप्रत्यक्ष में स्वविरोध के आक्षेप को उठाया है। उनके अनुसार विषय का स्वरूप 'इदम्' का है, जबकि आत्मा का स्वरूप 'अनिदम्' का है; और इसका कारण आत्मा स्वयं अपने को कभी नहीं जान सकती है। स्वचेतना का विषय यथार्थ आत्मा नहीं बल्कि केवल 'अहंकार' ही होता है।[८]

---

१. बृहदारण्यक, ३. ८।
२. तैतिरीय २. १।
३. शांकर भाष्य ३. २. २४. २३।
४. भामती १. १. १।
५. भामती १. १. ४।
६. र. प्रभा. २. ३. ३२।
७. पंचपादिका।
८. विवरणप्रमेयसंग्रह।

विद्यारण्य भी इसी दृष्टिकोण को ग्रहण करते हैं। उनका कथन है कि आत्मा का स्वरूप ज्ञाता और ज्ञेय का नहीं है जसा कि अहंकार है, अतएव स्वचेतना का विषय केवल 'अहंकार' ही होता है।

धर्मराजाध्वरीन्द्र भी विशुद्धात्मा की स्वचेतना से इन्कार करते हैं। 'वेदान्त परिभाषा' में उन्होंने कहा है कि प्रगाढ़ निद्रा में आत्मा केवल साक्षी की भाँति ही अस्तित्व में होता है, न कि ज्ञाता की तरह, क्योंकि 'अहंकार' उस समय सार्वभौम अविद्या में विलुप्त हो गया होता है। स्वात्मा की चेतना केवल उस समय तक ही रहती है, उससे अधिक नहीं, जब तक कि 'अहंकार' शेष रहता है।

चित्सुखामुनि ने माना है कि आत्मा, ज्ञान का विषय हुए बिना ही स्वप्रकाशी है। उसके लिए स्वज्ञेय बनने के हेतु ज्ञान का विषय बनना आवश्यक नहीं है। वह इस तरह विषय नहीं है, स्वज्ञेय अवश्य है।

इस तरह अद्वैत वेदान्त के अनुसार, चेतना (१) निरुपाधिक तथा (२) सोपाधिक। दो प्रकार की होती है। प्रथम प्रकार विषय के गुण को ग्रहण नहीं कर सकता हैं। वह 'निराश्रय' और 'निर्विषय' होता है। वह अस्तित्व के साथ तादात्म्यक् 'सन्मात्र रूप' है। ज्ञातृत्व से उसका कोई सम्बन्ध नहीं है। ज्ञातृत्व का सम्बन्ध केवल सोपाधिक आत्मा या अहंकार से ही होता है जो कि अविद्या का एक रूपभेद है। वास्तविक चेतना किसी अन्तर्निरीक्षण में विषय की चेतना के समान आत्मचेतना आत्मा की चेतना नहीं होती। अन्तर्निरीक्षण या अनुमान द्वारा भी न्यायदार्शनिकों की प्रस्तावित यथार्थ आत्मा की सत्ता को प्रमेय की भाँति सिद्ध नहीं किया जा सकता, क्योंकि आत्मा को स्वयं, जिसके समक्ष की समग्र विश्व प्रत्यक्ष होता है, एक विषय की भाँति प्रत्यक्ष करना सम्भव नहीं है। स्वचेतना को यदि किसी प्रकार से स्वयं आत्मा की चेतना माना जाये तो परम विषयी के विषय में परिवर्तित हो जाने की कठिनाई प्रस्तुत हो जाती है, जिससे कि फिर किसी भी रूप में नहीं बचाया जा सकता।

सांख्य-योग दृष्टिकोण

सांख्य-योग की द्वैतवादी स्थिति के अनुरूप स्वचेतना की समस्या को समझने के हेतु, यह पहले से ही समझ लेना आवश्यक है कि इस सिद्धान्तानुसार साधारण प्रत्यक्षीकरण किस प्रकार घटित होता है। सांख्य-योग द्वारा यह प्रस्तावित किया गया है कि अनुभवातीत 'बुद्धि' ज्ञानेन्द्रियों के रास्ते से बाहर जाती है और विषय के रूप को ग्रहण करती है, किन्तु उनके

रूप को ग्रहण करने के बाद भी वह उन्हें प्रकाशित करने में समर्थ नहीं होती क्योंकि वह जड़ है। उसके द्वारा आत्मा के समक्ष विषय तभी प्रकाशित होते हैं जबकि आत्मा का प्रतिबिम्ब विषय के रूप में रूपान्तरित 'बुद्धि' पर पड़ता है। इस प्रकार, सांख्य-योगानुसार आत्मा किसी वाह्य पदार्थ को केवल मानसिक रूपान्तरण के द्वारा ही उसके ऊपर अपना प्रतिबिम्ब डालकर, जान पाती है। इस सम्बन्ध में सांख्य-योग दार्शनिकों में कुछ मतभेद है। वाचस्पति मिश्र ने अपने ग्रन्थ, तत्ववैशारदी[१], में इकहरे प्रतिफलन के सिद्धान्त को प्रतिपादित किया है। इसके अनुसार विषय के रूप में परिवर्तित बुद्धि पर केवल आत्मा का ही प्रतिबिम्ब पड़ता है। यह बुद्धि पुनः आत्मा में प्रतिबिम्बित नहीं होती है।

विज्ञानभिक्षु ने वाचस्पति से भिन्न दुहरे प्रतिफलन के सिद्धान्त को प्रस्तुत किया है। उनकी धारणानुसार आत्मा का बुद्धि पर तथा प्रतिबिम्बित बुद्धि का आत्मा पर परस्पर प्रतिफलन होता है और इस दुहरे प्रतिफलन के द्वारा ही आत्मा किसी वाह्य विषय को जानने में समर्थ हो पाती है।[२]

अब, यदि सांख्ययोगानुसार साधारण प्रत्यक्ष की प्रक्रिया यह है, तब यह प्रश्न पैदा होता है कि आत्मा स्वयं के प्रति सचेतन कैसे हो सकती है? वह स्वयं अपने आपको सीधे रूप से उसी तरह प्रत्यक्ष नहीं कर सकती, जिस तरह हम स्वयं अपने चेहरे को नहीं देख सकते। चेहरा केवल प्रतिबिम्ब के द्वारा ही जाना जा सकता है, उसी तरह आत्मा का भी हम उसके प्रतिबिम्ब के द्वारा अनुमान कर सकते हैं, क्योंकि प्रतिबिम्ब यदि है तो उसके मूलरूप का होना भी आवश्यक है। इस तरह, यथार्थ आत्मा नहीं बल्कि केवल उसका प्रतिबिम्ब मात्र ही हमारे ज्ञानानुभव में प्रत्यक्ष होता है। हम जिसे जानते हैं, जानने के कारण ही वह वास्तविक आत्मा नहीं है, और जो वास्तविक आत्मा है वह कभी भी सीधे रूप से ज्ञात नहीं बनता।[३]

इस कारण योगदर्शन का विश्वास है कि आत्मा सदैव ही 'ज्ञाता' है, 'साक्षी' है, और 'द्दष्टा' है और इस लिए वह स्वयं अपने को लौटकर नहीं देख सकती है। वह स्व चेतन होने में, इस तरह, स्वरूपतः असमर्थ है। किन्तु इससे यह अर्थ अभियोजित कदापि नहीं है कि वह किसी भी रूप से ज्ञात

१. योगभाष्य १. ७. २. १७. १०. ४. २२।
२. योगवार्तिका १. ४ तथा ३. ३५; शतपथ ब्राह्मण १. ८. ४।
३. योगभाष्य ३. ३५

नहीं बन सकती । वह अपने आपको 'राजस' तथा 'तामस' से अमिश्रित शुद्ध 'तत्व' में अपने ही प्रतिबिम्ब के द्वारा, असाधारण प्रज्ञा, (प्रतिभा ज्ञान) से जान सकती है । इस तरह, विशुद्धात्मा जहाँ अनुभवमूलक आत्मा को जान सकती है, वहीं अनुभवमूलक आत्मा विशुद्ध को नहीं जान सकती है ।

आत्मा के ज्ञान के लिए सांख्ययोग धारणा के इस विवेचन से स्पष्ट है कि आत्मा के विषयी और विषय दोनों होने में प्रत्यक्ष स्वविरोध है । यह भी प्रगट ही है कि एक द्वैतवादी तत्वमीमांसा में प्रतिबिम्ब का सिद्धांत स्थिति को किसी भी रूप में अधिक विकसित स्तर पर नहीं लाता है : क्योंकि या तो आत्मा की वस्तुतः कोई स्वचेतना नहीं होती है जोकि स्वरूप से 'द्रष्टा' और 'केवली' है, या फिर एक भ्रामक प्रतिबिम्ब आत्मा की चेतना होती है । वाचस्पतिमिश्र इस विरोध से यह कहकर बचने का प्रयास करते हैं कि जबकि अनुभवातीत या परम आत्मा स्वप्रत्यक्ष का 'विषयी' है तब अनुभवमूलक आत्मा केवल स्वप्रत्यक्ष का विषय है ।[1] किन्तु यह तो वस्तुतः यही प्रतिपादित करना है कि आत्मा, सर्व ज्ञानानुभव में सन्निहित एक विषय की भाँति केवल अनुभवातीत रूप से ही ज्ञात होता है, और एक विषय की भाँति उसका प्रत्यक्ष कभी सम्भव नहीं है । सांख्य योग के अनुसार वस्तुतः स्वचेतना असम्भव होनी चाहिये, क्योंकि आत्मा, या तो अनुभव की एक अवस्था विशेष में, जिससे कि वह अपने मौलिक तथा विशुद्ध रूप में नहीं जाना जा सकता है, भ्रामकरूप से बुद्धि के रूपान्तरों से उसका तादात्म्य कर लेता है, या फिर 'बुद्धि' के रूपांतरों से उसका तादात्म्य नहीं होता और तब इस अतादात्म्य की अवस्था में किसी भी ज्ञान या अनुभव की कोई सम्भावना शेष नहीं रह जाती है । इस तरह विषयगत और अनुभवमूलक चेतना के क्षेत्र में 'स्वचेतना' का उद्भव 'द्रष्टा' और 'दृश्य' के स्वरूपों के मध्य भ्रांति के कारण होता है ।[2] वह जो 'देखा' जाता है, वह द्रष्टा का स्वरूप नहीं होता है, और वह जो 'द्रष्टा' का स्वरूप होता है, उसे 'देखा' नहीं जाता है । हमें पूछना चाहिये कि स्वप्रत्यक्ष में क्या यह 'बुद्धि' है जो आत्मा को जानती है, या आत्मा है, जो स्वयं अपने को जानती है ? प्रथम विकल्प सम्भव नहीं हैं, क्योंकि 'बुद्धि' अचेतन है, तथा द्वितीय स्वविरोधी है । विज्ञानभिक्षु का दृष्टिकोण, जिसके अनुसार कि आत्मा को जाना जा सकता है, और साथ ही उसके ज्ञाता तथा ज्ञेय दोनों होने के स्वविरोध से भी बचा जा सकता है, व्यास तथा वाचस्पति के दृष्टिकोणों के

१. तत्व वैशारदी ३.३५ ।

२. योग सूत्र २. ६ ।

विपरीत पड़ता है जो कि विशुद्धात्मा को प्रत्यक्षीकरण का विषय नहीं, सदैव केवल विषयी ही मानते हैं।[१] व्यास और वाचस्पति का दृष्टिकोण ही परम्परागत सांख्ययोग दृष्टि के अनुकूल प्रतीत होता है क्योंकि विज्ञान भिक्षु की धारणा सांख्ययोग दर्शन के 'दृश्य' तथा 'द्रष्टा' के विभेद के प्रतिकूल पड़ती है।[२]

आचार्य प्रभाकर का दृष्टिकोण :

प्रभाकर के अनुसार, 'संवित्' चूँकि त्रिपुटी-स्वभाव है, इसलिए ज्ञान की प्रत्येक क्रिया में आत्मा का ज्ञान भी आवश्यकरूप से होता है, क्योंकि स्व-प्रकाशी ज्ञान केवल अपने को ही प्रकाशित नहीं करता बल्कि अपने आधार, आत्मा को भी उसी भाँति अभिव्यक्त करता है जिस तरह कि दीपशिखा अपने साथ अपनी वार्तिका को भी प्रकाशित करती है।[३] प्रभाकर की दृष्टि में आत्मा तथा अहंकार के बीच किसी प्रकार का भेद नहीं है। वे दोनों तादात्म्यक् हैं। इस कारण आत्मा की स्वचेतना में भी किसी प्रकार के विरोध के अवसर की कोई सम्भावना नहीं है। क्योंकि जब कभी भी आत्मा ज्ञान बनता है, तब वह एक विषय की तरह नहीं बल्कि किसी विषय के प्रकाशन की क्रिया में 'त्रिपुटी संवित्' द्वारा एक विषयी के रूप में अनिवार्यतः प्रकाशित होकर ज्ञान बनता है। आत्मा को ज्ञान के विषय की भाँति नहीं, बल्कि केवल विषयी की भाँति ही जाना जा सकता है।[४] प्रभाकर की यह स्थिति उस सीमा तक अपेक्षाकृत नवीन है, जहाँ तक वह न इस यथार्थवादी दृष्टिकोण को स्वीकार करती है कि आत्मा एक विषय की तरह ज्ञात बनती है, न कि इस अद्वैत दृष्टिकोण को कि वह स्वप्रकाशित होती है। यह प्रतिपादित करके कि ज्ञान की क्रिया में अनिवार्य रूप से सन्निहित विषयी की तरह तथा उसके द्वारा ही आवश्यक रूप से प्रकाशित होकर आत्मा ज्ञात बनती है, प्रभाकर मध्यम मार्ग को ग्रहण करते हैं। किन्तु अन्ततः यह स्थिति भी स्वज्ञान की कठिनाइयों को हल करने में असफल हो जाती है, क्योंकि इस तरह ज्ञात आत्मा, तथा विषय की भाँति ज्ञात आत्मा में मुश्किल से ही कोई विभेद किया जा सकता है।

---

१. योगवार्तिका ३.३५।

२. विवरणप्रमेयसंग्रह पृष्ठ ५३।

३. विवरणप्रमेयसंग्रह पृष्ठ ५६।

४. बृहती पृष्ठ १५।

स्वचेतना के विषय में न्याय-वैशेषिक दृष्टिकोण :

(१) न्याय दृष्टिकोण :

न्याय-यथार्थवाद के अनुसार स्वप्रकाशन आत्मा का स्वरूप नहीं है और उसका ज्ञान या तो प्रत्यक्ष के साधनों द्वारा होता है अथवा अनुमान द्वारा। नैयायिक सामान्यत: यही स्वीकृत करते हैं कि आत्मा अनुमान का विषय है, किन्तु कुछ नैयायिकों के अनुसार वह उसी प्रकार प्रयत्क्ष का विषय भी है।

आचार्य गौतम ने जबकि आत्मा को स्पष्टत: अनुमान का विषय बताया है।[१] आचार्य वात्स्यायन ने परस्पर विरोधी प्रतीत होने वाले वक्तव्य दिये हैं। एक स्थल पर उन्होंने कहा है कि आत्मा का ज्ञान प्रत्यक्ष के द्वारा नहीं होता है। 'आत्मा तावत् प्रत्यक्षतो न गृह्यते।'[२] किन्तु अन्य स्थल पर उन्हीं का कथन है कि 'आत्मा यौगिक प्रत्यक्ष का विषय है'।[३] इन दोनों वक्तव्यों का यह कह कर सामंजस्य किया जा सकता है कि आत्मा यद्यपि सामान्य प्रत्यक्ष का विषय नहीं है, किन्तु असामान्य प्रत्यक्ष का विषय वह अवश्य है।

इससे भिन्न उद्योतकर की धारणा है कि आत्मा प्रत्यक्ष का विषय है, क्योंकि वह 'अहं प्रत्यय' का विषय है जिसका स्वभाव ही सीधा प्रत्यक्ष है। किन्तु जयन्त उद्योतकर से सहमत नहीं है। उनके अनुसार अत्मा की सिद्धि प्रयत्क्ष के द्वारा नहीं हो सकती और वह स्वत: प्रत्यक्ष भी नहीं होता है। उसकी सिद्धि अनुमान के द्वारा ही होती है।[४] और 'सुख, दुख' तथा ज्ञान के गुण इस अनुमान के लक्षण होते हैं। इन गुणों के आधार पर आत्मा का अनुमान कर पाना इस लिए संभव होता है क्योंकि आत्मा के अतिरिक्त इन गुणों का किसी अन्य विषय में संस्थान नहीं होता है। इन गुणों के आधार पर ही कहा जाता है कि आत्मा का भी अस्तित्व है।

(२) वैशेषिक दृष्टिकोण

आचार्य कणाद ने प्रतिपादित किया है कि आत्मा सामान्य प्रत्यक्ष का विषय नहीं है किन्तु एक विशेष यौगिक संसर्ग से उच्चतर प्रज्ञा द्वारा उसे अवश्य जाना जा सकता है।[५]

---

१. न्याय सूत्र १.१.१०।
२. न्याय भाष्य १.१.६।
३. न्याय भाष्य १.१.३।
४. न्याय मंजरी, पृष्ठ ४३३।
५. वैशेषिक सूत्र ८.१.२।

शंकरमिश्र आचार्य कणाद से सहमत हैं। उनका कथन है कि यद्यपि अपने ही गुणों से रूपांतरित आत्मा आंतरिक प्रत्यक्ष का विषय है, किन्तु विशुद्धात्मा इस भाँति ज्ञात नहीं बताता है। वह विशुद्धात्मा केवल यौगिक प्रत्यक्ष का ही विषय है।[१]

श्रीधर की भी मान्यता है कि जबकि व्यावहारिक आत्मा साधारण आंतरिक प्रत्यक्ष के द्वारा ही ज्ञात हो सकती है, विशुद्धात्मा का ज्ञान केवल, आत्मा पर एकाग्रता, निरन्तर साधना, तथा वाह्य विषयों से इंद्रियों की संपूर्ण विभक्ति के पश्चात ही, यौगिक प्रत्यक्ष के द्वारा होता है।

आत्मा के स्वप्रकाशी स्वरूप पर आधारित आत्मा की अपरोक्षानुभूति के अद्वैतवादी दावे की जयंत ने अपनी 'न्याय मञ्जरी' में निम्न महत्वपूर्ण आलोचनायें प्रस्तुत की हैं :

(१) विभेदहीन अनुभवातीत चेतना का अनुभव कभी नहीं होता है।

(२) चेतना स्वप्रकाशी नहीं है क्योंकि हमें अन्य आत्माओं की कोई चेतना नहीं है।

(३) शंकर के 'अपरोक्ष ज्ञान' का सिद्धांत स्वविरोधी है, क्योंकि 'अपरोक्ष' भी प्रत्यक्ष का एक प्रकार है। आत्मा यदि स्वयं अपने को प्रकाशित करती है तब उसका ज्ञान भी होना आवश्यक है, और उस स्थिति में वह विषयी और विषय दोनों हो जाती है।

(४) आत्मा के ज्ञान का उसे एक विषय की भाँति जानने के अतिरिक्त और कोई मार्ग नहीं है।[२]

अब यदि आत्मा जयन्त के दावे के अनुसार, केवल प्रत्यक्ष या अनुमान के एक विषय की भाँति ही प्रकाशित हो सकता है, तब यह स्पष्ट है कि इस धारणा में 'आत्मा आत्मा की भाँति, तथा 'आत्मा अनात्मा' की भाँति के मध्य के आधारभूत विभेद को बिल्कुल ही भुला दिया गया है। इस प्रकार के दृष्टिकोण को प्रस्तुत करते समय यह पर्याप्त रूप से अनुभव नहीं किया गया है कि यदि आत्मा को, जोकि किसी 'विषय' के स्वरूप से पूर्णरूपेण भिन्न है, अन्तर्निरीक्षण में एक विषय के तल पर उतारा जाता है, तो वह वस्तुतः एक जड़ पदार्थ की स्थिति में ही पतित हो जाती है, क्योंकि किसी भी रूप में 'विषय' में परिणत होने या 'विषयी' के स्वभाव के अतिरिक्त कुछ और होने की क्षमता ही आत्मा के चैतन्य स्वरूप का विधान करती है। आत्मा

१. न्याय कंदली पृ० १६६।

२. न्याय मंजरी, पृष्ठ, ४३२।

को आत्मा रहने के लिए बिना कभी किसी विषय में परिणित हुये ही सदैव विषयी बना रहना अत्यन्त आवश्यक है। आत्मा का किसी विषय में परिवर्तित होना ही वह कठिनाई है जिसे कि हमने स्वचेतना की अनवस्था-दोष की कठिनाई के बाद द्वितीय महत् कठिनाई कहा है।

भाट्ट दृष्टिकोण :

आचार्य कुमारिल यह स्वीकार करते प्रतीत होते हैं कि आत्मा स्वप्रकाशी है।[1] किन्तु उनके अनुयायी, पार्थसारार्थमिश्र, इस दृष्टिकोण को स्वीकार नहीं करते। पार्थसारार्थमिश्र के अनुसार आत्मा मानसिक प्रत्यक्ष का विषय है।[2] इस तरह आत्मा न न्याय द्वारा प्रतिपादित अनुमान का विषय है, न शंकर की धारणानुसार अपरोक्षानुभूति का और न वह प्रभाकर के मतानुकूल विषय-ज्ञान का ही विषय है। वह इन सबसे भिन्न केवल मानसिक प्रत्यक्ष का विषय है। इस न्याय सिद्धान्त के विरोध में कि आत्मा अनुमान का विषय है, कुमारिल का कथन है कि आत्मा यदि अनुमान का विषय हो सकती है, तब वह उसी प्रकार से प्रत्यय का विषय भी हो सकती है। उनके अनुसार यदि उसके अनुमान का विषय होने में कोई कठिनाई है, तो प्रत्यक्ष का विषय होने में भी कोई कठिनाई नहीं हो सकती। कुमारिल के इस प्रतिवाद का उत्तर नैयायिक यह दे सकते हैं कि आत्मा चूँकि आकारहीन है, इस लिए उसका अनुमान का विषय होना तो सम्भव है, किन्तु किसी भी तरह प्रत्यक्ष सम्भव नहीं है, किन्तु कुमारिल इस प्रत्युत्तर पर मौन नहीं रहे हैं। उन्होंने इस प्रत्युत्तर के उत्तर में कहा है कि आनन्द की अनुभूति भी तो आत्मा की भाँति ही आकारहीन है, जिसे कि न्याय के अनुसार प्रत्यक्ष का विषय माना गया हैं और इस कारण, जो आकारहीन आनन्द के साथ सम्भव है, वह आत्मा के साथ सम्भव क्यों नहीं हो सकता है? इस कारण न्याय की युक्ति नितान्त व्यर्थ दीखती है और कोई कारण प्रतीत नहीं होता कि आत्मा का प्रत्यक्ष सम्भव क्यों नहीं है। इस तरह कुमारिल यह प्रतिपादित करने का प्रयास करते हैं कि इस स्थिति से कोई बचाव सम्भव नहीं है कि आत्मा प्रत्यक्ष का एक विषय है।

आत्मा को प्रत्यक्ष का विषय मान लेने से यह स्पष्ट ही है कि भाट्ट दृष्टिकोण स्वविरोध से ग्रस्त हो जाता है, किन्तु पार्थसारथि यह कह कर स्व-

१. श्लोकवार्तिक, आत्मावाद १४२।

२. शास्त्र दीपिका पृष्ठ ३४७।

चेतना की इस बाधा के परिहार का प्रयास करते हैं कि आत्मा दो भिन्न अर्थों में विषय और विषयी दोनों है। वह चेतना की भाँति विषय है, किन्तु द्रव्य की तरह विषयी है।[1]

शंकर के स्वप्रकाशत्व के सिद्धान्त पर भी कुमारिल ने स्वप्नहीन निद्रा में चेतना के ह्रास के आधार पर आक्रमण किया है। आत्मा यदि स्वरूपतः स्वप्रकाशी होती तो वह स्वप्नहीन निद्रा में भी अपने प्रकाशत्व को नहीं खो सकती थी। स्वप्नहीन निद्रा में उसकी चेतना का ह्रास इस बात का प्रमाण है कि वह स्वप्रकाशी नहीं है, और क्योंकि वह स्वप्रकाशी नहीं है, इसलिए उसे आंतरिक प्रत्यक्ष का विषय मानना आवश्यक हो जाता है।[2]

इस तरह हम आत्मा की चेतना के सम्बन्ध में निम्न सम्भाव्य सिद्धान्तों की गणना कर सकते हैं :

(१) किसी भी अन्य साधारण विषय की भाँति आत्मा भी साधारण मानसिक प्रत्यक्ष के द्वारा प्रत्यक्ष होती है।

(२) आत्मा का ज्ञान, प्रत्यक्ष के द्वारा नहीं बल्कि अनुमान के द्वारा होता है। वह प्रत्यक्ष का विषय नहीं अनुमान का विषय है।

(३) आत्मा का ज्ञान एक उच्चतर तथा असाधारण प्रत्यक्ष के द्वारा होता है। वह साधारण प्रत्यक्ष का नहीं, असाधारण प्रत्यक्ष का विषय है।

(४) आत्मा न एक विषय की भाँति ज्ञात होती है और न अनुमान के द्वारा ज्ञात होती है, बल्कि उसके स्वप्रकाशत्व के कारण अपरोक्ष ज्ञान या अनुभूति में ज्ञात बनती है।

इन सारे सिद्धान्तों को यथार्थवाद और प्रत्ययवाद के दो स्थल विभाजनों के अन्तर्गत वर्गीकृत किया जा सकता है। यथार्थवादी रुख का झुकाव आत्मा के किसी प्रकार के प्रत्यक्ष की ओर है। वह उसे एक सामान्य या असामान्य विषय में बदलकर या अनुमान के द्वारा उसका ज्ञान प्राप्त करना चाहता है। प्रत्ययवादी रुख मूलतः यह मानता है कि आत्मा ज्ञान के किसी भी प्रकार के विषय में परिवर्तित होने में स्वरूपतः असमर्थ है और इस कारण वह इस निष्कर्ष की ओर स्वभावतः झुकता है कि आत्मा का ज्ञान प्रत्यक्ष या अनुमान के विषय की भाँति कदापि नहीं होता है। स्वप्रकाशी होने के कारण वह अपरोक्ष ज्ञान या अनुभूति में प्रगट होती है और समग्र ज्ञानात्मक क्रियात्मकता की परम पूर्वकल्पना की भाँति उसका ज्ञान होता है।

---

१. शास्त्रदीपिका, पृष्ठ ३४९. ५३।

२. शास्त्रदीपिका, पृष्ठ ३५२।

प्रत्ययवादी के लिए, आत्मा चूँकि सम्पूर्ण ज्ञानानुभाव का चरम आधार है, इसलिए उसका प्रत्यक्ष करना उसी तरह असम्भव है जिस तरह कि किसी का स्वयं के कन्धों पर चढ़ना असम्भव है। किन्तु इसका यह अर्थ कदापि नहीं है कि वह अज्ञात या अप्रकाशित है, क्योंकि आत्मा के स्वतः प्रकाशत्व के सिद्धान्त का एकमात्र विकल्प आत्मा का अचेतन होना ही हो सकता है, जो कि प्रथम-दृष्ट्या नितान्त अविवेकपूर्ण है। स्व चेतना की यथार्थवादी गणना में हमें अनिवार्य रूप से अनवस्था-दोष की कठिनाइयों की ओर ले जाती है। आत्मा का प्रत्यक्ष यदि संभव है तो यह प्रत्यक्ष केवल एक विषय की भाँति ही हो सकता है, और इस तरह के प्रत्यक्ष के लिए एक प्रत्यक्षकर्ता आत्मा आवश्यक है जिसे भी अपनी बारी में प्रत्यक्ष का विषय बनना पड़ेगा और इस तरह यह प्रक्रिया किसी भी स्थल पर न परम आत्मा का प्रत्यक्ष कर सकती है और न समाप्त ही हो सकती है। इस तरह यथार्थवादी की मुक्ति हमें अनिवार्यतः अनवस्था दोष में उतार देती है। यथार्थवादी दृष्टिकोण की यह प्रथम कठिनाई है, किन्तु उसकी एक दूसरी भी कठिनाई है, जो कि प्रथम से कहीं अधिक आक्षेपनीय है। यथार्थवादी के अनुसार स्वप्रत्यक्ष की प्रक्रिया में आत्मा को, जो कि परम 'विषयी' की भाँति विषय' के स्वभाव से बिल्कुल भिन्न है, विषयी की तरह नहीं जो कि उसका वास्तविक स्वरूप है, बल्कि एक विषय की तरह प्रकट होना पड़ता है, जिसका स्वरूप वस्तुतः उसके स्वरूप के नितान्त विपरीत है। इस भाँति स्वचेतना का आत्मा को ज्ञान-क्रिया के परम विषयी की भाँति प्रगट करने का प्रयोजन ही व्यर्थ हो जाता है। इस तरह परम विषयी या तो अज्ञात ही रह जाता है या फिर उस स्वरूप में ज्ञात बनता है जो कि उसका स्वरूप ही नहीं है।

प्रत्ययवादी, इस कारण, यह प्रस्तावित करता है कि यदि स्वचेतना की यथार्थवादी गणना हमें अनिवार्य रूप से इन कठिनाइयों में ले जाती है, तब इन कठिनाइयों से बाहर जाने वाले मार्ग को हमें आत्मा के स्वप्रकाशत्व तथा अपरोक्षानुभूति के सिद्धान्त में खोजना चाहिये। इस स्थल पर यह ध्यान में रखना अत्यन्त आवश्यक है कि जब कि स्वचेतना के प्रति यथार्थवादी दृष्टिकोण में, स्वप्रकाशी आत्मा की अद्वितीय स्थिति का एक अचेतन विषय के स्तर पर पतित हो जाने का खतरा निहित है, तब प्रत्यवादी दृष्टिकोण भी जोखिम से खाली नहीं है। आत्मा के आधार भूत तथा अनुभवातीत स्वरूप पर अत्यधिक बल देने वाले प्रत्ययवादी रुख में, आत्मा के विलीन हो जाने

या सम्पूर्णतया अस्वीकृत किये जाने की जोखिम सन्निहित है। यह जोखिम काल्पनिक ही नहीं है क्योंकि माध्यमिक बौद्ध विचारधारा के साथ यह स्थिति वस्तुत घटित हो चुकी है। एक अर्थ-विशेष में यह कहा जा सकता है कि यथार्थवादी तथा प्रत्ययवादी दोनों आत्मा तथा चेतना की सत्ता से इन्कार करते हैं और इस तरह दोनों ही माध्यमिक स्थिति के अत्यन्त निकट हैं। यथार्थवादी आत्मा से, उसे स्वरूपत: अचेत बनाकर तथा स्वचेतना की प्रक्रिया में एक विषय की स्थिति उसके ऊपर लादकर, वस्तुत: इन्कार कर देता है। चेतना के स्व-सत्तात्मक यथार्थ को परिस्थितियों के सांभोगिक संयोग की एक अस्थायी स्थिति मात्र प्रतिपादित करना उसके अस्वीकार के ही समान है। प्रत्ययवादी, इसकी दूसरी ओर, आत्मा या चेतना से, उसके अनुभवातीत, अपरिवर्तशील तथा विभेदहीन स्वभाव के ऊपर जोर देकर तथा व्यावहारिक ज्ञान की असम्भवनीयता प्रदर्शित करके इन्कार करता है।[१] हम व्यावहारिक जगत में जिन ज्ञान-साधनों से परिचित हैं, आत्मा के ज्ञान भी उनके द्वारा नितान्त असम्भावना बताना भी वस्तुत: उसकी सत्ता को अस्वीकृत करने के ही तुल्य है।

यथार्थवादी स्थिति की कठिनाई का आधारभूत कारण यह तथ्य है कि वह आत्मा के स्वप्रकाशी तथा स्वनिर्भर स्वरूप को अपना आधार नहीं बनाता है। प्रत्ययवादी की कठिनाई यह है कि वह स्वज्ञान के कठिन तथ्य को अनुभवमूलक आधार पर प्रस्थापित नहीं कर सकता है। इस कारण, इन कठिनाइयों को हल करने के हेतु अद्वैत दर्शन को चेतना के दो रूप मानने पड़े हैं।

चेतना के दो रूप

प्रत्ययवादी अनुभवातीत चेतना के अपने सिद्धान्त में अस्तित्व के दो वर्गों तथा यथार्थ के द्विप्रदेश, 'पारमार्थिक' तथा 'व्यावहारिक' की परिकल्पना के द्वारा सुधार करता है। वह दृष्टि-जगतात्मक आत्मा तथा परिवर्तनशील चेतना की सत्ता को स्वीकार करता है, किन्तु उसे एक निम्नतर या व्याव-

---

१. वह उसे समग्रतया नहीं बल्कि केवल यौक्तिक रूप से ही अस्वीकार करता है और इस कारण ही उसने मान लिया है कि आत्मा के वास्तविक स्वरूप के सम्बन्ध में आप्त आधार पर प्रस्तुत तथ्यों को ही मान लेना चाहिए।

हारिक जगत में बहिष्कृत कर देता है, और 'पारमार्थिक' जगत के लिए जो कुछ स्वीकार करता है, उसे 'व्यावहारिक' जगत से बिल्कुल विभक्त कर लेता है। किन्तु यह कोई विशेष बात नहीं है। चेतना के समग्र सत्य सिद्धान्तों को, किसी न किसी अवस्था में, चेतना के अनुभवातीत और अनुभवाश्रित दोनों पहलुओं के लिए स्थान बनाना ही पड़ता है। शंकर के अनुसार, चेतना की समस्या को, समझने के कुंजी, उसके 'पारमार्थिक' और 'व्यावहारिक' रूपों को समझने में निहित है। 'व्यावहारिक' जगत में हमें स्व-चेतना प्राप्त होती है जहाँ कि हम स्वात्मा का प्रत्यक्ष करते हैं, किन्तु यह वह आत्मा है जो कि वास्तविक आत्मा नहीं है। यह आत्मा केवल वही आत्मा है जो आन्तरिक उपकरणों द्वारा विशेषित तथा सीमित है। 'पारमार्थिक' जगत में हमें स्वचेतना नहीं होती है। इस स्तर पर आत्मा की सत्ता, अद्वितीय, विषयों से रहित विषयी की भाँति होती है। वह 'ज्ञाता' की तरह 'ज्ञेय' के आश्रय, और आधार की तरह अस्तित्व में होती है, किन्तु 'ज्ञाता' या 'ज्ञेय' की भाँति कदापि नहीं। यह स्थिति ही मुक्तावस्था है। स्वतन्त्र व्यक्तिवाद की मिथ्या कल्पना, अहंकार में विश्वास, तथा पृथकत्व की धारणा से मुक्ति के मार्ग में मुक्त होना अत्यन्त आवश्यक है।[१]

अहं-प्रत्ययहीन चेतना की रामानुजीय आलोचना की एक परीक्षा

रामानुज के अनुसार, स्व-चेतना चेतना का एक अनिवार्य तथा अविभाजनीय लक्ष्य है। आत्मा चेतन विषयी है, जो कि अपने स्वत्व 'अहंप्रत्यय' से कभी वियुक्त नहीं होता है।[२] प्रगाढ़ निद्रा में भी यह अहं-प्रत्यय उपस्थित रहता है यद्यपि जागृति से थोड़े कम और धुँधले परिमाण में।[३] स्व-चेतना की नित्य उपस्थिति का यह सिद्धान्त शांकर दृष्टिकोण के नितान्त विपरीत पड़ता है। यह अहंकार की नित्य उपस्थिति के विपरीत तो नहीं है, जो कि चेतना पर एक भ्रामक आरोप के अतिरिक्त और कुछ नहीं, किन्तु एक अहंहीन तथा अविभेदी चेतना की परिस्थिति के शांकर-सिद्धान्त के विपरीत अवश्य है जिसकी कि रामानुज निम्न आलोचना प्रस्तुत करते हैं।

---

१. भारतीय दर्शन के कुछ आधारभूत सिद्धान्त, बी० हेमन।

२. रामानुज भाष्य १. १. १. पृष्ठ २६।

३. रामानुज भाष्य १. १. १. पृष्ठ ३१।

अहं प्रत्ययहीन चेतना के विपरीत रामानुज की प्रथम आलोचना यह है कि अहंता आत्मा पर भ्रामक रूप से आरोपित कोई वस्तु नहीं है : क्योंकि यदि ऐसा होता तो हमें इस भाँति चेतना की अनुभूति होती कि 'मैं चेतना हूँ' न कि इस भाँति की 'मैं चेतन हूँ' जैसा कि हम अपने दैनिक जीवन में रोज अनुभव करते हैं।[१] इसके द्वारा यह स्पष्टरूप से सिद्ध हो जाता है कि आत्मा चेतना का विषयी है। एक ओर एकात्मक चेतना को 'अह-प्रत्यय' तथा 'चेतना' के दो भागों में, एक को भ्रामक तथा द्वितीय को एकमात्र यथार्थ मानकर विभाजित नहीं किया जा सकता। रामानुज की यह आलोचना सत्य और असंगत दोनों ही है। 'व्यावहारिक' चेतना का यदि कोई अस्तित्व है तो वह विषयी और विषयी के द्वैत को अचलरूप से अपने में लिए होती है और अविभेदी चेतना के समर्थक चेतना के इस 'व्यावहारिक' पहलू से कभी इन्कार नहीं करते हैं। यह चेतना आवश्यकरूप से 'मैं चेतन हूँ' के रूप में ही होती है। वह, सम्भवत: 'मैं चेतना हूँ' के रूप में नहीं हो सकती, क्योंकि उसका वैसा होना नितान्त अर्थहीन होगा। यह तो सबके द्वारा स्वीकृत है कि 'व्यावहारिक' ज्ञान का प्रकाशन, ज्ञाता, ज्ञात और ज्ञेय के विभाजनों में ही होता है। किन्तु अद्वैतवाद यह प्रमाणित करना चाहता है कि यह विभेद अन्तिम और चरम नहीं है।[२] इसकी दूसरी ओर, यदि चेतना से द्वैतहीन विशुद्ध चेतना का अर्थ है, तो वह सम्भवत: 'मैं चेतना हूँ' के रूप में नहीं हो सकती है, क्योंकि 'मैं-पन' उसके लिए उसी प्रकार अनावश्यक है जिस प्रकार कि 'यह-पन' है। वह केवल एक ही रूप में हो सकती है और वह 'विषय-विषयी हीन चेतना' का रूप है। दृष्टात्मा का, जो कि 'साक्षी' है, 'केवल' है तथा 'निर्गुण' है, 'जीव' के साथ तादात्मय नहीं किया जा सकता जो कि वास्तविकरूप से अनुभवों के रूपान्तरों में से गुजर रहा है।[३] किन्तु रामानुज इस प्रकार की किसी आत्मा की आवश्यकता को अनुभव नहीं कर सकते। उनके लिए चेतना या आत्मा 'अहं प्रत्यय' से हीन हो ही नहीं सकती है। वह पूछते हैं कि 'क्या तुम यह कहना चाहते हो कि ज्ञान स्वयं के ही समक्ष प्रगट होता है? आत्मा मात्र ज्ञान ही नहीं, बल्कि उसका विषयी भी है'।

---

१. रामानुज भाष्य १.१.१ पृष्ठ ३१।

२. शांकर भाष्य १.१.४।

३. पंचादशी :

४. रामानुज भाष्य १.१.१. पृष्ठ ३५।

और जबकि सामान्य नियम यह है कि जो कुछ भी स्वयं के समक्ष प्रगट होता है वह 'मैं' के रूप में ही प्रगट होता है, यह मानने में कोई कठिनाई नहीं होनी चाहिये कि चेतना भी 'मैं' के रूप में ही प्रकट हो सकती है क्योंकि वह भी स्वयं के समक्ष ही प्रगट होती है। इस कारण, उनका निष्कर्ष है कि 'जो वस्तु आंतरिक आत्मा का गठन करती है वह शुद्ध चेतना नहीं, बल्कि 'मैं' है।[1]

शंकर के आत्मा और अहं-प्रत्यय के विभेद पर, रामानुज की द्वितीय आलोचना इस आस्था पर आक्रमण है कि अचेतन अंतःकरण ज्ञाता के स्वरूप को धारण कर सकता है। शंकर की मान्यता थी कि चूँकि अहंता या ज्ञाता का स्वरूप, कर्म और परिणामतः परिवर्तन को अपने में समाविष्ट किए हुए है, इसलिए वह अपरिवर्तनशील चेतना से संबंधित नहीं हो सकता। कर्म और परिवर्तन ससीम चेतना के गुण हैं और अतः कर्ता या 'ज्ञाता' के गुण, चेतना के निम्नतर सिद्धांत, 'अहं' या 'जीव' से ही संबंधित हो सकते हैं।[2] किन्तु रामानुज के लिए यह बात स्पष्टरूप से असंगतिपूर्ण है कि अचेतन 'अहंकार' या 'अंतःकरण' ज्ञाता बन सकती है।[3] ज्ञान का कर्त्तव्य अचेतन अहंकार से संबंधित नहीं हो सकता है। और न शुद्ध आत्मा के प्रतिबिम्ब की भाँति ंकर का अहंता का सिद्धांत ही प्रमाणित किया जा सकता है। 'हम पूछते हैं कि बुद्धि के प्रतिबिम्ब के घटित होने की कल्पना किस तरह की जाती है ?' क्या चेतना अहंकार का प्रतिबिम्ब बनती है, या कि अहंकार ही चेतना का प्रतिबिम्ब बनता है ? प्रथम विकल्प स्वीकृति योग्य नहीं है क्योंकि ज्ञाता होने का गुण चेतना के लिए स्वीकार योग्य नहीं होगा और द्वितीय विकल्प भी उसी भाँति का है क्योंकि अचेतन वस्तु कभी भी ज्ञाता नहीं बन सकती है।[4]

रामानुज की आलोचना के विरोध में अद्वैतवाद का उत्तर यह है कि अचेतन अहंकार चेतना को उसी प्रकार से व्यक्त करता है जिस तरह कि हाथ सूर्य के प्रकाश को व्यक्त करता है। रामानुज इसके प्रत्युत्तर में कहते हैं कि यह कथन कि अचेतन अहंकार स्वप्रकाशी आत्मा को व्यक्त करता है इस कथन से अधिक युक्ति और अर्थपूर्ण नहीं है कि जला हुआ कोयला सूर्य को

१. रामानुज भाष्य १.१.१. पृष्ठ ३५।

२. शंकर भाष्य २.३.४।

३. रामानुज भाष्य १.१.१. पृष्ठ ३२।

४. रामानुज भाष्य १.१.१. पृष्ठ ३२।

अभिव्यक्त करता है। चेतना और 'अहंकार' के दो विपरीत स्वभावों के मध्य अभिव्यक्ति का सम्बन्ध किसी भी प्रकार से सम्भव नहीं हो सकता है। इसके साथ ही, अद्वैत का हाथ और सूर्यकिरण का दृष्टान्त भी सत्य नहीं है, क्योंकि 'वस्तुतः' सूर्यकिरण हाथ के द्वारा किंचित भी अभिव्यक्त नहीं होती है।[1]

रामानुज के अनुसार ज्ञाता की धारणा में परिवर्तन की धारणा सन्निहित नहीं है। वे शंकर के इस आधारभूत सिद्धान्त से इन्कार करते हैं कि ज्ञाता होने का अर्थ परिवर्तनमय होता है और इसलिए ज्ञाता अपरिवर्तनशील चेतना से भिन्न होता है। अहं, ज्ञान के विषयी की भाँति, अनिवार्यरूप से सक्रिय और परिवर्तनशील सिद्धान्त नहीं है और न यही प्रतिपादित किया जा सकता है कि ज्ञाता होना स्वरूपतः परिवर्तनशील होना है।[2]

रामानुज के अनुसार, आत्मा नित्य है, और उसका चेतनत्व का नैसर्गिक गुण भी नित्य है। किन्तु, तथापि यह चेतनत्व का गुण संकोच तथा प्रसार के अधीन है जो कि जीवन-चक्रों में व्यक्ति के कर्मों के कारण घटित होते हैं और इसलिए यह चेतना आत्मा का स्वाभाविक लक्षण नहीं है। कर्त्ता का गुण, किसी प्रकार से भी, आत्मा के लिए अनिवार्य नहीं है, बल्कि कर्म द्वारा उत्पादित है और आत्मा स्वरूपतः अपरिवर्तनशील है।[3] यहाँ शंकर और उनके आलोचक रामानुज की स्थितियों में किंचित् भी भेद देख पाना मुश्किल है, जब कि वस्तुतः दोनों ही आत्मा और उसी प्रकार से चेतना की नित्यता में विश्वास प्रकट करते हुए परिवर्तन और कर्म को अचेतन अहंकार पर या मात्र 'कर्म संयोगों' पर आरोपित करते हैं (वस्तुतः, रामानुज के दो उपरोद्धृत वक्तव्य)। और न यही प्रतिपादित किया जा सकता है कि 'ज्ञाता होना स्वरूपतः परिवर्तनशील होना है' तथा 'वह कर्म संयोगों के कारण, संकोच और प्रसार के अधीन है' तथा कर्त्ता का गुण आत्मा के लिए अनिवार्य नहीं बल्कि कर्म द्वारा उत्पादित है, तादात्म्यक् है जो कि उनके द्वारा विभन्न अर्थों में प्रयोजित हुए हैं। यदि आत्मा को स्वरूपतः अपरिवर्तनशील स्वीकार कर लिया जाता है तो यह बात बहुत महत्वपूर्ण नहीं रह जाती है कि परिवर्तन और अहंता (ज्ञातृत्व) के लक्षण 'अन्तः करण' के कारण हैं या 'कर्म संयोगों' के कारण। मुक्ति की संगति

१. रामानुज भाष्य, पृष्ठ ३२।
२. रामानुज भाष्य, १. १. १. पृष्ठ ३२।
३. रामानुज भाष्य, १. १. १. पृष्ठ ३२।

चेतना के दो स्तरों की मान्यता में निहित है—एक अपरिवर्तनशील तथा अहं-हीन स्तर की चेतना तथा दूसरी अहंता तथा कर्म और परिवर्तन के स्तर की चेतना, जिन्हें कि रामानुज भी वस्तुतः स्वीकृत करने को बाध्य हो जाते हैं।

इसके पश्चात रामानुज, शंकर की 'साक्षी चेतना' की धारणा की आलोचना करते हैं। 'साक्षी चेतना' अहंहीन चेतना का ही एक रूप है जो कि प्रगाढ़ निद्रा में उपस्थित रहती है। रामानुज के लिए 'साक्षी' तथा 'अहं' की धारणायें तादात्म्यक् हैं। वह पूछते हैं कि 'साक्षी' का अर्थ क्या है ? 'साक्षी' का अर्थ है वह व्यक्ति जो किसी विषय के सम्बन्ध में व्यक्तिगत निरीक्षण के द्वारा ज्ञान रखता है। उस व्यक्ति को 'साक्षी' नहीं कहा जा सकता जो किसी विषय के प्रति अज्ञानी है।[1] मात्र चेतना को भी 'साक्षी' नहीं माना जा सकता है। अब, यद्यपि साक्षी होने का अर्थ ज्ञान से शून्य होना नहीं है, तथापि तटस्थ और अप्रभावित 'साक्षी' तथा वास्तविक साक्षी और प्रभावित 'भोक्ता' या 'जीव' की धारणाओं के बीच स्पष्टरूप से अन्तर प्रतीत होता है। 'साक्षी' और 'जीव' के बीच कम से कम इतना अन्तर तो है ही जितना कि फुटबाल के खेल में एक खिलाड़ी और मध्यस्थ पंच के बीच होता है। 'साक्षी' सज्ञात होता है किन्तु वह वास्तविक तथा सक्रिय साझीदार नहीं होता, और अतएव वह खेल के विपर्ययों से प्रभावित नहीं होता है। 'साक्षी चेतना' की धारणा की आवश्यकता, चेतना के परिवर्तनशील रूपान्तरों, वृत्तियों के बीच जो कि वास्तविक तथा सक्रिय कर्त्ता के संगठक हैं, एक स्व समान बनी रहने वाली अपरिवर्तनशील चेतना की जरूरत के कारण पैदा होती है।[2] चेतना की सक्रिय वृत्तियों और अहं-प्रत्यय की स्थितियों के द्वारा ही चेतन जगत की व्याख्या नहीं की जा सकती है। इस व्याख्या के हेतु इन वृत्तियों और स्थितियों की पृष्ठभूमि में एक साक्षी चेतना की उपस्थित को मान्यता प्रदान करना अत्यन्त आवश्यक है।

रामानुज, जब कि चेतना के मूर्त्त पहलुओं पर न्यायसंगत रूप से स्थिर हैं, चेतना के अनुभवमूलक वाह्य ढाँचे की अनुभवमूलक पृष्ठभूमि की वे उसी भाँति उपेक्षा करते हैं जिस तरह कि किसी खेल के अधिकांश देखने वाले केवल विजयी तथा खिलाड़ियों को ही देख पाते हैं, तटस्थ पंच को नहीं। इसके साथ ही, यदि 'साक्षी' तथा 'जीव' में किसी प्रकार का भेद नहीं है और यदि

१. रामानुज भाष्य १. १. १. पृष्ठ ३६।

२. पंचदर्शी १०. ६. १६।

'साक्षी' के लिए देखने के हेतु किसी 'पर' की आवश्यकता है, तब ज्ञाता और ज्ञेय के द्वैत की यह नित्य स्थिति 'सर्वज्ञात' या 'सर्वज्ञता' कि अवस्था को सदैव के लिए असम्भव बना देती है। अपूर्ण 'ज्ञाता' जीव किसी न किसी समय प्रत्येक वस्तु को इतने पूर्णरूप से जानता है कि उसके बाहर कोई 'पर' शेष नहीं रह जाता है और तब उसे 'जीव' नहीं, बल्कि 'साक्षी' कह कर पुकारा जाता है।

अहं-प्रत्ययहीन चेतना तथा प्रगाढ़ निद्रा

विभेदहीन नित्य चेतना के स्वरूप के ज्ञान के लिए प्रगाढ़ निद्रावस्था का अध्ययन एक उपयोगी पृष्ठभूमि प्रस्तुत करता है। उस प्रकार की नित्य चेतना, जिस तरह की कि प्रगाढ़ निद्रा या तुरीयावस्था में उपस्थित होती है, चेतना तो है किन्तु स्व-चेतना नहीं है, क्योंकि स्वप्नहीन निद्रा में कोई विषय उपस्थित नहीं होते जिनके विरोध में कि अहं-चेतना या अहं-प्रत्यय का उद्भव सम्भव हो सकता हो। स्व-चेतना, विषयों की चेतना की मध्यस्थता द्वारा आत्मा की चेतना है। इस तरह की चेतना 'जागृत' तथा 'स्वप्नावस्था' में पाई जाती है और जहाँ कोई विषय अस्तित्व में नहीं होता है, वहाँ मध्यस्थता के अभाव में इस तरह की चेतना का भी अभाव स्वाभाविक है। इस तरह स्वप्नहीन या प्रगाढ़ निद्रा में किसी प्रकार की स्व-चेतना का अस्तित्व नहीं होता है। इस अवस्था में केवल एक 'अविभेदी' या निर्विषय और 'चिन्मात्र' उपस्थिति ही अस्तित्व में होती है। इसके ठीक विपरीत, वहां जहाँ विषयों की उपस्थिति के द्वारा मध्यस्थता सम्भव है, जैसा कि जागृत और स्वप्न में होता है, वहाँ 'जीव' के रूप में अविभेद चेतना की उपस्थिति भी होती ही है, जो कि 'अहम्' और 'इदम्' के विभेदों में आनन्द लेता है। किन्तु तब, इस अवस्था में 'निराश्रय' और 'निर्विषय' 'ज्ञप्ति मात्र चित् प्रकाश' चेतना का कोई प्रकाशन नहीं होता है कि आधारभूत आधार की भाँति सदैव ही उपस्थित रहता है।

रामानुज कहते हैं कि प्रगाढ़ निद्रा में 'अहं-चेतना' बाह्य विषयों के अभाव के कारण सुस्पष्ट नहीं होती।[१] वह, इस कारण, इस सिद्धान्त को ग्रहण करते हैं कि चेतना का अस्तित्व बाह्य विषयों की मध्यस्थता के कारण है। उनके अनुसार 'अहं-चेतना' चेतना की एक अतिसीमा है तथा दूसरी अतिसीमा 'विषय चेतना' है। इस कारण, जहाँ इस मध्यस्थता की सम्भावना नहीं होती

१. रामानुज भाष्य १.१.१. पृष्ठ ३५।

है वहाँ स्व-चेतना का अस्तित्व भी नहीं होता है। इस तरह, हमारे समक्ष यह प्रश्न उपस्थित होता है कि प्रगाढ निद्रावस्था में परोक्ष चेतना का अस्तित्व होता है या अपरोक्ष चेतना का ?

रामानुज स्वीकार करते हैं कि प्रगाढ़ निद्रा में कोई विषय नहीं होते हैं और अत: वहाँ किसी प्रकार की परोक्ष चेतना की भी सम्भावना नहीं है। इस तरह केवल एक ही विकल्प शेष रह जाता है और वह यह कि या तो चेतना की उपस्थिति से इन्कार किया जाय और परिणामत: चेतना की अविच्छिन्नता को खंडित स्वीकार कर लिया जाय, अथवा फिर वाह्य विषयों की मध्यस्थता से रहित, एक नित्य अपरोक्ष चेतना के अस्तित्व को स्वीकृति प्रदान की जाय। 'अहं-चेतना' 'विषयचेतना' की विपरीतता में ही केवल अस्तित्व में हो सकती है, और विषयों के अभाव में उसे भी अनिवार्यत: चला ही जाना चाहिए। रामानुज एक को बिना रोके दूसरे को भी नहीं रोक सकते हैं। किन्तु वह विषय-चेतना को नष्ट करके भी अहं-चेतना को शेष रखना चाहते हैं जो कि स्पष्टरूपेण असंगत है। प्रगाढ़ निद्रा में या तो अहं-प्रत्ययहीन चेतना होती है या फिर चेतना का पूर्ण अभाव हो जाता है। और चूँकि द्वितीय विकल्प स्वीकृति-योग्य नहीं है, इसलिए चेतना के विषयी विषय की तुलना के सिद्धान्त की संगति में केवल प्रथम विकल्प ही शेष रह जाता है। यह अहं-हीन चेतना न तो मनोवैज्ञानिक आत्मा है और न चेतना का कोई रूप विशेष ही, बल्कि चेतना के समग्र अनुभवमूलक तथा विशिष्ट रूपान्तरों या वृत्तियों द्वारा पूर्वप्रस्तावित वह चेतना है जिसे स्वयं किसी विषय की तरह नहीं जाना जा सकता है। निद्रावस्था में, विषय चेतना की अनुपस्थिति में भी, अहं-चेतना को अवशिष्ट मानने वाला रामानुज का सिद्धान्त एक अन्य कठिनाई से भी घिरा हुआ है। वह कठिनाई है चेतना की मात्राओं के सिद्धान्त की स्वीकृति जो कि चेतना की नित्यता के सिद्धान्त के साथ संगतिपूर्ण नहीं है। उदाहरणार्थ, रामानुज ने कहा है कि यद्यपि 'अहं-प्रत्यय' का विभेद हमारी चेतना का एक स्थायी लक्षण है, तथापि वह क्षीण तथा मद्धिम होता है यद्यपि उसके अस्तित्व का पूर्ण लोप कभी नहीं होता है। इससे 'अहं-चेतना' के स्पष्टीकरण तथा अस्पष्टीकरण की मात्राओं की स्वीकृति अनुगमित होती है जो कि विभेदों के अनन्त रूपों में चेतना के सतत रूपान्तर के सिद्धान्त की ओर ले जाता है और इस भाँति उसकी अपरिवर्तनशीलता के सिद्धान्त की धारणा को विनष्ट कर देता है। रामानुज की धारणानुसार, यदि 'अहं-चेतना' संकोच और प्रसार करती है तब कोई कारण नहीं है कि वह संकोच की न्यूनतम सीमा अर्थात् निर्वाण (समाप्ति) तथा प्रसार की महत्तम सीमा अर्थात्

पूर्ण 'मैं-हीन' चेतना तक क्यों नहीं जा सकती है ? किन्तु यह दोनों ही रामानुज के लिए अत्यन्त असुखकर विकल्प है ।

इस तथ्य को सामान्यरूप से मान्यता प्राप्त है कि प्रगाढ़ निद्रावस्था में अचेतना के उद्भव का प्रतीत होना विषयों की अनुपस्थिति के कारण होता है न कि स्वयं चेतना के अभाव के कारण ।[१] इस कारण, चेतना को आत्मा का स्वरूप स्वीकार करने और तब भी प्रगाढ़ निद्रा में एक ऐसी आत्मा को मानने में जो कि किसी भी विषय के प्रति चेतन नहीं है, कोई असंगति नहीं है, क्योंकि आत्मा स्वप्नहीन निद्रा के अन्तर्गत भी 'देखती' है, यद्यपि (विषयाभाव के कारण) यह प्रतीत होता है कि वह कुछ भी नहीं देख रही है ।[२] इस प्रकार की अवस्था में आत्मा सूर्य की तरह है जो कि स्वरूपत: प्रकाशन या प्रकाश से संगठित है यद्यपि उसे स्वरूपत: 'प्रकाशक' की भाँति नहीं विचारा जाता । उससे भिन्न वस्तुएँ जहाँ कहीं भी होती हैं, वे अपने आप उससे प्रकाशित हो जाती हैं, किन्तु उस समय भी जब कोई विषय उपस्थित नहीं होते हैं, वह बुझ नहीं जाता बल्कि अपने ही प्रकाश में प्रकाशित बना रहता है ।[३]

आत्मा को प्रगाढ़ निद्रा में भी, उसकी अनिवार्य एवं स्थायी दृष्टि या ज्ञान के कारण द्रष्टा कहा जाता है । यदि यह दृष्टि या ज्ञान मात्र क्रियात्मकता या आत्मा का एक सांयोगिक लक्षण मात्र ही होता तो वह निश्चय ही अचेतन के क्षणों में समाप्त हो जाता । किन्तु वह दृष्टि जो कि उसका स्वरूप ही है, इस तरह समाप्त या अन्तरालों में खण्डित नहीं हो सकती । इस तरह की आधारभूत चेतना को अनवरोध अस्तित्व में होना ही चाहिए किन्तु स्व-चेतना की उपस्थिति इस तरह अनवरुद्ध और अखण्डित नहीं हो सकती क्योंकि उसका अस्तित्व सापेक्ष है और वह विषयों की उपस्थिति और 'चित्त वृत्तियों' के अनुवर्ती रूपान्तरों पर निर्भर होता है । इन परिस्थितियों की अनुपस्थिति में, आत्मा-स्वयं अपने ही सत् स्वरूप से एकता की अवस्था में होता है । उसे इस अवस्था में किसी विशिष्ट प्रकार का ज्ञान बोध नहीं होता, तथा वाह्य या आन्तरिक, 'पर' या 'स्व' की भी उसी भाँति कोई चेतना नहीं होती है जिस भाँति की उस पुरुष की द्वैत चेतना खो जाती है जो कि अपनी प्रेयसि के प्रेमालिंगन में होता है ।

१. शांकर भाष्य २.३.१८ ।
२. बृहदारण्यक ४.३.२३ ।
३. बृहदारण्यक ४.३.२३ ।

पाश्चात्य दर्शन में यह प्रश्न अक्सर उठाया गया है कि 'यदि आत्मा चेतनत्व का एक सिद्धान्त है तो इन्द्रियों (वाह्य तथा आन्तरिक) की समग्र आवश्यक सामग्री को पृथक् कर लेने पर चेतना का कौन सा अंश पीछे अवशिष्ट रह जाता है ?' इस प्रश्न का उत्तर, बौद्धिक विचारणा तथा स्वानुभूति के मध्य किए गए भेद के द्वारा दिया जाता है। स्वानुभूति या स्वप्रकाशन में समग्र अनुभवमूलक विचारणा पृथक् हो जाती है तथा आत्मा बिना किसी भेद या रूपान्तर के अपने विशुद्ध आध्यात्मिक स्वरूप में ही शेष रह जाती है। इस दृष्टिकोण का योगसूत्रों[1] के आधार पर समर्थन किया गया है, जहाँ कि 'असम्प्रज्ञात समाधि' 'चेतनाहीन चेतना' की तरह प्रतिपादित है तथा 'पुरुष' को 'बोधिस्वरूप' या 'स्वरूप मात्र' की भाँति अस्तित्व में बताया गया है। व्यावहारिक और पारमार्थिक चेतना प्रकार की दृष्टि से भिन्न हैं। व्यावहारिक चेतना में ग्राह्य, ग्रहण तथा गृहीत की त्रिमूर्ति सन्निहित होती है जिनके विभेद से पारमार्थिक चेतना नितान्त अतीत है।[2]

इस प्रकार, नित्य चेतना की परिकल्पना का, अचेतना के प्रगट रिक्त स्थानों के साथ समायोजन करने का प्रयास किया गया है क्योंकि यह स्वचेतना है जो कि इन रिक्त स्थानों में अनुपस्थिति होती है, न कि 'नित्य चेतना' जो कि कभी निद्रित नहीं होती है। परोक्ष चेतना विषयों की उपस्थिति से सीमित है और इस कारण वह निरपेक्ष नहीं है, किन्तु नित्य चेतना अपने अस्तित्व के लिए किसी की अपेक्षा में न होने के कारण निरपेक्ष चेतना है। वह न सीमित है और न सापेक्ष है। सविभेद चेतना हमारी आत्मा का स्थायी लक्षण नहीं है और न ही परोक्ष चेतना वह एकमात्र रूप है जिसमें कि हमारी चेतना का अस्तित्व होता है। हमारे ज्ञान के समग्र विभेद एक अविभेदी तथा अपरिवर्तनशील चेतना की पूर्व प्रस्तावना करते हैं जो कि, किसी भी रूप में, हमार जाग्रत या स्वप्नावस्थाओं के अन्तर्गत अनुभूत नहीं की जा सकती है। इस कारण, प्रगाढ़ निद्रा में भी चेतना की अवस्थिति मानना आवश्यक है तथा उसके प्रगट रिक्त स्थानों की व्याख्या परोक्ष चेतना की अनुपस्थिति में खोजा जानी चाहिए, न कि स्वयं चेतना की ही अनुपस्थिति में, अर्थात् चेतना का अस्तित्व उस समय भी होता है जब कि विषयों या विषयी किसी की भी

१. योग सूत्र (१) १८.५०.५१। (२) २७.२०। (३) ५०। (४) ३५.३४।

२. योग सूत्र (१) ४२.५१। (२) २०.२५। (३) ४७.५०.४९। (४) ३४।

चेतना का कोई अस्तित्व नहीं होता है। वह स्व-चेतन आत्मा या किसी विषय विशेष की चेतना के रूप में अस्तित्व में नहीं, बल्कि मात्र चेतनत्व' की तरह अस्तित्व में होती है। यही याज्ञवल्क्य का स्वचेतनाहीन चेतना का वह सिद्धान्त है जिसके प्रतिपादन की यहाँ यह प्रदर्शित करके अभीच्छा की जा रही है कि आत्मा तथा अनात्मा के विभेदों की चेतना को हमारे जीवन के नित्य लक्षण के रूप में प्रतिपादित करने का सम्पूर्ण प्रयास असमायोजित विरोधों की ओर ले जाता है।

'अत्यन्त विवेक', 'केवल' या 'पुरुष' तथा 'चिन्मात्र' की भाँति, विषयी-विषय रहित शाश्वत चेतना की यह हिन्दू धारणा, प्रगाढ़ निद्रा तथा स्वचेतना की अन्य उलझनों की एक व्याख्या की तरह उस प्रत्ययवादी विचारधारा के आधुनिक सिद्धान्तों से कहीं अधिक संगतिपूर्ण है जो कि नित्य चेतना की धारणा को तो स्वीकार करते हैं, किन्तु विषय-वस्तु रहित चेतना की धारणा को स्वीकार नहीं कर पाते हैं। आधुनिक प्रत्ययवादी विचारक प्रगाढ़ निद्रा में विषय तथा विषय-वस्तु रहित चेतना की बजाय स्वचेतना को मानना ही कहीं अधिक पसन्द करते हैं, किन्तु इस तरह की मान्यता में जो महत्वपूर्ण तथ्य विस्मृत कर दिया जाता है, वह यह है कि अविभेद तथा सापेक्ष चेतना भी, इन्हीं विभेदों और सम्बन्धों के आधारभूत आधार की तरह, एक अविभेदी, सम्बन्धहीन तथा निरपेक्ष चेतना को पूर्व प्रस्तावित करती है।

निष्कर्ष

हिन्दू विचार की विभिन्न आस्तिक दर्शन प्रणालियों से स्वचेतना की समस्याओं का पूर्वगामी अध्ययन यह प्रदर्शित करने के हेतु किया गया है कि प्रथमत :

(१) स्वचेतना का सम्बन्ध विशुद्ध चेतना के जगत् से नहीं है; और यदि 'चेतना' से आधारभूत विशुद्ध 'चेतनत्व' का अर्थ ग्रहण किया जाता है, जो कि सम्पूर्ण सीमित करनेवाले विशेषणों और 'अहं तथा अन्-अहम् के विभेदों से हीन है, तो स्वचेतना की समस्या का उद्भव ही नहीं होता है। तथा द्वितीय, कि

(२) यह कोई महत्व नहीं रखता कि विचार की किस प्रणाली से हमारा सम्बन्ध है, किन्तु जैसे हम व्यावहारिक क्षेत्र की निम्नतर धारणा पर उतरते हैं, वैसे ही हमें चेतना में विषयी-विषय के विभेद के लिए प्रस्तुत होना और इस तरह स्वचेतना के सिद्धान्त के लिए प्रस्तुत होना पड़ता है। यह प्रश्न

कि ठीक रूप से आत्मा का प्रत्यक्ष किस प्रकार होता है, न्यायानुमोदित 'अनुमान' से, या वेदान्त तथा सांख्य-योग मतानुसार अपरोक्षानुभूति या 'प्रातिभज्ञान' से, या कुमारिल के मतानुसार साधारण आन्तरिक प्रत्यक्ष से, या पुनः प्रभाकर के अनुसार विषयी की भाँति स्व-प्रत्यक्ष से, यह दिखाने से अलग स्वयं अपने आप में बहुत कम महत्व रखता है कि आत्मा, अहं या 'मैं' की तरह ज्ञान में आनेवाली वस्तु स्वयं चेतना कभी नहीं होती, बल्कि वह चेतना की कोई स्थितिविशेष या रूपान्तर मात्र ही होती है। इस तथ्य से चेतना के अद्वय, शुद्ध और अविभाजनीय स्वरूप पर महत्वपूर्ण प्रकाश पड़ता है।

(३) यह भी दिखाया जा चुका है कि आत्मचेतना की प्रत्येक स्थिति में दो बातें अनिवार्यतः घटित होती हैं : (अ) आत्माओं का अनवस्था दोष, प्रसंग, और (ब) आत्मा का विषय बनना जो कि उसके स्वरूपतः विषयी स्वभाव के नितान्त विपरीत पड़ता है। अनवस्था दोष तथा आत्मा के एक विषय में परिणत होने के ये दोनों ही विकल्प स्वीकृतियोग्य नहीं हैं यद्यपि ये दोनों ही स्वचेतना के तथ्य में आवश्यकरूप से सन्निहित हैं। इन विरोधों को एक उच्चतर अहं-प्रत्ययहीन चेतना को मान्यता प्रदान करके ही केवल दूर किया जा सकता है क्योंकि इसमें वे अपना समाधान पा सकते हैं।

इस कारण, चेतना के दो पहलुओं, अनुभवातीत तथा अनुभवाश्रित, की स्पष्ट स्वीकृति की अत्यन्त आवश्यकता है। अनुभवाश्रित या व्यावहारिक चेतना की उलझनें तथा विरोध अनुभवातीत या पारमार्थिक चेतना की धारणा में समायोजित हो जाते हैं। इस स्वीकृति पर ही 'आत्मा' तथा 'जीव' का अद्वैतवादी भेद आधारित है। 'आत्मा' चेतना का नित्य प्रकाश है। 'जीव' शरीर, इंद्रियों, मनस् तथा अन्तःकरण द्वारा सीमित नित्य चेतना है। आत्मा सम्पूर्ण अनुभव का आधार तथा पूर्व प्रस्तावना है। जीव विषयी तथा विषय दोनों हो सकता है जबकि आत्मा चेतना का विषय कभी भी नहीं हो सकती है। वह चेतना का विषय तभी बन सकती है जब अपनी पवित्रता को खो देती है और अपने सीमित करनेवाले विषयों के द्वारा निर्धारित होती है। अन्तरतम प्राण की तरह आत्मा का ज्ञान केवल अपरोक्षानुभूति के द्वारा ही होता है।[१]

(४) विषयवस्तु रहित तथा आधारभूत चेतना के सिद्धान्त की स्वीकृति का एक महत्वपूर्ण परिणाम अक्रिय आत्मा की धारणा भा है क्योंकि ज्ञाता होने में ग्रहण या ज्ञान की क्रिया अनिवार्यतः सन्निहित होती है। पूर्ण में किसी प्रकार की क्रिया नहीं हो सकती।

प्रत्ययवादी विचार, ज्ञान की आवश्यक पूर्वप्रस्तावनाओं की प्रागनुभव निगमन प्रणाली का अनुसरण करके, प्राय: अनिवार्यरूप से परिवर्तन और विकास की भूमि एवं आधार की तरह एक पूर्णरूपेण अपरिवर्तनशील, अक्रिय एवं अचलरूप से स्वसमान चेतना की धारणा पर पहुँचाता है। इसलिए, इसकी दृष्टि में, कुछ भी जो विकसित तथा परिवर्तित होता है, वस्तुतः यथार्थ नहीं हो सकता, और इस तरह 'यथार्थ' या 'सत्य' अपरिवर्तनीयता, 'नित्य' तथा 'अविक्रिय' से तादात्म्यक् हो जाता है। इसके ठीक विपरीत, यथार्थवादी विचार की स्थिति है। वह व्यावहारिक ज्ञान तथा अनुभवमूलक और सदैव निरीक्षण योग्य तथ्यों की सीमा का अतिक्रमण करने की अपनी अनिच्छा के कारण यथार्थ के एक अधिक आधारभूत तथा सत्यतर लक्षण की भाँति विकास, क्रियात्मकता तथा परिवर्तन की धारणा पर पहुँचता है। इन विरोधी दृष्टिविन्दुओं से प्रारम्भ करने के कारण प्रत्ययवादियों तथा यथार्थवादियों के निष्कर्षों की विभिन्नता किंचित् भी आश्चर्यजनक नहीं रह जाती है। यथार्थवादी के लिए, प्रत्ययवादी द्वारा प्रस्तावित अनुभवातीत सत्य जो न कुछ बनता है और न ही अपने को रूपान्तरित ही करता है बल्कि नितान्त एकाकीरूप से स्वयं अपने में ही प्रतिष्ठित बना रहता है, न सिर्फ अनुभवमूलक दृष्टि से ही अज्ञात है बल्कि व्यावहारिक रूप से अपरिणामी भी है।

यह जानना अत्यन्त महत्वपूर्ण है कि परम सत्य की तरह अचल चेतना या 'अविक्रिय चिन्मात्र' की धारणा के प्रत्ययवादी निष्कर्ष में और परिवर्तन, तथा क्रियात्मकता का कार्य यथार्थ के एक निम्नतर सिद्धान्त को प्रदान करने में, शांकर का अद्वयवादी दृष्टिकोण तथा सांख्य-योग की द्वयवादी विचारधारा, दोनों उस सीमा तक मिलते और एक दूसरे से सहमत होते हैं, जहाँ तक परिवर्तन तथा क्रियात्मकता का सम्बन्ध पूर्वगामी में 'जीव' या अविद्या से तथा उत्तरवर्ती में जड़ 'प्रकृति' से बताया गया है। वेदान्त में पारमार्थिक आत्मा तथा सांख्य-योग में 'पुरुष' परिवर्तन तथा क्रियात्मकता से मुक्त प्रस्तावित किये गये हैं।

● ●

१. शांकर भाष्य, भूमिका, पृष्ठ १०। आनन्द आश्रम संस्कृत सीरीज।

छठा अध्याय

चेतना का अनुभवातीत स्वभाव

प्रस्तावना

हमने विगत अध्याय में देखा है कि स्वचेतना की समस्या का अध्ययन हमें अहं-प्रत्ययहीन तथा अनुभवातीत की एक ऐसी चरम धारणा की ओर ले जाता है जो कि हमारे सम्पूर्ण ज्ञानानुभव की पूर्व-प्रस्तावना के अतिरिक्त और कुछ नहीं हो सकती है। हमने देखा है कि ज्ञान के किसी भी सन्तोष-जनक सिद्धान्त के लिए चेतना के दो प्रकारों तथा दो विभिन्न सिद्धान्तों के लिए स्थान बनाना अत्यन्त आवश्यक प्रतीत होता है, जिनमें से एक रूपान्तरों से गुजरता है जबकि दूसरा नितान्त अरूपान्तरित तथा अपरिवर्तनीय बना रहता है। पूर्वगामी को अन्त:करण, चित्त या बुद्धि तथा उत्तरोत्तर को 'चित्' या 'बोध' कहा जा सकता है। मानसिक रूपान्तर तथा अन्त:करण की वृत्तियाँ स्वयं केवल अपने ही द्वारा ज्ञान का विधान नहीं करतीं, क्योंकि स्वयं अपने आप पर छोड़ दिए जाने पर वे एकदम अचेतन और जड़ हैं। किसी विषय के ज्ञान का उद्भव केवल तभी हो सकता है जबकि चेतना का प्रकाश या 'चित्', जो कि अन्त:करण की वृत्तियों से अन्य है, विषय तथा वृत्तियों दोनों को एकत्रित रखता तथा उन्हें प्रकाशित करता है। 'अन्त:करण' तथा 'चित', अचेतन परिवर्तनशील सिद्धान्त तथा चेतन अपरिवर्तनशील सिद्धान्त के मध्य का भेद इतना आधारभूत है कि चेतना की कोई भी तत्वमीमांसा उसकी उपेक्षा नहीं कर सकती। यह भेद इतना महत्वपूर्ण है कि चेतना की समस्या से सम्बन्धित किसी भी तत्वमीमांसा का वह एक अनिवार्य भाग कहा जा सकता है।

योगभाष्य, मनस् तथा आत्मा के मध्य इस विभेद को स्वीकार करने के लिए, तीन कारण प्रस्तुत करता है।[१] मन आत्मा से भिन्न है, क्योंकि प्रथमत: पूर्वगामी रूपान्तरित होता है, द्वितीय, मन, चित् के प्रयोजन को पूरा करता है जिसके लिए कि वह एक विषय है, जबकि अनुभवातीत आत्मा या पुरुष के लिए कोई भी साध्य प्राप्तियोग्य नहीं है, तथा अन्तत:, मन 'सत्व', 'राजस'

१. योग भाष्य, २. २०.

तथा 'तामस्' के रूप ग्रहण करता है जबकि आत्मा मुक्त है तथा इन विधायक तत्वों में से किसी के भी गुण को अपने पर ग्रहण नहीं करता है।[१] यह अनुभव निरपेक्ष चेतना 'साक्षी', 'केवल', तथा अकर्ता की भाँति अस्तित्व में होती है। वह परिवर्तनों में प्रवेश नहीं करती और अपनी अन्य प्रतिमूर्ति बुद्धि से भिन्न होती है। उसका अस्तित्व एक विशुद्ध विषयी का अस्तित्व है जो कि चित्त के विभिन्न रूपभेदों में परिवर्तित होने में सक्षम होता है। इस प्रकार विशुद्धात्मा, व्यावहारिक ज्ञान-घटनाओं से विभिन्न है क्योंकि वह इन ज्ञान-घटनाओं का भी ज्ञाता है।[२]

चेतना का दो रूपों में यह विभाजन प्रथम परिवर्तन के मध्य अपरिवर्तित तथा द्वितीय विषय-वस्तुओं तथा मानसिक वृत्तियों के अनुरूप परिवर्तनशील दार्शनिकों के बीच विवाद की एक जड़ तथा भ्रमों के जन्म का स्रोत रहा है। कणाद, श्रीधर और जयन्त की तरह के यथार्थवादी तथा रामानुज सरीखे प्रत्ययवादी भी, दैनिक अनुभव की दृढ़ भूमि से प्रारम्भ करके विभिन्न विषय-वस्तु से पूर्ण एक परिवर्तनशील तथा शीघ्र अनुक्रमी चेतना को पाते हैं जो कि स्वयं ही परिस्थितियों के सान्निध्य का एक परिणाम है और जिसमें कि चेतना के एकमात्र दृश्य स्वभाव की भाँति विषयी तथा विषय का अनिवार्य सन्दर्भ सन्निहित होता है। और यद्यपि अनुभव की एक संगतिपूर्ण धारा के निर्माण के हेतु, यथार्थवादी को अवश होकर पुर्नस्मरण तथा वैयक्तिक तादात्म्य की व्याख्या के लिए एक नित्य रूप से उपस्थिति तथा अपरिवर्तनशील सिद्धान्त को मानना पड़ता है, तथापि वह परिवर्तनशील चेतना के व्यावहारिक रूप से प्रमाणित किये जाने योग्य तथ्यों से पार कुछ भी नहीं देख पाता, और इस प्रकार अनुभव निरपेक्ष चेतना के 'मूल' को अस्वीकार करने के लिए अपने आपको विवश पाता है। किन्तु, उपनिषदों, अद्वैतवेदान्त, तथा सांख्य-योग के प्रत्ययवादी विचारकों के लिए, यह अनुभव-निरपेक्ष चेतना, सम्पूर्ण अनुभव की रीढ़ तथा मूलाधार है, जिसके अभाव में कि किसी प्रकार का भी ज्ञान, आंशिकरूप से भी, सम्भव नहीं हो सकता है। इस कारण यह जान लेना अत्यन्त महत्वपूर्ण और उपयोगी है कि अनुभव-निरपेक्ष या अनुभवातीत चेतना के सिद्धान्त की उपलक्षणायें क्या हैं तथा इस मान्यता से ठीक ठीक क्या और कितना अर्थ प्रयोजित है।

चेतना के अनुभवातीत स्वरूप के इस अध्ययन से एक अन्य महत्वपूर्ण बात भी जुड़ी हुई है और वह है हिन्दू विचारधारा का वह विलक्षण जोर

१. योगभाष्य २. २०।

२. सांख्य काटिका १६।

जो उसने हमारे जीवन और अस्तित्व के अनुभव-निरपेक्ष स्वरूप पर दिया है। इस कारण भी यह अध्ययन अत्यधिक रुचिकर है। हिन्दू विचार ने अनुभव निरपेक्षता की धारणा को उसके सुदूरतम परिणाम तक विकसित किया है जिसके कारण कि उसे समग्र अनुभव से विछिन्न और पृथक् चरम सत्य की भाँति अनुभवातीत चेतना की धारणा उपलब्ध हुई है।

अनुभवातीत चेतना नित्य तथा सर्वव्यापक है

अनुभवातीत चेतना से उस चेतना का अर्थ लिया जाता है जो कि काल के अन्तर्गत परिवर्तित नहीं होती, जो अपरिवर्तनीय है, शाश्वत है और वस्तुतः काल की संज्ञि के भी अतीत है। वह समय में आबद्ध नहीं है क्योंकि समय स्वयं उसमें ही है। काल संज्ञि का अस्तित्व स्वयं चेतना के कारण है क्योंकि चेतना से पृथक् किसी भी प्रकार के समय की कल्पना नहीं की जा सकती है। कोई भी ऐसा समय कभी अस्तित्व में नहीं था और न ही भविष्य में ही ऐसा कोई समय कभी होगा जब उसका अस्तित्व समाप्त हो चुका होगा। वर्तमान चेतना का पूर्वगामी या पश्चातगामी अस्तित्व या अभाव बिना स्वयम् उस चेतना के ही अस्तित्व की उपस्थिति को चुपचाप स्वीकार किये सिद्ध नहीं किया जा सकता है, जिसे कि समय के किसी भी बिन्दु पर अस्वीकार करने का प्रयास किया जा रहा है। वह एक नित्य यथार्थ की भाँति अपरिवर्तनीय 'कूटस्थ' रूप से अधिष्ठित है तथा सम्पूर्ण परिवर्तनों के साक्षी की भाँति स्वयं परिवर्तित हुए बिना स्थिर रहती है।[1]

वह अरूपान्तरित या कूटस्थ है क्योंकि वह सर्व रूपान्तरों की साक्षी है।[2] वह नित्य है और नित्यता की धारणा का अर्थ है कि वह काल के तीनों विभाजनों में वर्तमान रहती है (सर्वकाल वर्तमानम्)।

वह आकाश की तरह 'सर्वगत्' और 'विभु' है। वह अनवरूद्ध है। वह अनन्त या 'भूया' है। वह असीम है, क्योंकि कुछ भी अस्तित्व में नहीं है जो उसे सीमित कर सकता है। काल की दृष्टि से जिस प्रकार ऐसा कोई समय नहीं है जब चेतना नहीं होती, उसी प्रकार प्रसार की दृष्टि से ऐसा कोई स्थान नहीं है जहाँ वह नहीं है। वस्तुतः, काल और प्रसार के पदों में उसकी विचारणा केवल उसके कालातीत तथा प्रसारतीत स्वरूप को बुद्धि-

---

१. बृहदारण्यक ४. ४. १६. १७, छान्दोग्य ५. ३, कथा० २. १४. ३. १५५२. २२. योगसूत्र ४. १८. २१ इत्यादि।

२. पंचशिखासूत्र। योगभाष्य। २. १८.

गम्य बनाने के हेतु ही की जाती है, अन्यथा उसका विचार काल और प्रसार की भाषा में नहीं हो सकता है। वह कालहीन और प्रसारहीन है। काल तथा प्रसार के विभेद स्वयं उसके नहीं बल्कि उसके अन्तर्गत हैं। उसको काल-प्रसारिक रूप से सोचना गाड़ी को घोड़ों से आगे बाँधने जैसा ही है, क्योंकि काल और प्रसार उसमें हैं और इसलिए ही वह उनमें नहीं हो सकती है।[१] उपनिषद् कहते हैं कि चूँकि जन्म, जीवन और विलय के समय चेतना को छोड़कर और कुछ भी नहीं होता है, इसलिए चेतना ही सब कुछ है, 'सर्व' है।[२]

वह अकारण है

अनुभवातीत चेतना अकारण है क्योंकि उसके अतिरिक्त जगत् में ऐसा कुछ भी नहीं है जो उसका पूर्वगामी हो सकता है। उसके 'आगे' कुछ भी नहीं है। वह इस कारण 'अज' है। और चूँकि उसके अतिरिक्त और कुछ भी अस्तित्व में नहीं है, इसलिए यह अनुसरित होता है कि वह न सिर्फ कारणहीन अकारण है, बल्कि कार्यहीन, अकार्य भी है। वह काल, प्रसार और कार्य-कारणत्व की संपूर्ण सीमाओं से मुक्त है। वह इन सीमाओं से केवल मुक्त ही नहीं है, बल्कि काल, प्रसार और कार्यकारणत्व की धारणायें उसके अन्तर्गत क्रियमान होकर ही सार्थक बनती हैं।[३]

ब्रह्म कारण या कार्य से विहीन है और कभी भी किसी वस्तु का कार्य या कारण नहीं बन सकता है। कार्य-कारण की संज्ञि का आत्मा पर प्रयोग नहीं हो सकता क्योंकि चरम अस्तित्व के दृष्टिबिन्दु से सृजन की 'क्रिया' जैसी कोई वस्तु नहीं हो सकती। उसकी पूर्ण अनुत्पन्नता अजाति ही एकमात्र सत्य है और हो सकता है। यदि परम् सत्य स्वयं अपने में पूर्ण और स्वसंतुष्ट, आप्तकाय है, तब उसके प्रति सृजन की क्रिया का अभिधेय नहीं किया जा सकता है। अनुभवातीत या पारमार्थिक दृष्टिबिन्दु से सृष्टि का कोई अस्तित्व नहीं है, किन्तु हम सृष्टि को देखते प्रतीत होते हैं क्योंकि हमारी सृष्टि सीमित तथा अज्ञानाच्छन्न है। चरम् सत्य के दृष्टिबिंदु से सृष्टि के भ्रम की व्याव-

१. शांकरभाष्य, बृहदारण्यक ३. ८. ७. ४. ४. २०. २. ४. ६. छान्दोग्य ७. २५. २. ३. १४।

२. ऐतरेय उपनिषद् ५. ३।

३. शांकर भाष्य, गौडपाद कारिका ४.१४, २०.४०, बृहदारण्यक ३.८, ४.४०.२०, ५.१६, कथा० २.१४.१८, छांदोग्य ६.१३, ४.५.६.१०।

हारिक सत्ता का कोई अस्तित्व नहीं है। सृष्टि की परिकल्पना उसके द्वारा तथा उनके लिए दी गई एक व्याख्या मात्र है जिनके लिए कि सृष्टि एक तथ्य होना ही चाहिये क्योंकि वे अभी तक उस उच्चतर सत्य के दर्शन नहीं कर सके हैं जो कि सृजन के ऊपर है।

आचार्य गौडपाद के अनुसार, आत्मा या आत्मा से उसके स्वयं के अतिरिक्त किसी भी अन्य वस्तु का न कोई 'होना' है और न कोई विकास है, और सृष्टि की (क) भोगार्थम्, या (ख) क्रीड़ार्थम के रूप में की गई संपूर्ण व्याख्यायें तार्किक दृष्टि से असंतोषजनक सिद्ध होती हैं।[१]

सृजन भ्रम के अतिरिक्त और किसी रूप में समझा नहीं जा सकता है। पूर्ण चेतना को इसलिए ही कारणहीन तथा कार्यहीन कहा गया है।

वह एक अविभाजित तथा विभेदहीन एकता है

पूर्ण चेतना के न वाह्य संबंध हैं और न उसमें आंतरिक विभिन्नतायें हैं। उसके ही प्रकार की 'सजातीय' या उससे भिन्न प्रकार की 'विजातीय' कोई वस्तु जगत में नहीं है तथा कोई आंतरिक भेद, 'स्वगतभेद', भी उसमें नहीं है। वृक्ष में पत्तों से उसका सजातीय संबंध तथा अन्य प्रकार के पदार्थों, जैसे पत्थरादि, से विजातीय संबंध होता है, किन्तु पूर्ण चेतना के लिए इस तरह की न कोई सजातीय वस्तुएँ हैं और न विजातीय, और न ही उसमें कोई स्वगत आंतरिक भेद ही है।[२] वह 'निर्विषय' तथा निराश्रय' है और इस कारण पूर्णतया विभेदहीन और अविभिन्न है। चेतना के संपूर्ण विभेद तथा भिन्नतायें उसकी व्यावहारिक तथा सापेक्ष अभिव्यक्ति से संबंधित है और उसे विशेषित करने वाली स्थितियों तथा उपाधियों की विभिन्नताओं पर निर्भर होती हैं। किन्तु वास्तविक आत्मा इनसे स्वतन्त्र और अतीत होती है।

साधारणतः व्यावहारिक चेतना में 'की' चेतना तथा किसी 'के लिये, चेतना होती है। किन्तु इस तरह का कोई विभेद पूर्ण चेतना में नहीं हो सकता। उसमें अहं-चेतना या अहं-प्रत्यय के ज्ञान का अस्तित्व भी नहीं होता क्योंकि वह तो बस अविभेदी चेतना का एक पुंज मात्र ही होती है। तथापि वह अचेतन 'जड़वत' नहीं है बल्कि चेतन-स्वभावी, 'ज्ञान स्वरूप' है।[३] पूर्ण

१. गौडपादकारिका ९।
२. पंचादशी २०.२१।
३. विरण प्रमेय संग्रह पृष्ठ ४०।

चेतना में आये सारे विभेद और विभिन्नतायें 'अहंकार' के कारण होते हैं। उदाहरणार्थ, पूर्ण चेतना अहंकार की अवस्थानुसार प्रगाढ़ निद्रा, स्वप्न तथा जागृति की अवस्थाओं से गुजरती है, वह निद्रा में होती है जबकि अहंकार स्वप्न या जाग्रति में होता है। प्रगाढ़ निद्रावस्था में विभेद का कोई बोध या चेतना नहीं रहती, क्योंकि उस अवस्था में अहंकार की पूर्ण या आंशिक क्रियाशीलता के अनुसार का अर्ध या पूर्ण विभेद शेष रहता है।[१]

अविभेदी चेतना ठीक उसी प्रकार अविभेद प्रतीत होती है जिस प्रकार कि 'प्रकाश', 'आकाश' तथा सूर्य उन्हें सीमित करने वाले विशेषण अंगुलि, घट तथा जलादि विषयों के द्वारा सविभेद प्रतीत होते हैं।[२]

द्वैतता, जोकि गलतरूप से चेतना का नित्य लक्षण प्रस्तावित की गई है, केवल 'मनस्' की क्रियात्मकता के कारण अस्तित्व में होती है।[३] अद्वैत चेतना विभेदित नहीं होती। इससे किसी प्रकार का वैभिन्न्य नहीं है। और जो उसमें वैभिन्न्य को देखता है, 'मृत्यु से मृत्यु को भटकता रहता है'।[४]

वह अप्रभावित, 'असंग' तथा 'केवल' है :

शुद्ध चेतना शुभ-अशुभ, तथा सुख और दुःख के अनुभवों से नितांत अप्रभावित रहती है, क्योंकि वह अनुभवों की भोक्ता नहीं, बल्कि उनके पृथक एक द्रष्टा की भाँति उसका अस्तित्व होता है। इच्छा और अभिलाषा, सुख और दुःख की भावनायें उसका स्पर्श नहीं करती हैं; क्योंकि वे उसका अंश नहीं होतीं हैं।

अपूर्णतायें तथा उनके परिणामस्वरूप उत्पन्न दुर्गति तथा असुख, सांतता तथा सीमाओं के स्तर से संबंधित होते हैं जोकि 'जीव' का स्तर है, पूर्ण चेतना का नहीं। पूर्ण या विशुद्ध चेतना वस्तुतः सुख या दुख की संभावनाओं से अप्रभावित होती है किन्तु वह अपने ऊपर शारीरिक तथा मानसिक समूह की सीमाओं को आरोपित कर लेती है। इस आरोपण के बाद वह अपने को सुखी या दुखी की भांति विचारती है। वह वस्तुतः उस 'बुद्धि' के समग्र सीमित करने वाले विशेषणों से स्वतन्त्र होती है जिनके अभाव में कि वह

१. दृग्दृश्यविवेक १०।

२. शांकर भाष्य ३.२.२५।

३. गौडपादकारिका ३.३१ तथा योग वशिष्ठ।

४. बृहदारण्यक ४.४.१९।

अनुभवकर्ता, भोक्ता, या किसी भी कर्म का कर्ता नहीं हो सकती है।[१] वह किसी भी भौतिक, भावात्मक या मानसिक वस्तु से पूर्णतया असंबंधित है। उसका किसी से भी किसी प्रकार का कोई सीधा संबंध नहीं है।[२] संबंध, मिश्रण, या संसर्ग अपवित्रता का एक कारण होता है। अनुभव-निरपेक्ष चेतना पूर्णरूपेण पवित्र तथा शुद्ध है और इस कारण पह पृथकता की अपनी अमिश्रित पवित्रता में ही सदा अवस्थित रहती है।[३]

उपनिषद् कहते हैं कि पुरुष असंबंधित या असंग है: 'असंगोऽयम पुरुषः' वह उसी रूप से एकाकी है जैसे कि म्यान से बाहर खींच ली गई तलवार होती है। योग का आदेश है कि 'केवली पुरुष स्वयं अपने आपमें यद्यपि शुद्ध तथा अमल है किन्तु वह भी अपने से पर से संसर्ग करने के कारण उसी भाँति कलंकित तथा सदोष हो जाता है जिस भाँति की पवित्र जल अन्य पदार्थों के संसर्ग के कारण अशुद्ध हो जाता है।

वेदांतानुसार, ब्रह्म का स्वभाव पूर्णरूपेण असंग है और हिन्दू प्रत्ययवाद में इस प्रकार की चेतना ही वह एकमात्र वस्तु है जोकि वास्तविकरूप से यथार्थ है तथा जिसकी सत्ता को पारमार्थिक माना गया है। इस अनुभवातीत चेतना के विपरीत व्यावहारिक चेतना की सत्ता है जिसका कि स्वरूप ही विभेदों, अन्तर-संबंधों और परिवर्तनों जैसा है। व्यावहारिक चेतना की सत्ता परनिर्भर तथा सापेक्ष है। व्यावहारिक चेतना की सत्ता को पूर्णतया अस्वीकृत नहीं किया गया है। जो कुछ प्रतिवादित किया गया है वह यह है कि व्यावहारिक चेतना का अस्तित्व सापेक्ष है तथा अनुभवातीत या पारमार्थिक चेतना की उस आधारभूत यथार्थता के कारण है, जो कि स्वयं अपनी बारी में, किन्हीं अन्य स्थितियों पर आधारित 'या निर्भर है।' चेतना के इन दो स्तरों के संबंध में यथार्थवादी तथा प्रत्ययवादी के दृष्टिकोण के एक विभेद को याद रखना यहाँ महत्वपूर्ण है। जबकि यथार्थवादी अनुभातीत तथा निरपेक्ष चेतना से पूर्णतया इंकार करता है, वहीं प्रत्ययवादी व्यावहारिक चेतना के पूर्णत्व से ही केवल इंकार करता है। प्रत्यवादी ने व्यावहारिक चेतना को पूर्णतया कभी भी अस्वीकृत नहीं किया है।

---

१. योग भाष्य २.१८।

२. बृहदारण्यक २.१.८, ४.३.७, ३.६.२६।

३. योगभाष्य २७।

यह बिल्कुल भी आश्चर्यजनक नहीं है कि 'यथार्थ के यथार्थ' या 'सत्यस्य सत्यम्' के यथार्थ से बहुधा तीव्ररूप से इस कारणवश अस्वीकार किया जाता है कि वह ज्ञेयता तथा प्रमाण के सामान्य नियमों के प्रति उत्तरदायी 'नहीं' है। तथापि अनुभवातीत चेतना के अस्तित्व के लिए उपलब्ध एकमात्र प्रमाण स्वयं व्यावहारिक चेतना में निहित पूर्वप्रस्तावनाओं के अविष्कार पर ही निर्भर हो सकता है। यह प्रतीत होता है कि प्रमाण की इस अपरोक्ष प्रणाली की प्रामाणिकता तथा कार्यकारिता को पर्याप्त रूप से स्वीकार नहीं किया गया है। किसी तथ्य के अस्तित्व में जो कुछ भी पूर्वप्रस्तावित होता है, चाहे उसे प्रत्यक्षरूप से कभी भी प्रमाणित न किया जा सके, वह उतना ही निश्चितरूप से यथार्थ होता है जितना कि वह तथ्य यथार्थ होता है जो कि उसे पूर्वप्रस्तावित करता है। इस कारण, चेतना के अनुभव-निरपेक्ष स्वभाव में विश्वास करने के हेतु, 'समाधि' या ब्रह्मज्ञान की बुद्धि-अतीत अपरोक्षानुभूति के अतिरिक्त जो युक्तियाँ हैं वे तर्कज्ञान-मीमांसात्मक ही हैं। और अनुभवनिरपेक्ष चेतना को सिद्ध करने के लिए प्रस्तुत किये जाने योग्य एकमात्र प्रमाण प्रागनुभव नियमन के स्वरूप का ही हो सकता है। ज्ञान-घटना की संभावना के विश्लेषण से एक सततरूप से वर्तमान तथा स्थायी चेतना का स्वयंसिद्ध सिद्धांत अनुसरित होता है, जिसका संगतिपूर्ण अस्वीकार, अनिवार्यतः भौतिकवाद या अज्ञेयवाद के दो अवांछनीय विकल्प की ओर ही ले जा सकता है, जिनमें से कोई भी ज्ञात तथा चेतना की समस्या का हल प्रस्तुत करने में समर्थ नहीं हैं।

निरपेक्ष का बौद्धिक ज्ञान

हम पहले ही कह चुके है कि अनुभव-निरपेक्ष चेतना को उसकी पूर्णता में, हमारी तार्किक बुद्धि से, विचार की उसकी किसी भी यौक्तिक संज्ञियों के द्वारा, नहीं समझा जा सकता। इस अर्थ में वह शब्द तथा वचन के अतीत है। हमने यह भी प्रतिपादित किया है कि जो कुछ हमारी बुद्धि तथा तर्क की सीमाओं के पार अवशिष्ट रह जाता है वह उसी प्रकार अनिवार्यतः अननुभूत नहीं होता जिस प्रकार असीम आकाश अज्ञात नहीं है, यद्यपि प्रसारिक प्रत्यक्ष की किसी भी एकाकी क्रिया में वह पूर्णतया गृहीत नहीं बनता है। वह केवल तार्किक या सापेक्ष से ही अज्ञात है क्योंकि पूर्ण चेतना तार्किक या 'सापेक्ष' नहीं होती और इस कारण ही केवल तार्किक रूप से उसे समझ पाने के हमारे सारे प्रयास आवश्यक रूप से असफल हो जाते हैं। इस कारण, उसका श्रेष्ठतम वर्णन केवल नकारात्मक रूप से उसके लिए उन सारे विशेषणों

के अस्वीकार से ही होता है, जो कि साधारणतः अन्य विषयों के लिए प्रयुक्त किये जाते हैं।

नकारात्मकता की यह प्रणाली ईसाई विचारधारा के इतिहास में भी अज्ञात नहीं है। 'वह क्या नहीं है' यह हमें इससे कहीं स्पष्टतर है कि 'वह क्या है।' और यह भी कि उस तक 'नकारात्मकता के अतिरिक्त' और किसी रूप से नहीं पहुँचा जा सकता है। परम विषयी को हम अपने एकाकी या सामूहिक अभिधेय के द्वारा अशेष नहीं कर सकते। हमारा कोई भी विशेषण उसके साथ पूर्ण न्याय नहीं कर सकता और इसलिए उसका नकारात्मक वर्णन केवल प्रतीकों के द्वारा ही श्रेष्ठ रूप से हो सकता है। इसमें भी यह विस्मृत नहीं करना चाहिये कि इन प्रतीकों के द्वारा जो कि विषयों के जगत से ही ग्रहण किये जाते हैं, उसकी एक संतोषजनकरूप से स्पष्ट धारणा ही हमें हो पाती है जोकि स्वरूपतः परम् एवं पूर्ण चेतना को पूर्णरूप से बुद्धि के ग्रहण योग्य बनाती है।

इस स्थल पर यह सहज ही पूछा जा सकता है कि ऐसी स्थिति में फिर अनुभवातीत चेतना की कोई तत्वमीमांसा कैसे संभव हो सकती है? इसके उत्तर में हम यह पुनरुक्ति ही कर सकते हैं कि निरपेक्ष पूर्ण, यद्यपि तार्किक दृष्टि से स्वरूपतः परिभाषा के योग्य नहीं है, तथापि हम उसकी सत्ता अत्यंत घनात्मक है और उसका ज्ञान इस परिभाषा तथा वर्णन के अतिरिक्त अन्य साधनों से प्राप्त कर सकते हैं। यह भी उचित ही है कि हम 'ब्रह्म' का सुनिश्चित ज्ञान प्राप्त नहीं कर सकते, क्योंकि सुनिश्चित ज्ञान केवल उन विषयों का ही संभव हो सकता है जोकि एक दूसरे से विभेदित किये जा सकते हैं। बर्तनों और घटादि की परिभाषा की जा सकती है क्योंकि वे सीमित और सुनिर्धारित होते हैं, अन्य वस्तुओं से पृथक किये जा सकते हैं, और अपने से भिन्न वस्तुओं से संबंधित भी होते हैं।[१] किन्तु जो सुनिर्धारित नहीं है, उसका ज्ञान भी अन्य वस्तुओं से पृथक करके नहीं किया जा सकता है। केवल इस अर्थ में ही 'पूर्ण' अज्ञेय है। उसके नकरात्मक वर्णन का प्रयोजन केवल उसके लिए उन संपूर्ण संज्ञियों का अस्वीकार करना है जोकि मूलतः विषयों के लिए व्यवहृत होती हैं। यह नकरात्मक वर्णन प्रत्येक वस्तु की सत्ता को पूर्णरूप से अस्वीकृत नहीं करता है किन्तु ब्रह्म के अतिरिक्त अवश्य ही प्रत्येक वस्तु को अस्वीकार करता है।[२] यह भी कहा गया है कि ब्रह्म का प्रत्यक्ष

१. बृहदारण्यक २. ३. २। शांकर भाष्यः।
२. तथा ३. शांकरभाष्य ३.२.२२।

नहीं होता। इस कारण नहीं कि वह है नहीं, बल्कि इस कारण कि वह प्रत्येक उस वस्तु और विषय का जिसका कि प्रत्यक्ष होता है, और हो सकता है, स्वयं ही प्रत्यक्षकर्ता है।

अध्यारोप की प्रणाली :

किन्तु यदि अनुभवातीत चेतना का अस्तित्व है तो विवेचनात्मक विचारणा की आवश्यकताओं के साथ उसके अस्तित्व का समायोजन और समाधान होना जरूरी है और इस समाधान के हेतु अद्वैत वेदांत अपनी 'अध्यारोप' या 'मिथ्यारोपण' की धारणा के द्वारा प्रयास करता है। इस सिद्धांत का अर्थ है कि यद्यपि शुद्ध चेतना अनिर्वचनीय है, तथापि अध्यारोप की प्रणाली के द्वारा उसका तादात्म्य इस प्रकार के सुनिर्धारित विषयों जैसे शरीर, प्राण, मनस्, अहंकारादि से क्रमशः किया जा सकता है, और तब इनमें से प्रत्येक को उस समय तक अपनी अपनी बारी पर 'यह नहीं' की तरह अस्वीकृत किया जा सकता है। जबतक कि यह प्रक्रिया विवेचनात्मक बुद्धि को अपनी सीमाओं के पार जाने में तथा उसे वह समझा देने में जोकि किसी व्यावहारिक विषय की भाँति नहीं है, सहायक नहीं होता है। 'ब्रह्म के संबंध की स्थिति ठीक उसी प्रकार है जिस प्रकार कि जब शाही सेना दृष्टिगोचर होती है तब छत्र, पताकायें, तथा अन्य शाही प्रतीक राजा की उपस्थिति की ओर इंगित करते हैं जो कि स्वयं नहीं होता और दर्शक जनता यह कहना प्रारंभ कर देती है कि राजा उपस्थित है चाहे वह उन्हें दृष्टिगोचर न भी हो रहा हो'।[१]

अनुक्रमी नकारात्मकता द्वारा उपस्थित 'अध्यारोप' या आलंकारिक आरोपण की यह प्रणाली निरपेक्ष पूर्ण की ओर इंगित करने के लिए एकमात्र उपलब्ध साधन है जोकि अपनी पूर्णता में सापेक्ष बुद्धि के लिए स्वरूपतः अग्राह्य है और जिसके लिए निकटतम पहुँच प्रगाढ़ निद्रा की अवस्था में पाई जाती है।[२] अध्यारोप की प्रणाली वैहिंगेर के 'जैसे कि' दर्शन की भाँति कुछ है जो कि पूर्ण चेतना के वर्णन के लिए एकमात्र ढंग है। इस प्रणाली को पहले से बृहदारण्यक (४.३.७) में 'वह न सोचता है, न गतिमय होता है, किन्तु ऐसा प्रतीत होता है जैसे कि वह सोचता है, जैसे कि वह गतिमय होता है', की भाँति प्रस्तुत किया गया है।[३]

१. शांकरभाष्य, छांदोग्य ७.१.३, गीता १३.१३, शांकरभाष्य १.१.१२।
२. शांकरभाष्य १.१.४।
३. बृहदारण्यक ४.३.७।

यद्यपि ब्रह्म का वर्णन उसके ऊपर अध्यारोपित बुद्धि तथा आनन्द के पदों में नाम, रूप तथा कर्म के साधनों द्वारा किया जाता है तथापि जब हम सीमित करने वाले विशेषणों के कारण उत्पन्न संपूर्ण विभेदों से स्वतन्त्र और अतीत उसके सत्-स्वरूप की विवेचना की इच्छा करते हैं, तब ज्ञात होता है कि इन विशेषणों में बद्ध करके उसे नहीं जाना जा सकता है। और इसलिए इस स्थिति में 'उसके उन संपूर्ण संभव विशेषणों के लोप द्वारा, जिन्हें कि कोई उस पर आरोपित कर और जान सकता है, उसके वर्णन का केवल एक ही 'यह नहीं' का नकारात्मक मार्ग रह जाता है।[1]

अनुभवातीत चेतना और परिभाषा

पूर्ण चेतना को बहुधा ही ससीम तथा विषयागत चेतना के साथ भ्रांतिवश एक ही समझ लिया जाता है क्योंकि भाषा के व्याकरणात्मक रूपों ने, जिनमें कि हमें अपने विचारों को अभिव्यक्त करना होता है, इस धारणा को प्रोत्साहित किया है कि वह कुर्सी या बेंच के प्रकार की कोई वस्तु है। किन्तु शुद्ध चेतना, वहाँ तक जहाँ तक कि वह संपूर्ण ज्ञेय विषयों की पूर्वप्रस्तावना है, उस प्रकार परिभाषित नहीं की जा सकती। परिभाषा करने के हेतु उसे किसी श्रेष्ठतर वर्ग के अन्तर्गत लाना तथा उसी वर्ग से संबंधित अन्य वस्तुओं से भिन्न करना आवश्यक है। किन्तु वह इस वक्तव्य का स्पष्टरूप से विरोध होगा कि वह ज्ञान की परम पूर्वप्रस्तावना है तथा श्रेष्ठतम वर्ग भी है। एक बार जहाँ यह स्वीकृत कर लिया गया कि आत्मा स्वयंभू है, तब यह स्वीकार करना भी आश्यक हो जाता है कि साधारणरूप से उसकी परिभाषा नहीं की जा सकती। इसके साथ ही, परिभाषा की प्रक्रिया को भी स्वयं कुछ ऐसी वस्तु में समाप्त होना चाहिये जिसकी कि परिभाषा नहीं हो सकती, अन्यथा फिर प्रक्रिया का अंत कभी हो ही नहीं सकता। इस कारण चेतना की तरह के पद की परिभाषा में 'नाम परिवर्तन के स्वाँग के अन्तर्गत केवल तादात्म्यक् वक्तव्य ही प्राप्त हो सकते हैं।' शुद्ध चेतना को परिभाषित नहीं किया जा सकता क्योंकि वह परिभाषा-योग्य वस्तुओं से सर्वथा अन्य (अन्यदेव) है। इस स्थल पर हमारी यह पुनरुक्ति आवश्यक नहीं कि इस तथ्य से कि शुद्ध चेतना परिभाषित नहीं हो सकती है हमें यह निष्कर्षित नहीं करना चाहिये कि वह अज्ञात है। इस प्रकार का निष्कर्ष अनुमानित करना उसी प्रकार अविवेकपूर्ण होगा जिस प्रकार कि 'उस व्यक्ति की गणना अविवेकपूर्ण होती है जो कि

---

१. बृहदारण्यक २.३.६.३.९.२८., २.४.१२।

अपने साथियों को तो गिन लेता है पर स्वयं की गणना करना भूल जाता है।[१] यह कहा जा सकता है कि पूर्ण चेतना यद्यपि परिभाष्य है तथापि उसका अस्तित्व पूर्ण रूप से बुद्धिगम्य है।

सत्, चित्त तथा आनन्द के विशेषण उसकी परिभाषा नहीं करते क्योंकि वह कोई सांत वस्तु नहीं है। ये केवल उसका निर्देश मात्र करते हैं।[२] चेतना की परम एकता को एक अपरिभाष्य सार्वभौम वस्तु होना ही चाहिये क्योंकि 'शब्द केवल विषयात्मक जगत की विपरीत यथार्थताओं को ही विशेषित करते हैं'।[३] और चूँकि पूर्ण चेतना का कोई भी विपरीत सत्य नहीं है, इसलिए उसका नामांकन या उसकी परिभाषा नहीं हो सकती है।

पूर्ण चेतना के अस्वीकार में, अज्ञेयवादी बौद्धों अनुभववादी नैयायिकों तथा रामानुज की भांति छद्म प्रत्ययवादियों की एक सामान्य मान्यता है कि प्रत्येक वस्तु जो कि हमारे लिए यथार्थ है उसे आवश्यकरूप से या तो सुनि-दिष्ट, निर्धारित तथा परिभाषा योग्य होना चाहिये या फिर शुद्ध 'कुछ नहीं' होना चाहिये।[४] यह प्रस्तावित करना स्पष्ट ही भ्रांतिपूर्ण है कि जो कुछ भी अस्तित्व में है, वह घटादि की ही तरह इन्द्रियों के माध्यम से ही देखे जाने योग्य हैं, तथा जो कुछ इस तरह प्रत्यक्ष नहीं होता वह खरगोश के सींगों की भाँति है। 'परम चेतना स्वयं, जिसके समक्ष कि संपूर्ण पदार्थ उपस्थित होते हैं, अर्थहीन नहीं हो सकती, यद्यपि यह सत्य है कि किसी सीमित पदार्थ या विषय की भाँति उसकी परिभाषा संभव नहीं है।'[५] चेतना 'अनिदम्' है, वह 'इदम्' की भाँति ही ग्राह्य बन सकती है। एक ज्ञान अन्य ज्ञानों से सह-संबंधित होने के कारण विभेदित तथा परिभाषित किया जा सकता है किन्तु ज्ञानों की आधारभूत चेतना, जोकि अपने से वाह्य किसी वस्तु से संबंधित नहीं की जा सकती उसी रूप से प्रभावित नहीं हो सकती।

चेतना अपने आप में अद्वितीय और अनन्त है और अद्वितीय तथा अनन्त सत्य ज्ञेय नहीं हो सकता क्योंकि उसे जानने का अर्थ उसे किसी अन्य वस्तु से विभेदित करना है। यह भलीभाँति ज्ञात है कि अनन्त को विभाजित नहीं किया जा सकता और इसीलिए पूर्ण चेतना को जोकि अनन्त है, ज्ञाता, ज्ञान तथा ज्ञेय

---

१. तैत्तिरीय, शांकरभाष्य।
२. तैत्तिरीय, शांकरभाष्य।
३. छांदोग्य, शांकरभाष्य ६.२.१।
४. रामानुज भाष्य, १.१.१ पृष्ठ २८।
५. दी नेचर आव सेल्फ, ए० सी० मुखर्जी, पृष्ठ २८१।

विषय के रूप में विभक्त करना उसके अनन्त स्वरूप को ही नष्ट करना है। चेतना या तो अनन्त ही हो सकती है या फिर विभाजित हो सकती है किन्तु दोनों बातें एक ही साथ सम्भव नहीं हैं।

अनुभवातीत चेतना तथा भाषा

अनुभव का हमारा विश्लेषण, भाषा के उन व्याकरणात्मक रूपों से, जिनमें कि हम अपने विचारों को अभिव्यक्त करते हैं, बहुधा प्रभावित हुआ है और इसका परिणाम यह हुआ कि अस्तित्व के सत् रूपों को भाषा के रूपों के सादृश्य समझा और प्रस्तावित किया गया है, जबकि इस प्रकार की कोई सादृश्यता या अनुरूपता अस्तित्व में नहीं है। इस कारण, भाषा की इस विकल्प वृत्ति के विपरीत हमारा सचेत होना अत्यन्त आवश्यक है। विवेचनात्मक समझ, जोकि बुद्धि, अन्तःकरण या विज्ञान के विविध नामों से सम्बोधित की गई है हमें केवल व्यावहारिक रूप से वर्णनीय तथा व्याख्यायोग्य आत्मा ही प्रदान करती है। हमें यह नहीं भूल जाना चाहिए कि इस प्रकार जो आत्मा हमें प्राप्त होती है, वह वास्तविक आत्मा की प्रतिछाया मात्र ही होती है, स्वयं वास्तविक आत्मा नहीं।

विशुद्धात्मा भाषा के जिस रूप में अभिव्यक्त की जाती है, वह वही रूप नहीं है जिसमें कि वह अस्तित्व में होती है। दार्शनिक विचारणा में भाषात्मक रूप या शब्दों की शक्ति (शब्द महात्म्य) अपनी विकल्प वृत्ति में जो भ्रांति पैदा कर देती है, उसका विचार योगभाष्य (१.६) में किया गया है। योगभाष्य ने इस भाँति की परिभाषा इस प्रकार की है : 'वस्तुशून्यत्वेपि शब्दजालमाहत्म्यनिबन्धन: व्यवहार:'।[1] जिसका अर्थ है कि सम्बन्धित सत्य की अनुपस्थिति में भाषात्मक ज्ञान की शक्ति उसके मानसिक रूपान्तरों को पैदा कर देती है। भाषा के व्याकरणात्मक रूप हमें बहुधा उन सत्यों में विश्वास करने के लिए मार्ग-भ्रष्ट करते हैं जोकि उस रूप में कहीं भी अस्तित्व में नहीं होते हैं। व्यास, 'चेतना आत्मा का सत् स्वरूप है' या 'तीर रुका हुआ है' के समान कुछ लोकप्रिय उदाहरणों का सन्दर्भ देते हैं जिन्हें कि सावधानी तथा आवश्यक रूपान्तर के साथ ही समझा जाना चाहिए। इस प्रकार, जब हम कहते हैं कि 'चेतना आत्मा का सत् स्वरूप है', तो इसे उसी रूप में सोच सकते हैं जिस तरह की हम चैत्र से सम्बन्धित किसी गाय के सम्बन्ध में सोचते हैं, जोकि पूर्णरूपेण भ्रान्ति पूर्ण होगा। इस प्रकार की भूल भ्रान्ति का उपचार 'शब्द

---

१. शांकरभाष्य २.३.७।

संकेत स्मृति परिशुद्धि' बताया गया है, जिसका अर्थ भाषात्मक संयोग की स्मृति से मन का शुद्ध करना है, जिसके पश्चात् ही 'निर्विकल्प' या विशुद्ध अविभेदी ज्ञान का उदय होता है।

अनुभवातीत चेतना और प्रमाण

चेतना एक स्वयं-सिद्ध सत्य है। यह सत्य सम्पूर्ण प्रमाण-अप्रमाण के द्वारा पूर्वप्रस्तावित है तथा तार्किक खण्डन या मण्डन के क्षेत्र से समानरूपेण अतीत है। इस सम्बन्ध में भी वह किसी भी अन्य विषय से पूर्णतया भिन्न है। ज्ञान के संपूर्ण अन्य विषय अपनी प्रस्थापना के हेतु प्रमाणों पर निर्भर होते हैं, किन्तु हमारी आधारभूत चेतना प्रमाण के सामान्य नियमों और साधनों पर निर्भर नहीं हो सकती क्योंकि वह स्वयंसिद्ध है। वह 'प्रमाण निरपेक्ष' है।

चेतना का यह स्वयंसिद्ध स्वभाव उसके स्वतः प्रकाशत्व से अनुसरित होता है। उसकी प्रस्थापना के हेतु प्रमाण बिल्कुल ही अयोग्य और सामर्थ्यहीन है, क्योंकि प्रमाणों, साक्षी के अन्य साधनों, तथा प्रमाणिकता की धारणा को ही स्वयं स्वप्रकाशी चेतना के द्वारा प्रमाणित होना पड़ता है। 'त्रिक हृदय' में यह कहा गया है कि चेतना को पकड़ने की मनःस्थिति ठीक उस व्यक्ति जैसी ही हैं जो अपने सिर की छाया को पैर से छूने के लिए कहता है किन्तु पाता है कि उसके पैरों के वहाँ तक पहुँचने के पूर्व ही छाया आगे हट जाती है। चेतना समग्र ज्ञान का आधार है किन्तु वह स्वयं एक ग्राहक है तथा अन्य किसी भी वस्तु के द्वारा ग्रहण के योग्य नहीं है। चेतना प्रमाण की प्रक्रिया का मूलाधार (मूलाश्रय) है और वह प्रमाण की प्रक्रिया के पूर्व ही सिद्ध है।[१] किसी वस्तु के मूल स्वरूप का नहीं बल्कि केवल सांयोगिक या सापेक्षिक स्वभाव का ही खण्डन किया जा सकता है; और जो सर्व प्रमाणों के द्वारा पूर्व-प्रस्तावित है उसे उन्हीं प्रमाणों से प्रमाणित नहीं किया जा सकता है, क्योंकि उस आधार को प्रमाण के द्वारा कैसे प्रस्थापित किया जा सकता है जिसके ऊपर कि स्वयं प्रमाण अपनी प्रक्रिया तथा अस्तित्व के लिए निर्भर होता है।[२]

अनुभवातीत चेतना की आलोचना

(१) रामानुज : हमने देखा है कि उपनिषद्, सांख्य-योग और शंकर वेदान्त के अनुसार, चेतना नित्य, पूर्णरूप से अपरिवर्तनशील तथा विशुद्ध रूप

---

१. खण्डन खण्डखाद्य।

२. रामानुज भाष्य १.१.१ पृष्ठ २०।

से अविभेद चित् है, जोकि सर्वज्ञान तथा ज्ञेय के विभेदों से भी मुक्त और अतीत है। किन्तु अनुभवातीत चेतना का यह सिद्धान्त अपने प्रबल एवं दृढ़ आलोचकों से रहित नहीं है। रामानुज, उदाहरणस्वरूप, निम्नाधारों पर इस प्रकार की चेतना को अस्वीकार करते हैं :

प्रथमतः, यह कि किसी अविभेदी द्रव्य का कोई प्रमाण नहीं है, क्योंकि 'सर्वचेतना' भेद को उपलक्षित करती है तथा चेतना की सर्वावस्थाओं में अपने विषयों के प्रति ऐसा भाव निहित होता है जोकि भेद को सूचित करता है, जैसा कि 'मैंने यह देखा' के निर्णय में प्रगट है।[१] प्रगाढ़ निद्रा में भी चेतना विभेद से प्रभावित होती है।[२]

हमने विगत अध्याय में पूर्व ही अविभेदी चेतना की रामानुजीय आलोचना पर विचार कर लिया है। किन्तु इसके पूर्व कि हम चेतना की नित्यता के सम्बन्ध में उनके द्वितीय आक्षेप और आलोचना पर आते हैं, यह महत्वपूर्ण सुझाव और भी प्रस्तावित किया जा सकता है कि नित्य अनन्त की लोकप्रिय आस्था का जन्म 'नित्य द्रष्टा' और उसके द्रश्य विषयों के विपरीत स्वभावों के मध्य विभेद न कर सकने की असफलता के कारण ही होता है।[३] अहंता का मिथ्या भाव केवल उस समय तक ही शेष रहता है, जब तक कि व्यावहारिक अनुभव की सत्ता रहती हैं। यह भाव 'असम्प्रज्ञाति समाधि में विलीन हो जाता है जहाँ कि आत्मा अपने स्वयं के बोध-स्वरूप में अहंता या विभेद के सम्पूर्ण भावों से रहित अस्तित्व में होती है। इस कारण, स्वतंत्र व्यक्तित्व की कल्पना सापेक्ष है और अपने सत्य स्वरूप के दर्शन के प्रयास में अन्ततः उससे मुक्त होना आवश्यक है। वाचस्पति मिश्र ने ठीक ही कहा है कि उस समय जबकि सम्पूर्ण सापेक्ष परिस्थितियाँ अस्तित्वरहित हो गई है, निरपेक्ष चेतना से अस्वीकार करना नितान्त गलत है क्योंकि उस स्थिति में केवल वही अस्तित्व में हो सकती है।[४] स्फटिक उस समय भी अपनी विशुद्ध पारदर्शिता में विद्यमान रहता है, जबकि रंगीन फूलों को उससे दूर कर लिया गया होता है। चेतना के अनुभवातीत और अनुभवाश्रित रूपों का भेद, सापेक्ष ज्ञान तथा निरपेक्ष ज्ञान, या अरूपान्तरित चेतना तथा उसके रूपान्तरों के मध्य के भेद

---

१. रामानुज भाष्य १.१.१ पृष्ठ २०।

२. योग सूत्र २.६।

३. योग सूत्र १.२।

४. रामानुज भाष्य १.१.१ पृष्ठ २२।

पर आधारित हैं। रामानुज के लिए यदि चेतना का अर्थ चेतना की परिवर्तित हुई विषयवस्तु ही है (जैसा करने की वह सदैव ही प्रतीत होते हैं) तब अनुभवातीत चेतना की उनकी सम्पूर्ण आलोचना सत्य है, अन्यथा उनकी सारी आलोचना विषय से दूर है, क्योंकि वह किंचित भी नित्य चेतना की आलोचना नहीं है। चेतना विषयवस्तु तथा 'रूप' के अपने दुहरे पक्षों से विभेदित तथा अविभेदित होती ही है। चेतना का स्वरूप सविभेद नहीं कहा जा सकता है क्योंकि 'प्रसार काल' या रूप की विभिन्नता के कारण ही एक चेतना की दूसरी चेतना से भिन्न धारणा नहीं की जा सकती है।[१]

इसके बाद हम उनकी द्वितीय आलोचना पर विचार करते हैं जिससे चेतना की नित्यता की अस्वीकृति के हेतु रामानुज ने दो युक्तियाँ प्रस्तुत की हैं। प्रथमतः, कि यदि चेतना नित्य होती तो वह अनुभव में भी उसी रूप में प्रगट होती और उसी भाँति उसका ज्ञान भी होता किन्तु चूँकि इस प्रकार नहीं होता है इसलिए उसे नित्य नहीं माना जा सकता है। इस कारण, समग्र ज्ञान केवल अस्थायी ही होता है।[२] चेतना के नित्य स्वभाव के अनादर के हेतु, रामानुज चेतना की परिवर्तित होती अवस्थाओं के मूर्त तथा विशिष्ट अनुभवों के प्रति हमारा ध्यान आकृष्ट करते हैं। चेतना की नित्यता का ऐंद्रिक ज्ञान की किसी क्रिया में निश्चय ही प्रत्यक्ष नहीं किया जा सकता है। इन्द्रियानुभूतिवादियों की स्थिति को अप्रमाणित करने के हेतु हम यहाँ प्रागनुभववादी की सुज्ञात युक्तियों की पुनरुक्ति आवश्यक नहीं समझते। यह कहना ही पर्याप्त है कि चेतना की नित्यता तथा अपरिवर्तनशील आत्मा के कारण स्वयं ज्ञान की सम्भावना के तर्क में ही निहित है। और इस कारण यह समझ पाना कठिन है कि रामानुज की कोटि का दार्शनिक किस प्रकार नित्य रूप से वर्तमान चेतना की आवश्यकता को नहीं देख सका और आधारभूत चेतना तथा उस चेतना की विषय वस्तु के मध्य भ्रान्ति कर सका।

चेतना की नित्यता के विपरीत रामानुज का दूसरी युक्ति बहुधा संदर्भित इस प्रत्ययवादी सिद्धान्त पर आक्रमण में निहित है कि 'चेतना के अस्तित्व को सिद्ध नहीं किया जा सकता' क्योंकि चेतना का पूर्वगामी अनस्तित्व स्वयं चेतना को ही पूर्व प्रस्तावित करता है जिसका अर्थ है कि चेतना नित्य है। रामानुज इसके प्रत्युत्तर में कहते हैं कि 'इस प्रकार का कोई नियम नहीं है कि चेतना का पूर्वगामी अनस्तित्व, यदि सिद्ध कर दिया जाता है, तो उसे चेतना के साथ समसामयिक होना ही चाहिए'[३] क्योंकि स्वयं विरोधी के मतानुसार

---

१. शिवसूत्र विमर्शिणि, सूत्र १, टीका।
२. रामानुज भाष्य १.१.१ पृष्ठ २६।
३. रामानुज भाष्य १.१.१ पृष्ठ २५।

ही इस प्रकार के नियम को कभी नहीं देखा गया है क्योंकि चेतना के पूर्वगामी अनस्तित्व का निरीक्षण या प्रत्यक्ष कभी सम्भव नहीं हुआ है। किन्तु इस रूप से युक्ति करना इस प्रत्ययवादी स्थिति को स्वीकार कर लेना है कि चेतना शाश्वत है क्योंकि उसके अनस्तित्व का प्रत्यक्ष कभी नहीं होता है। रामानुज इसके आगे पूछते हैं कि 'चेतना स्वयं अपने ही अनस्तित्व का प्रत्यक्ष कैसे कर सकती है जो कि स्पष्टतया उसके विपरीत है ?' किन्तु वस्तुत: यही वह कारण है जिसके कारण कि वह नित्य और शाश्वत है।

हम निष्कर्ष रूप में यह कह सकते हैं कि अनुभवातीत चेतना की रामानुजीय आलोचना इस वाक्य में निहित है कि 'हमें उसका कोई अनुभव नहीं है' और अनुभव से उनका अभिप्राय चेतना की प्रवाही अवस्थाओं के साधारण अनुभवांशों से है। किन्तु यदि वस्तुस्थिति ऐसी है तब केवल नित्य चेतना का ही अस्वीकार नहीं होता है बल्कि स्वयं सम्पूर्ण बुद्धिगम्य अनुभव का भी अन्त हो जाता है। रामानुज की मान्यतानुसार यदि विभेदहीन चेतना का कोई अस्तित्व नहीं है, क्योंकि समग्र ज्ञान ही विभेद का है[१], तब यह स्पष्ट हो जाता है कि रामानुज चेतना की अवस्थाओं के स्वभाव की बात कर रहे हैं न कि उसका जिसे ये परिवर्तनशील अवस्थाएँ ही पूर्वप्रस्तावित करती हैं।

रामानुज न सिर्फ चेतना की अवस्थाओं और अवस्थाओं की चेतना में ही कोई विभेद नहीं करते हैं बल्कि चेतना से सदैव ही उनका अर्थ केवल मनोवैज्ञानिक निरीक्षण की मानवीय चेतना से ही होता है, न कि तत्त्वमीमांसात्मक विचारणा की परम चेतना से जोकि अकेली ही विवेचना के अन्तर्गत है।

न्याय-वैशेषिक आलोचना

अनुभवातीत चेतना का दूसरा अस्वीकार कणाद तथा श्रीधर जैसे यथार्थवादी दार्शनिकों की ओर से आता है। यह अस्वीकार इस यथार्थवादी धारणा में पूर्व से ही उपलक्षित है कि चेतना आत्मा का गुण है। चेतना की शाश्वतता तथा, वस्तुत: उसके सम्पूर्ण अनुभव-निरपेक्ष स्वरूप का अस्वीकार चेतना की उत्पत्ति के न्याय-वैशेषिक दृष्टिकोण से अनिवार्यत: ही अनुसरित होता है। यदि चेतना की उत्पत्ति परिस्थितियों के संयोग से काल के अन्तर्गत होती है और वह केवल उस समय तक ही शेष रहती है जब तक कि वे परिस्थितियाँ अवशिष्ट रहती हैं तो चेतना के प्रति यह सम्पूर्ण दृष्टि ही सदोष है, और जैसा कि पूर्व ही दर्शाया जा चुका है, इससे प्रत्यक्षीकरण का अत्यन्त प्राथमिक रूप भी अव्याख्यित ही छूट जाता है। रामानुज की

१. रामानुज भाष्य १.१.१ पृष्ठ २०।

भाँति यथार्थवादी भी प्रगाढ़ निद्रा, मूर्च्छा, प्रेत प्रवेश आदि में प्रतीत अचेतना को वृहत्‌रूप देता है और उसके आधार पर अपना यह विरोध पुष्ट करता है कि 'यदि चेतना नित्य चित् के स्वभाव की होती तो वह इन अवस्थाओं में भी चेतन बनी रहती।[२] किन्तु मानसिक वृत्तियों के ऊपर एक शाश्वतरूप से चेतन सिद्धान्त की आवश्यकता पर दिये गये जोर में, जिनकी कि वह पूर्व-प्रस्तावना है, उपरोक्त दोषारोपण का उत्तर पहले ही दिया जा चुका है? इसके अतिरिक्त कोई वस्तु यदि किसी स्थिति द्वारा अभिव्यक्त होती है तो वह इस कारण ही उसके द्वारा सृष्ट नहीं होती है। जागृति, स्वप्न, निद्रा तथा मूर्च्छावस्थायें केवल चेतना की विभिन्न स्थितियाँ मात्र हैं, जो कि, यदि चेतना पूर्व से ही अस्तित्व में न होती, तो उसे उत्पन्न या विनष्ट नहीं कर सकती थीं। उपनिषद् ने इसी कारणवश कहा है कि 'वह (चेतना) अन्यथा (मूर्च्छा या निद्रा के बाद) कहाँ से पुनः वापिस आ सकती थी।[३]

नित्य चेतना या अनित्य या अनुभवात्मक चेतना का विभेद अनिवार्य प्रतीत होता है। यदि अनुभवात्भक या 'अनित्य' ज्ञान, जो कि न्याय-वैशेषिक तथा रामानुज के लिए एकमात्र यथार्थ है, आत्मा के शाश्वत ज्ञान से भिन्न नहीं होता तो अन्धा व्यक्ति अपने स्वप्नों में देख नहीं सकता था और यदि सम्पूर्ण ज्ञान की उत्पत्ति इन्द्रिय जन्म ही होती तो सम्बन्धों के ज्ञान की व्याख्या सम्भव नहीं हो सकती थी। नित्य ज्ञान या पारमार्थिक दृष्टि चूँकि नित्य ज्ञाता का स्वरूप (द्रष्टा स्वरूपवत्) है, इसलिए वह उत्पन्न और विलीन नहीं होता है।

रामानुज और यथार्थवादी दोनों ही दैनिक निरीक्षण की मनोवैज्ञानिक चेतना को उसकी तत्वमीमांसात्मक पृष्ठभूमि या आधार के साथ एक समझने के हेत्वाभास की भूल करते हैं और इस मूल के कारण ही मनोवैज्ञानिक चेतना के लक्षणों का तत्वमीमांसात्मक चेतना पर भ्रान्त आरोपण होता है। वृत्ति और चित्त के मध्य भ्रान्ति के इस हेत्वाभास को उनकी इस सामान्य मान्यता में खोजा जा सकता है कि चेतना एक अचेतन आत्मा की उत्पत्ति तथा गुण है तथा वह जगत के किसी भी अन्य परिवर्तनशील पदार्थ की भाँति उत्पन्न तथा विलीन होती रहती है।

---

१. शांकरभाष्य २. ३. १२।

२. ऐतरेय उपनिषद् ३।

३. बृहदारण्यक उपनिषद् २. १. १६।

अनुभवातीत चेतना और आनन्द

अनुभवातीत चेतना के स्वरूप पर और भी प्रकाश डालने के हेतु आत्मा की मुक्तावस्था के स्वभाव के सम्बन्ध में खोज पड़ताल करना आवश्यक है। जीव-मुक्ति की परमावस्था के सम्बन्ध में यह दो सिद्धान्त—धनात्मक तथा ऋणात्मक—हमारे समक्ष हैं। धनात्मक सिद्धान्त, जो कि वेदान्त द्वारा ब्रह्म के स्वरूप की भाँति आनन्द पर दिये गये जोर के कारण लोकप्रिय बन गया है, कहता है कि परम् यथार्थ केवल चित्-स्वरूप ही नहीं है, बल्कि 'चित्' और आनन्द एक ही है।[१]

वेदान्त दृष्टिकोण :

इस दृष्टि के अनुसार मुक्ति की अवस्था आनन्द या भोग की नकारात्मक अवस्था है और इस परम लक्ष्य की ओर मनुष्य की क्रमिक सन्निकटता आनन्द की क्रमशः ऊर्ध्वगामी श्रेणी द्वारा विह्नित होती है। 'सत', 'चित' और अनन्त' के विशेषण 'आनन्द' से तादात्म्यक् है। अनन्त, अव्यय तथा निरपेक्ष होना ही परम आनन्द और निर्वाण है। सीमितता और द्वैत भय और दुःख हैं।[२] असीम जो है वह आनन्द है (यो वै भमा तत् सुखन्)।[३]

वेदान्त दर्शन की युक्ति यह है कि आत्मा मुक्तावस्था में या तो चेतन होती है या अचेतन होती है। इन दो विकल्पों के अतिरिक्त और कोई विकल्प नहीं है। वह यदि अचेतन होती तो वह किसी ठोस शिलाखण्ड की भाँति सुख-दुःख के अनुभव की सामर्थ्य से नितान्त हीन होती और उस स्थिति में पत्थर के एक टुकड़े में और उसमें कोई विभेद नहीं किया जा सकता था। इस कारण, वेदान्त का आग्रह है कि हमें चेतना को आत्मा से स्वरूपतः ही सम्बन्धित मानना चाहिये। इन्द्रियों के द्वारा जब चेतना को बाहर की ओर खींच लिया जाता है तो सांसारिक तथा क्षणिक भोग का अनुभव होता है। किन्तु जब इन्द्रियाँ अपना कार्यकलाप बन्द कर देती हैं, तब चेतना स्वयं आत्मा में विलीन हो जाती है और स्थायी, अनन्त और नित्य आनन्द का भोग करती है।

इस परमावस्था को, उसकी ही एक नकारात्मक धारणा से विभेद करने के हेतु, आनन्द कहा जाता है, जो कि सुख की किसी स्वीकरात्मक उपस्थिति

१. भामती।

२. तैतिरीय उपनिषद् २. ७. ६. २३. ३ ट ६, छान्दोग्य उप० ७. २३. १. बृहदारण्यक ३. ६. २८. ४. ३. ३०. ३२।

३. छान्दोग्य उप० ७. २३. १. ७. २४. १।

की नहीं बल्कि केवल दुखाभाव या कष्ट-मुक्ति की धारणा को ही अभिव्यक्त करती हैं। जिस भाँति अस्तित्व और चेतना (सत् और चित्) एक है, उसी भाँति चेतना और आनन्द (चित् और आनन्द) भी एक हैं। आत्मा की परमावस्था का सत् की अवस्था होना आवश्यक है और दुखाभाव की नकारात्मक धारणा भी केवल उस समय ही सार्थक हो सकती है जब कि कुछ सकरात्मक या धनात्मक भी शेष रह जाता है। आनन्द, इस कारण, एक स्वीकरात्मक पद है जो कि शुद्ध चित् की शान्त और स्थिर अवस्था का प्रतीक है जिसमें कि किसी भी प्रकार की गति या क्रिया के अस्तित्व की सम्भावना नहीं है जो दुःख का कारण होती है। कश्मीरी शैववाद के अनुसार भी शुद्ध चेतना आनन्द से तादात्म्यक् है क्योंकि वह बिना किसी भाव या गति के बोध मात्र है।[१]

आत्मा की मुक्तावस्था के इस धनात्मक दृष्टिकोण का न्याय-वैशेषिक तथा सांख्य के ऋणात्मक सिद्धान्तों के द्वारा विरोध किया गया है। न्याय-वैशेषिक तथा सांख्य दोनों ही इस सम्बन्ध में पूर्णतया सहमत हैं कि आत्मा की परमावस्था केवल 'दुःख' के पूर्ण नकार की अवस्था है और न कि किसी धनात्मक अनुभव की।

वेदान्त दृष्टिकोण की योग आलोचना

विज्ञानभिक्षु अपने 'योग सार संग्रह' में परम चेतना की वेदान्त धारणा की आलोचना करते हैं और बताते हैं कि वेदान्त का दृष्टिकोण इस प्रकार की श्रुतियों के भी विरुद्ध पड़ता है जैसे कि 'जो ज्ञान को प्राप्त कर लेता है वह सुख और दुःख का त्याग कर देता है;[१] या 'भौतिक शरीर से जो विहीन है, सुख और दुख उसका स्पर्श नहीं करते हैं।' मुक्ति या तो धनात्मक उत्पत्ति है और इस प्रकार नश्वर है या फिर वह नित्यधर्मा है और उस स्थिति में सदैव एक उपलब्ध तथ्य है न कि उपलब्ध करने के लिए एक लक्ष्य। यह भी नहीं कहा जा सकता है कि आत्मा का प्रयोजन केवल अपने अज्ञान को दूर करने में ही निहित है, क्योंकि 'मनुष्य का लक्ष्य सदैव ही किसी सुखानुभूति की उपलब्धि का होता है'[२], न कि किसी वस्तु को दूर करने मात्र में ही। यदि यह कहा जाता है कि ब्रह्म पर माया के द्वारा आवरण पड़ जाता है और मुक्ति इस आवरण के हटाव में निहित है, तब चेतना को, जो कि किसी से पराजित और आच्छादित हो जाती है, नित्य नहीं माना जा सकता है।

---

१. अभिनवगुप्तः तंत्रलोकः।

२. १, कथा० उप० २. १२. या छान्दोग्य उप० ८. १२. १.।

इस प्रकार 'मोक्ष' केवल दुःख का अन्त है और उसे आनन्द पुकार कर मन्द बुद्धिवाले मनुष्यों से ही उसकी प्रशंसा की जाती है।[१] आनन्द की प्राप्ति मुक्ति है।

न्याय आलोचना :

श्रीधर भी अपने ग्रन्थ 'न्याय कन्दली' में प्रायः वेदान्त दृष्टिकोण की इसी तरह की अलोचनाएँ प्रस्तुत करते हैं और कहते हैं कि परम चेतना का आनन्द से तादात्म्य करनेवाला सिद्धान्त अन्य विकल्पों की परीक्षा को सहन नहीं कर सकता है। वह पूछते हैं कि क्या मुक्तावस्था में आनन्द का वस्तुतः अनुभव होता है, या नहीं ?' यदि उसका अनुभव नहीं होता है तब अस्तित्व-वान होते हुए भी वह इस कारण अनस्थित्ववान के समान ही है क्योंकि वह भोग-योग्य नहीं है। और यदि उसका अनुभव होता है तो शरीर तथा इन्द्रियों के अभाव में इस अनुभव के लिए उपकरण कहाँ हैं ? आत्मा को कर्म तथा भावना से निहित होना चाहिये क्योंकि कर्म तथा भावना पोद्गालिकता को निर्दिष्ट करते हैं।[२] पुनः, आत्मा के नित्यानन्द को, जो कि उससे स्वरूपतः सम्बन्धित है, सांसारिक अवस्था में बिना उसके सत् स्वरूप को हानि पहुँचाये हुए, उससे विलग नहीं किया जा सकता है। आत्मा या तो इस आनन्द को सदैव ही धारण करती है और उस स्थिति में उसकी उपलब्धि की कोई आवश्यकता नहीं है या फिर कुछ भी उसे पैदा नहीं कर सकता है। इस भाँति आत्मा के लिए नित्यानन्द जैसी कोई वस्तु नहीं है और अतः आनन्दानुभूति मुक्तावस्था की विधायक स्थिति नहीं हो सकती है। 'हमें, इस कारण, मुक्तावस्था को आत्मा की स्वयं की मौलिक अवस्था के जीवन में निहित मानना चाहिये जो कि संसारावस्था से सम्बन्धित समग्र विशिष्ट उपाधियों के अन्त द्वारा चिन्हित होती है।[३]

अद्वैत प्रत्युत्तर

न्याय और योग आलोचनाओं को अद्वैत वेदान्त का प्रत्युत्तर यह है कि इस वक्तव्य से कि परम चेतना आनन्दस्वरूप है, यह अर्थ कदापि गृहीत नहीं है कि उस अवस्था में पोद्गालिक अर्थों में आनन्द का कोई भोग होता है जिसमें कि शरीर और इंद्रियों की सहायता तथा उपकरणात्मकता या अनुभव

१. योगसार सग्रह ४.।
२. सांख्य सूत्र ५. ६८।
३. न्यायकंदली पृष्ठ २८६. २८७।

के लिए आवश्यकरूप से अपेक्षित विषयी और विषय का द्वैत सन्निहित होता है। उसका अर्थ यह है कि परम चेतना अचेतना और व्यावहारिक चेतना दोनों से भिन्न और विपरीत आनन्द के स्वरूप की है, अर्थात् अनुभवाश्रित चेतना के क्षोभ और क्रियात्मकता के विपरीत, जिसमें कि सुखानुभूति सन्निहित होती है, वह अक्षुब्ध और 'शान्त' है। धनात्मक और ऋणात्मक या अकरात्मक और नकारात्मक अनुभव के मध्य भेद बनाये रखने के हेतु ही उसे स्वीकृत किया जाता है। नकार या अस्वीकार किसी अभाव का स्वीकार ही है। 'सत् आनन्द है' का अर्थ है कि वह दुःख के ऋणात्मक स्वभाव का नहीं है बल्कि धनात्मक स्वरूप का है, क्योंकि सत के प्रति अस्वीकार तार्किक रूप से अन्तिम शब्द नहीं हो सकता है। इसके साथ ही, अस्वीकारवादी की मान्यता के अनुरूप यदि परम मुक्ति केवल दुःखरहितता का ऋणात्मक अवस्था ही है, तो कोई भी दुखी व्यक्ति अपने को मुक्त अनुभव कर सकता है, क्योंकि उस स्थिति में भी अन्य सम्भाव्य दुःखों का अभाव होता है।[१] इस तथ्य का उसके द्वारा अस्वीकार यह सिद्ध करता है कि वह परमावस्था की एक धनात्मक अवस्था की भाँति अभिलाषा करता है क्योंकि एक अस्वीकार दूसरे अस्वीकार से भिन्न नहीं हो सकता। पुनः, दुःखरहितता का नकरात्मक सिद्धान्त परमावस्था की प्राप्ति में सुख की श्रेणियों की स्वीकृत के सिद्धान्त के विपरीत है, क्योंकि जो अस्तित्व में ही नहीं है उसे निश्चय ही वर्गीकृत नहीं किया जा सकता है। यदि यह स्वीकृत किया जाता है कि अनुभव की चरमावस्था विशुद्ध चेतना की अवस्था है तब यह निष्कर्ष भी हम पर अनिवार्यतः आ पड़ता है कि उसे आवश्यकरूप से आनन्द के स्वरूप का ही होना चाहिये क्योंकि अन्य रूप से उसे विशेषित नहीं किया जा सकता है।

परमावस्था में आनन्द तथा चेतना में किसी प्रकार का भेद खोज सकना असम्भव है। दुःखाभाव या दुःखरहितता की ऋणात्मक अवस्था की तर्कसंगत धारणा उसे धनात्मक अवस्था तक ले जाये बिना करना सम्भव नहीं है। आनन्द इस धनात्मक धारणा का ही दूसरा नाम है। किन्तु हमें यह पुनः दोहरा देना चाहिये कि यह भी पूर्ण चेतना का पूर्ण या सत्य वर्णन नहीं है। यह उच्चतम सत्य को केवल श्रेष्ठतम सम्भवनीय ढंग से अभिव्यक्त करता है। यह कहना अर्थहीन है कि मुक्त व्यक्ति आत्मा को आनन्द की भाँति जानता है क्योंकि ब्रह्म या तो अपने आनन्द को सावरोध और अन्तराल से जानता है या निरवरोध रूप से निरन्तर ही जानता रहता है और दोनों

१. न्याय कन्दली, पृष्ठ २८७।

ही स्थितियों में एक कठिनाई है, क्योंकि पहली स्थिति में कहने से कोई प्रयोजन पूरा नहीं होता है तथा दूसरी स्थिति में ब्रह्म परिवर्तनमय हो जाता है। 'अतएव, श्रुतियों की व्याख्या ब्रह्म के स्वरूप-निर्धारण की भाँति करनी होगी न कि इस निर्देश की तरह कि आत्मा को आनन्द का ज्ञान या बोध होता है।[१] यह अविचारणीय है कि शुद्ध चेतना के आनन्द का अर्थ एक अनुभवयोग्य या भोगयोग्य आनन्द होता हैं क्योंकि आनन्द, ब्रह्म का, जिसमें न खंडांस हैं और न गुण है, न गुणा है, और न कोई खंड। वह केवल एक अवर्णनीय और परिपूर्ण सत्ता है एक और अनन्त, जिसके सम्बन्ध में किन्हीं अन्य पदों की अपेक्षा 'सच्चितानन्द' के पद में ही सोचना उचित और श्रेष्ठ है।[३]

स्वीकारवादी अद्वैत तथा अस्वीकारवादी न्याय और सांख्य दोनों ही किसी रूप में इस मान्यता में सहमत हैं कि परमावस्था, शुद्धता गुणविहीनता तथा सांसारिक अवस्थाओं के पूर्ण नकार की अवस्था है। वह स्वयं अपने में क्या है, यह अवर्णनीय है, क्योंकि परमावस्था अनिर्वचनीय है, तथा आनन्द की भाँति उसका वर्णन विवेचनात्मक मनस् के लिए उसकी एक सन्तोषजनक धारणा के हेतु एक सहायता मात्र से अधिक नहीं है। आनन्द की तरह उसकी धारणा उसे समझने के हेतु ही है, वह उसका वर्णन कदापि नहीं है।

अनुभवातीत चेतना तथा क्रियात्मकता :

द्वैतवादी सांख्य तथा अद्वैतवादी वेदान्त दोनों के ही अनुसार, अनुभवातीत चेतना, जो कि नित्य तथा अपरिवर्तित रूप से अस्तित्व में रही है, अक्रिय अकर्त्ता है। सांख्ययोग में गति, क्रियात्मकता तथा परिवर्तन का सिद्धांन्त 'प्रधान' से उद्भूत होता है, और 'पुरुष' शुद्ध तथा अनासक्त होने के कारण सदैव अपरिवर्तित और स्वयं से तादात्म्यक ही बना रहता है। अद्वैत वेदान्त में, आत्मा पूर्ण या निरपेक्ष है और इसलिए विकास, परिवर्तन या वृद्धि में अक्षम है। वह न बढ़ती है और न घटती है।[२] शंकर आत्मा के लिए क्रियात्यकता से इन्कार करते हैं क्योंकि क्रिया स्वरूपतः ही अनित्य 'अध्रुव' है। आत्मा कर्म का आवास नहीं हो सकती है, क्योंकि कर्म

१. बृहदारण्यक ३. ६. २८. शांकरभाष्य।

२. पंचादशी ११. २३।

३. बृहदारण्यक ४. ४. २३।

जहाँ भी और जिसमें भी रहता है। उसे रूपान्तरित किये बिना नहीं रह सकता है।[१] सम्पूर्ण क्रियात्मकता अहंता के भाव को पूर्व-प्रस्तावित करती है तथा इच्छा द्वारा उत्प्रेरित होती है।[२]

इसके साथ ही क्रियात्मकता की धारणा में सीमा की धारणा भी सन्निहित होती है। आत्मा से, शरीर तथा अन्य उपकरणों से सीमित हुए बिना, किसी प्रकार का कर्त्तव्य नहीं हो सकता हैं। अनुभवातीत चेतना में तो क्रिया हो ही नहीं सकती क्योंकि क्रिया से चेतना महत्तर है। अनुभातीत चेतना में कोई गति नहीं हैं। इस कारण, क्रिया अक्रिय चेतना से, सक्रिय उपाधियों से उसके संसर्ग के कारण, केवल प्रतीत मात्र होती है कि सम्बन्ध है। परिवर्तन तथा क्रिया की धारणा चरम धारणा नहीं हो सकती है, क्योंकि क्रिया स्वयं किसी के द्वारा प्रत्यक्ष तथा किसी अपरिवर्तशील चेतना के समक्ष प्रदर्शित होती हैं। परम चेतना को जब कभी भी क्रिया या विकास से विभूषित किया जाता है तो वह 'वृत्ति' तथा 'बोध' के मध्य भ्रान्ति के कारण हो पाता है। यह 'वृत्ति' है जो परिवर्ति होती है, वृद्धि पाती है, तथा विकसित होती है। जब कि 'बोध' अपरिवर्तित, सतत तथा स्थायी बना रहता है। मानसिक परिवर्तन चेतना के नहीं, चेतना में परिवर्तन है और मनस् का विकास 'चित् शक्ति' का विकास नहीं है। विकास की धारणा में यह तथ्य सन्निहित है कि विकासमान वस्तु की विभिन्न अवस्थाओं को काल की विभिन्न अवधियों में व्याप्त होना चाहिये। किन्तु विशुद्ध चित् में, यदि उसमें कोई 'पूर्व' या 'पश्चात' नहीं है, तो, कोई विकास सम्भव नहीं हो सकता है।

नित्य 'द्रष्टा', उस सीमा तक जहाँ तक वह परिवर्तनशील जगत को जानता है, स्वयं उसका एक अंश नहीं हो सकता। और यही कारण है कि सांख्य दर्शन ने विश्व को अकृत 'पुरुष' तथा विकासमान 'प्रकृति' के दो भागों में विभाजित किया है। परम चेतना को अननुक्रमी द्रष्टा, परिवर्तनशील मनस् के प्रवाही रूपान्तरों का, 'अक्रम द्रक' होना ही चाहिये। यदि साक्षी आत्मा स्वयं परिवर्तित हो जाती है, तब मन के परिवर्तित होते रूपान्तरों के किसी ज्ञान का उद्भव कभी भी नहीं हो सकता है। परम चेतना काल के अतीत, वर्तमान तथा भविष्य के विभाजन से परे है और अतएव वह अपरिवर्तनशील और नित्य है।[३] नित्य चेतना, अपने स्वरूप में, 'अकान्त'

१. शांकरभाष्य १. १. ४।
२. शांकरभाष्य २. ३. ४०।
३. न्यायसूत्र २. ६६. ७७।

और 'अक्षर' है [१] किस प्रकार घुमाये जाने पर लुआठी (जलती हुई लकड़ी) सीधी और वक्र, प्रतीत होने लगती है, उसी प्रकार चेतना भी है। जब कभी भी विशुद्ध चेतना को कर्त्ता की तरह पुकारा जाता है, तो वैसा केवल अलंकारिक रूप से ही किया जाता है। [२] परम चेतना ज्ञाता भी नहीं है और केवल ज्ञानमीमांसात्मक रूप से ही उसे इस प्रकार को संज्ञा दी जाती है। क्योंकि ज्ञान-व्यापार में भी ज्ञान की क्रिया अन्तर्भावित है जो कि परिवर्तन और रूपान्तर के अन्तर्गत है। इसी प्रकार से वह कर्त्ता भी नहीं है तथा दुःख या सुख से प्रभावित भी नहीं होता है और केवल नीतिशास्त्रीय रूप से ही उसे उस प्रकार विचारा जाता है। [३] इस प्रकार परिवर्तन के सम्पूर्ण गुण चेतना से उसके वास्तविक रूप में नहीं, बल्कि उसके ससीम विशेषयाँ वाले पहलू से ही सम्बन्धधित होते हैं। [४]

इस दृष्टिकोण की आलोचनायें कि 'चेतना सदैव परिवर्तनशील है'

विज्ञानवाद के अनुसार, परिवर्तनशील ज्ञानों की असंख्य श्रृंखलायें ही केवल अस्तित्व में हैं जिनमें से प्रत्येक क्षणिक है तथा स्वयं अपना पृथक् अस्तित्व रखती है। इन ज्ञानों के बीच के विभेद उनसे स्वरूपतः ही सम्बन्धित हैं तथा विषयों के विभेद के कारण नहीं हैं। क्योंकि इस दृष्टिकोण के अनुसार किसी वास्तविक रूप में विषयों का कोई अस्तित्व नहीं है। [५] चेतना का यह दृष्टिकोण अपरिवर्तनशील तथा स्थायी रूप से वर्तमान चेतना के हमारे सिद्धान्त के विपरीत पड़ता है। परिवर्तनशील चेतना के इस सिद्धान्त के समर्थकों का विश्वास है कि इन परिवर्तनों का निर्धारण कार्य-कारण के सिद्धान्त के अनुसार होता है। किन्तु यह देख पाना अत्यन्त कठिन है कि दृश्य जगत् की सतत परिवर्तित होती हुई धारा का सिद्धान्त, उसके कार्य-कारण द्वारा निर्धारण के सिद्धान्त से अविरूद्ध या संगत कैसे हो सकता है? क्योंकि जैसी कि शंकर की युक्ति है कि स्थायी कारण का अस्वीकार अपरिहार्य रूप से इस निष्कर्ष पर ले जाता है कि वस्तु अवस्तु

१. गौडपादकारिक ४. ४५. ४७. ५१. ५२।

२. शांकर भाष्य २. ३. ४०।

३. भगवद्गीता १८. १७। यस्य जाहंकृतो भावो बुद्धिर्यस्य न लिप्यते हत्वापि स इमांल्कोकान्न हन्ति न निबध्यते।

४. शांकर भाष्य २. १. १४। जिसमें अहंकार भाव नहीं है, जिसकी बुद्धि मलिन नहीं है, वह जगत को मारते हुए भी नहीं मारता, न बन्धन में पड़ता है।

५. विवरण प्रेमय संग्रह पृष्ठ ८२।

(अभावाद् भावोत्पत्ति) से उत्पन्न होती है। इस प्रकार से तो कोई भी वस्तु किसी भी वस्तु से पैदा हो सकती है तथा 'खरगोश के सींगों' से भी अंकुर निकल सकता है।[१]

इसके साथ ही, सतत् रूप से परिवर्तनशील चेतना स्मृति तथा प्रत्यभिज्ञ को नितान्त असम्भव बना देती है क्योंकि व्यक्तिगत तादात्म्यकता तथा स्व-प्रत्यभिज्ञ की हमारी चेतना के अस्तित्व के लिए एक स्थायी रूप से वर्तमान सिद्धान्त पूर्व से ही अपेक्षित है। बौद्ध विज्ञानवादी तथा अन्य अनुभववादी दार्शनिकों ने हमारी चेतना में एक स्थायी और अपरिवर्तनशील सिद्धान्त के अस्तित्व से इन्कार किया है तथा स्मृति और प्रत्यभिज्ञ की घटना की 'सम-रूपता' की परिकल्पना द्वारा व्याख्या करने की कोशिश की है। किन्तु 'सम-रूपता' या 'सादृश्य' तो 'तादात्म्यकता' नहीं है और 'सादृश्यता' को भी कम से कम सादृश्यता के प्रत्यक्षीकरण के दो क्षणों में पूरे समय एक अपरिवर्तशील सिद्धान्त को पूर्व प्रस्तावित करना आवश्यक है।[२] यह प्रस्तावित करना भूल है कि तादात्म्यकता का विचार सादृश्यता के द्वारा ही किया जाता है (सादृश्यात प्रत्यभिज्ञानाम्), क्योंकि जब कभी भी इस प्रकार के सिद्धान्त की विचारणा की गई है तब सदैव ही एक स्थायी सिद्धांत भी पूर्व प्रस्तावित किया गया है।[३] क्षणिकवाद के सिद्धान्त को क्षणिक वस्तुओं से भी नहीं बल्कि स्थायी वस्तुओं के दृष्टान्तों से समझाया गया है। सादृश्यता का निर्णय दो वस्तुओं पर आधारित होता है तथा एक विषयी को भी अपने में अपरिहार्य रूप से समाविष्ट करता है जो कि उन दो वस्तुओं के सादृश्य का ग्राहक और निर्णायक होता है। क्षणिकवादी को या तो क्षणिकवाद के अपने सिद्धान्त को छोड़ कर एक विषयी को स्वीकार कर लेना चाहिए जो कम से कम दो क्षण तक अस्तित्व में रहता है या फिर वह सादृश्यता के निर्णय की व्याख्या करने में समर्थ नहीं हो सकता, क्योंकि, कम से कम दो क्षण तक स्थायी रूप से अस्तित्ववान एक विषयी के अभाव में, दो वस्तुओं को सदृश्य वस्तुओं की भाँति कौन ग्रहण करेगा और कौन निर्णय देगा? यह स्पष्ट है कि चेतन क्षणों के क्रम की चेतना सम्भव नहीं हो सकती है, यदि चेतना स्वयं ही उस क्रम की एक सदस्या है।

---

१. शांकरभाष्य २.२.२६।

२. शांकरभाष्य २.२.२५।

३. बृहदारण्यक ४.३.७।

चेतना में परिवर्तन, परिवर्तन की चेतना की व्याख्या नहीं कर सकते। जो कुछ भी हमारे ज्ञान का विषय है वह हमारे मन की अवस्थाओं से परिणत हो जाता है और जबकि कोई न कोई वस्तु सदैव निरन्तर रूप से ज्ञान बनती ही रहती है, तब यह ज्ञान का जगत् है, न कि ज्ञान; जो कि सदा परिवर्तन के चक्र में होता है। आत्मा स्वयं, जिसके समक्ष कि संपूर्ण विषय अर्थ ग्रहण करते हैं, विभाजित और परिवर्तशील नहीं है। इसलिए एक अपरिवर्तनशील आत्मा की धारणा के अभाव में प्रत्यभिज्ञा तथा स्मृति की व्याख्या करना असंभव है क्योंकि यदि आत्मा स्वयं रूपांतरों से गुजरती है, तो मनस् वस्तुओं के रूपांतरों को उसके रूपांतरों के रूप में कौन जानता है या जान सकता है।[१] तादात्म्य तथा एक सूत्रता की धारणाओं को मनस् वस्तु की 'सन्तान' के सिद्धान्त में, जो कि क्षणिक तथा एक सूत्रबद्धता से हीन है, स्थानांतरित नहीं किया जा सकता, क्योंकि या तो एक सूत्रता के अभाव में किसी प्रकार का अनुभव ही अस्तित्व में नहीं होगा या फिर एकता की धारणा पूर्व प्रस्तावित होगी और उसके लिए स्थान भी पूर्व निर्धारित होगा।[२] दो विचार, जो कि समय के दो विभिन्न क्षणों में व्याप्त होते हैं, तथा उसी क्षण अस्तित्व के बाहर हो जाते हैं। जिस क्षण कि चेतना के विषय बनते हैं, न तो एक दूसरे को जान सकते हैं और न ही चेतना के एक अपरिवर्तनशीलरूप से उपस्थित सिद्धान्त के स्वीकार के अभाव में किसी और रूप में जाने जा सकते हैं।

क्रियात्मकता लीला के रूप में

क्रियात्मकता दो प्रकार की होती है। एक जो आवश्यकता, सांतता तथा किसी लक्षण के लिये हेतु से उद्भूत होती है, तथा दूसरी जिसका उद्भव अभाव या सांतता में नहीं बल्कि अनन्त के वैभव तथा समृद्धि में होता है और जो किसी प्रयोजन या लक्ष्य की उपलब्धि के हेतु नहीं होती।

इस दूसरे प्रकार की क्रियात्मकता को कलात्मक नृत्य जैसी क्रियाओं के द्वारा समझा जा सकता है। नृत्य की गतिमयता चलने की सप्रयोजन क्रिया से इस अर्थ में भिन्न है कि उसमें उपलब्धि के हेतु कोई लक्ष्य नहीं है और न ही पहुँचने को कोई गन्तव्य है। जीवन को भौतिक आवश्यकताओं की पूर्ति मात्र के हेतु नृत्य आवश्लक नहीं है। यह जीवनाभिरूचि के आधिक्य का स्वेच्छ खेल है और उसका क्रीड़ा के आनंद के अतिरिक्त और कोई अंत नहीं

१. योगसूत्र ४.१२।
२. योगभाष्य १.३२।

है। सप्रयोजन क्रिया तथा निष्प्रयोजन लीला के मध्य विभेद का यह एक दृष्टांत मात्र है। यदि दोनों के मध्य के विभेद को हम थोड़ा और ऊँचा उठायें तो हमें क्रमशः यह दिखना शुरू हो जाता है कि क्रीड़ा की क्रिया या लीला अधिक सत्यतर और वास्तविक है तथा उसी क्रम से कलात्मक क्रिया तथा व्यावहारिक अक्रिया के मध्य का भेद भी न्यूनतम होता जाता है। चेतना की परमावस्था में क्रिया तथा अक्रिया की धारणायें मिलती और एक बनती हैं। परम चेतन सिद्धान्त की उच्चतम क्रिया जागतिक खेल या लीला है जोकि व्यावहारिक दृष्टिकोण से अक्रिया की भाँति विचारी जा सकती है। नृत्य जितना ही अधिक कलात्मक होता है, क्रिया उतनी ही कम सप्रयोजन और सोपयोगी होती है, अर्थात्, उस प्रकार की क्रिया सर्व-व्यावहारिक प्रयोजनों के लिए अक्रिया ही है। ईश्वर की क्रिया को उच्छ्वास भीतर तथा बाहर ले जाने या राजकुमारों की क्रियाओं की भाँति क्रीड़ा की क्रिया मात्र ही कहा जा सकता है।[१] राजकुमारों की क्रियायें उनकी सक्रियता की अक्रियता ही बताती हैं क्योंकि वे कुछ प्राप्त करने को सक्रिय नहीं होते हैं। उनकी आवश्यकताओं की पूर्ति हेतु सब कुछ उन्हें उपलब्ध होता है किन्तु फिर भी वे अपनी शक्ति आधिक्य के अनुपात में अपने आपको खेल में संलग्न करते हैं। नित्य तथा अनंत चेतना की अनंतता तथा शक्ति आधिक्य तो और भी बहुत अधिक और असीम है। इस शक्ति आधिक्य के कारण ही जगत की अभिव्यक्ति की क्रिया में वह लीला की भाँति संलग्न होती है जिसे कि व्यावहारिक दृष्टिबिन्दु से अक्रियता पुकारना उचित ही है।

सांख्ययोग का द्वैतवादी तथा वेदांत का अद्वैतवादी दर्शन दोनों, क्रिया तथा परिवर्तन की धारणा को, विशुद्ध, अनुभवातीत तथा परम चेतना से भिन्न, जोकि अक्रिय (उदासीन) तथा अपरिवर्तनशील (कूटस्थ) है, किसी अन्य सिद्धान्त से सम्बन्धित बताते हैं। संपूर्ण परिवर्तन, विकास तथा क्रिया जो जगत में देखी जाती है, वह या तो गतिमयता के एक पृथक् तथा सतत तथ्य के कारण है जोकि परिवर्तन की विषय वस्तु प्रस्तुत करता है, (जैसे कि सांख्ययोग में 'प्रवृत्ति'), या सार्वभौम अज्ञान के कारण है जो कि अपरिवर्तनशील चेतना पर परिवर्तन तथा सीमित करने वाले विशेषणों के स्वरूप को आरोपित करता है। जैसे कि अद्वैत वेदांत में 'अविद्या' या 'माया'।[२]

---

१. शांकरभाष्य २.१.३३।

२. गौडपादकारिका ४.१।

यथार्थ चेतना आकाश के समान है और इस प्रकार 'आकाशकल्प' कही जाती है। जिस प्रकार पदार्थों तथा अपने सीमित करने वाले विशेषणों के प्रतिफलन के कारण आकाश, अपवित्रता, परिवर्तन तथा क्रिया प्रदर्शित करता है, ठीक उसी प्रकार की स्थिति परम चेतना के सम्बन्ध में भी है जो कि पूर्णतया अक्रिय है किन्तु 'माया' की अंतरस्थ शक्ति के कारण, सक्रिय तथा परिवर्तनमय प्रतीत होती है। 'प्रकृति' तथा 'माया' गतिमयता तथा विकास के दो स्रोत हैं। विषय-वस्तु रहित, विशुद्ध तथा अक्रिय चेतना के लिए वे उसकी विषय वस्तु तथा रूपाकृति प्रदान करते हैं। यह विषय-वस्तु ही है जो कि सक्रिय होती है तथा भ्रमात्मक रूप से अक्रिय चेतना पर अपनी क्रिया को प्रतिबिम्बित करती है; 'प्रकृति' वही पुरुष के लिए करती है।

निष्कर्ष

इस अध्ययन में हमने यह दिखाने का प्रयास किया है कि चेतना का एक अनुभवनिरपेक्ष पहलू भी है जोकि उसका आधारभूत स्वरूप है। अनुभवातीत रूप से चेतना 'एक', 'नित्य', अपरिवर्तनशील, विभेदहीन एवं पूर्ण व्याप्ति-बोधक वस्तु है जोकि स्वयं के वाह्य तथा आन्तरिक रूपभेदों की निरंतर परिवर्तित होती धारा के आधार और सहारे की भाँति सततरूप से अधिष्ठित रहती है। सम्पूर्ण ज्ञान एवं अनुभव के अनेकत्व तथा एकत्व की वह समान-रूपेण पूर्वप्रस्तावना है।

यह अनुभवातीत चेतना, व्यावहारिक चेतना की पृष्ठभूमि में सदैव रहते हुए भी, स्थिर, केवल, और उससे पृथक् रहती है। वह जिसका आश्रयतल है उसके गुणों में मिश्रित या साझी कभी नहीं होती है। इस कारण ही उसे 'शुद्ध' तथा 'केवल' कहा जाता है। वह व्यावहारिक चेतना की अपवित्र-ताओं से दूर और अस्पर्शित रहती है यद्यपि अनुभव के व्यावहारिक पात्राभिनय के लिए आधारतल उसी के द्वारा प्रस्तुत किया जाता है। यह पृथक् तथापि नित्य विद्यमान चेतना ही केवल सत्य यथार्थ है, क्योंकि सत्य केवल वही है जो कि कभी बाधित नहीं होता है।[१] व्यावहारिक चेतना की यथार्थता के समान है जो केवल उस समय तक ही सत्य रहती है जबतक कि स्वप्न शेष रहता है किन्तु तत्पश्चात बाधित हो जाता है। लोग आदि 'अविद्या' के कारण अनुभवातीत चेतना तथा उसकी व्यावहारिक अभिव्यक्ति के भेद को समझने में भूल कर बैठते हैं और भ्रांतिवश इन दोनों को एक ही मान लेते हैं किन्तु जैसे ही सत्य ज्ञान (विद्या) मिथ्या ज्ञान (अविद्या) को नष्ट करता

१. भामती १.१.४।

है वैसे ही अनुभवनिरपेक्ष चेतना एकमात्र सत्य की भाँति प्रकाशित हो जाती है तथा चेतना का व्यावहारिक अभिनय स्वप्न की तरह विलीन हो जाता है। अनुभवातीत चेतना के आलोचक इसे देखने में असफल हो जाते हैं क्योंकि वे ज्ञान की सन्निहितताओं तथा पूर्व प्रस्तावनाओं के अपने विश्लेषण को उसके तार्किक अंत तक नहीं ले जाते हैं।

● ●

सप्तम् अध्याय

चेतना तथा अचेतना

समस्या-कथन

दर्शन की प्रत्येक प्रणाली में, 'विचार' तथा 'प्रपंच' के संबंध का प्रश्न किसी न किसी रूप में उपस्थित हुआ ही है। द्वैतात्मक तत्वमीमांसा में चेतना और अचेतना के जगतों के मध्य सेतु बाँधना एक नित्य समस्या है। इस तरह की तत्वमीमांसा में चेतना और अचेतना के मध्य की खाड़ी को पहले से ही अधिकतम कर दिया गया होता है। अद्वैतवाद में (किसी भी रूप के यथार्थवादी या प्रत्ययवादी) यह प्रश्न अचेतना तत्व से चेतना के उद्भव के रूप में या इसके विपरीत अचेतना तत्व से चेतना के उद्भव के रूप में अपने आपको प्रस्तुत करता है। कूटस्थ चित् की एक विभेदहीन राशि, जोकि विशुद्ध रूप है तथा स्वयं में अनुभव की अस्थिरताओं तथा वैभिन्न्य से संगठित नहीं है, किस प्रकार स्वयं अपने को अपने से विरोधी, परिवर्तनशील तथा अचेतन पदार्थ में विभाजित कर सकती है? आत्मा अपने अनुभवातीत रूप में शुद्ध 'ज्ञ' और अक्रिय तथा अपने भावात्मक, मानसिक, और शारीरिक विशेषणों से समग्रतया विछिन्न है किन्तु अपने अनुभवाश्रित रूप में 'हंस', देही या 'जीव' के नामों के अन्तर्गत वह भोक्ता है। आत्मा की यह द्वि रूपात्मक धारणा यदि अधिक प्राचीन नहीं तो कम से कम कठोपनिषद् के बराबर पुरानी तो है ही।[1] दर्शन के इतिहास में 'पुरुष' की शुद्ध 'चिन्मात्रा' की धारणा ने, जोकि पौद्गालिक तत्वों के संस्पर्श में उसी भाँति सक्षम है जिस भाँति कि मुक्तावस्था में पृथक् अस्तित्व के लिए, एक विशाल समस्या को खड़ा कर दिया है। यह केवली और अनासक्त पुरुष, ज्ञान तथा भोग की क्षमता का व्यावहारिक अभिनय पूरा करने के हेतु, मानसिक तथा शारीरिक विशेषणों से अपने आपको कैसे संयुक्त कर सकता है? द्वैतात्मक परिकल्पना के अनुसार 'प्रकृति' एक पौदगालिक तथा अचेतन सिद्धान्त है जबकि आत्मायें या 'पुरुष' सचेतन किन्तु अक्रिय एवं तटस्थ सिद्धान्त है। इस स्थल पर यह

---

१. कठ० उप० ३.४।

प्रश्न स्वाभाविक है कि ये दोनों सिद्धान्त एक दूसरे के संस्पर्श में कैसे आ सकते हैं ? दो पूर्णतया विरोधी तथा विपरीत स्वभावी वस्तुयें, स्वयं के स्वरूपों को खोये बिना, किसी भी प्रकार के पारस्परिक सम्बन्ध में प्रविष्ट नहीं हो सकतीं। सम्बन्ध की धारणा में मिलन की उभय भूमि भी नहीं है। जबकि यथार्थ के अद्वयवादी आकलन में चित् से अन्य किसी अचेतन सिद्धान्त के लिए कोई सन्तोषजनक स्थान दिया गया प्रतीत नहीं होता है जिसके साथ कि चेतन सिद्धान्त के सम्बन्ध की कोई सम्भावना हो सकती। तब द्वैतवादी आंकलन के अनुसार, जहाँ कि दोनों सिद्धान्तों को पूर्ण से ही स्थान प्राप्त है, उसके सम्बन्धों की असम्भावना के रूप में समस्या अपने आपको उपस्थित करती है।

इस प्रकार अद्वयवादी तथा द्वयवादी दोनों गणनाओं को विचारांतर्गत लेते हुये, अचेतना और चेतना के सिद्धान्तों के पारस्परिक सम्बन्ध के प्रति, तीन विभिन्न दृष्टिकोणों को सूत्रबद्ध किया जा सकता है।

प्रथम, कि चेतना अकेली ही अस्तित्व में है तथा अचेतन जैसी कोई वस्तु जगत में नहीं है।

द्वितीय, कि चेतना तथा अचेतना के सिद्धान्त दोनों ही स्वतंत्ररूप से अस्तित्व में हैं।

तथा तृतीय, कि चेतना की तरह की कोई वस्तु अस्तित्व में नहीं है और केवल अचेतन सिद्धान्त ही अस्तित्ववान है।

इन तीनों दृष्टिकोणों में से केवल प्रथम दो, वेदान्त के अद्वैतवादी प्रत्यय-वाद तथा सांख्य योग के अद्वैतवादी प्रत्ययवाद, का परीक्षण ही केवल हमारे लिए यहाँ आवश्यक है। पौदगालिक अद्वैतवाद के तृतीय विकल्प का विचार पहले ही किया जा चुका है।[१]

अद्वैतवादी दृष्टिकोण

हमने देखा है कि इस दृष्टिकोण के अनुसार चेतना एक जटिल वस्तु नहीं है जिसे कि सरलतर वस्तुओं में विशिष्ट किया जा सकता है। वह एक ऐसी आधारभूत तथा अविश्लेषण योग्य वस्तु है कि अचेतना की किसी नकरात्मक संज्ञि के द्वारा उसकी विपरीतता नहीं हो सकती। इस दृष्टिकोण का आधार-भूत सिद्धान्त यह है कि 'अचेतना का कोई अस्तित्व नहीं है।' सम्पूर्ण

१. तृतीय अध्याय।

अस्तित्वान वस्तुएँ चेतना में प्रत्यक्ष होती हैं तथा उसमें परिणत की जा सकती हैं जबकि चेतना स्वयं न ऐसी किसी वस्तु पर आश्रित है, न किसी ऐसे के द्वारा उसका प्रत्यक्ष ही होता है जिसमें कि उसे परिणत करना सम्भव हो सके। चेतना सर्व यथार्थ का आधार है। उसके अस्तित्व में होने से जगत का अस्तित्व है और उसके न होने पर कुछ भी नहीं हो सकता है। इस तरह की आधारभूत स्थिति और किसी वस्तु की नहीं है, अन्य वस्तुयें हों तो वह रहती हैं, न हों तब भी रहती हैं। इस आधारभूत चेतना का वेदांतवादी 'ब्रह्म' कहता है।

हम कभी कभी अपने में या अन्य किसी पदार्थ में अचेतनांश को अनुभव करते हैं किन्तु यह सत्य सत् का केवल व्यावहारिक तथा प्रतीकात्मक पौद्गलीकरण है, न कि स्वयं सत् ही जो कि केवल शुद्ध 'चित्' रूप में ही अस्तित्व में होता है। मनुष्य का किसी भी क्षण का अनुभव वस्तुत: एक सम्पूर्ण विश्व है किन्तु व्यावहारिक कारणों से वह अपने अनुभव की समग्रता की उपेक्षा करता है था केवल उन विशिष्ट लक्षणों को ही पकड़ता है जोकि उस समय उसे लाभानुकूल और उपादेय प्रतीत होते हैं। वह प्राप्त आनन्द में से एक अंश मात्र को पृथक काट लेता है और केवल इस अंश को ही उस क्षण की अपनी चेतना मानता है। वस्तुत: 'दिये हुये' अनन्त की कोई सीमायें नहीं बाँधी जा सकती, जोकि तार्किक अंशी है और समग्र को अपने में समाये हुये है। यह निरपेक्ष 'ब्रह्म' है जो कि अज्ञान तथा अविद्या के कारण हमारे व्यावहारिक अनुभव के विशिष्ट टुकड़ों में सीमित तथा चेतना और अचेतना के भागों में विभक्त है। इसके विपरीत वस्तुओं को उसी रूप में देखने से जैसी कि वे है, अर्थात् विद्या के द्वारा देखने से, दिए हुए अनुभव की सीमाओं को असीम तक पीछे हटाया जा सकता है और चेतना की पूर्णता की पुनर्खोज की जा सकती है।

अचेतना क्या है ?

'अचेतना' के पद को भिन्न तीन अर्थों में प्रयुक्त किया जा सकता है।

(अ) अचेतना चेतना द्वारा ज्ञात कोई विषय या वस्तु है तथा चेतना से पृथक् स्वतंत्ररूप से अस्तित्व में हैं।

(ब) अचेतना ऐसी कोई वस्तु है जिसकी कि हमें किंचित भी चेतना नहीं है, तथ वह अस्तित्ववान की भांति भी हमें ज्ञात नहीं है।

(स) या अन्ततः, वह कोई भी ऐसी वस्तु है जिसे कि ज्ञान का 'विषय,' 'ज्ञेय' या 'इदम्,' बनाया जा सकता है कि ज्ञान के विषयी, 'ज्ञाता' या 'अनिदम्' से पृथक् है।

अद्वैत वेदांत के द्वारा अचेतना के प्रथम दो अर्थ स्वीकृत नहीं किये हैं क्योंकि चेतना से बाहर किसी भी वस्तु के अस्तित्व को, उसे चेतना के अन्तर्गत लाये बिना, स्वीकृत नहीं किया जा सकता है। इस कारण, अचेतना का एकमात्र अर्थ है विषयी बनने की अक्षमता तथा 'इदम्' के रूप में प्रकट होने की क्षमता है जिसे कि अद्वैत वेदान्त द्वारा स्वीकृत किया जा सकता है। पूर्ण ज्ञान में, अचेतना 'इदम्' का जगत् क्रमशः संकुचित तथा क्षय हो जाता है जब तक कि योगी या 'सर्वज्ञ,' पूर्ण विद्या के द्वारा 'इदम्' या अचेतना की दीवारों को समग्ररूप से ध्वंश नहीं कर देता। और तब जब कि सर्व विषय आत्मा की भाँति ही देखे जाते हैं, कोई अचेतना शेष ही कैसे रह सकती है, क्योंकि आत्मा के अतिरिक्त उक्त स्थिति में किन्हीं विषयों का कोई अस्तित्व ही नहीं होता।

इस प्रकार यह प्रतिपादित किया जाता है कि चेतना या नित्य चित् के अतिरिक्त कुछ भी अस्तित्व में नहीं है जोकि असत् रूप से स्वयं अपने को ही एक विषय में परिवर्तित करके अचेतना को अपने ऊपर अध्यारोपित करता है। अचेतना का निर्माण 'स्व विषयी करण' की प्रक्रिया के द्वारा होता है तथा 'पुनर्आत्मीकरण' की विपरीत प्रक्रिया द्वारा चेतना अद्वैत चित् की अपनी मौलिक विशुद्धता को पुनः प्राप्त कर लेती है। व्यावहारिक रूप से यह अस्वीकृत नहीं किया जाता है कि वस्तुओं का हमारी चेतना के बाहर अस्तित्व है। व्यावहारिक रूप से इसमें भी कोई सन्देह नहीं कि हमारे मध्य अचेतना के प्रदेश का अस्तित्व है। किन्तु यह इस तथ्य के कारण है कि हमारी चेतना ने अभी अपनी सम्भावना की श्रेष्ठतम स्थिति को प्राप्त नहीं किया है। हमारी चेतना का क्षेत्र जब इतना बढ़ जाता है कि उसमें उपचेतन, अर्ध-चेतन, तथा अचेतन के क्षेत्र भी समाविष्ट हो जाते हैं, तब वह सार्वभौम चेतना के मध्य तादात्म्यक् हो जाता है जिसमें कि उसके अतिरिक्त न कोई अन्य वस्तु अस्तित्व में होती है और न हो सकती है। इस प्रकार जड़त्व या अचेतना केवल चेतना का एक परावर्त तथा विलीन होता बिन्दु है जो कि सर्वश्रेष्ठ यथार्थ की तरह एकान्त रूप से अस्तित्व में होती है।

मनुष्य सोचता है कि सापेक्ष रूप से पत्थर के लिए वह 'ज्ञाता' है, जब कि पत्थर 'ज्ञेय' है। किन्तु यह केवल व्यावहिरक रूप से ही सत्य है; प्रमा-

णिक विचार का पूर्ण सिद्धान्त यह नहीं है। सर्वज्ञ के लिए पत्थर उतनी ही बीजात्मक चेतन वस्तु है जिस तरह की मनुष्य, यद्यपि वह अपनी संभवनीय चेतना के क्षितिज को विस्तृत करने में समर्थ होते हुए भी अभी तक एक अचेतन वस्तु ही बना हुआ है। मनुष्य से अधिक चेतन प्राणी के दृष्टिबिन्दु से मनुष्य भी उसी प्रकार अचेतन होगा जिस प्रकार कि उसके दृष्टिबिन्दु से पत्थर अचेतन है। पत्थर भी अपनी 'अदृष्ट' सम्भावनाओं के अनुसार ज्ञाता तथा भोक्ता है। विश्व के अन्य भागों से चेतना को अस्वीकृत करना, इस कारण, हमारे अज्ञान के कारण ही सम्भव होता है। चेतना तथा अचेतना के प्रति हमारा सामान्य दृष्टि, जो कि केवल विशिष्टीकृत चेतना मात्र को ही चेतना मानता है, तथा सीमान्त और सीमान्तातीत चेतना को अचेतना की भाँति देखता है, इस प्रकार का दृष्टिकोण है जो कि केवल उसको ही देखता है जो कि व्यावहारिक जीवन में उपयोगितापूर्ण प्रतीत होता है। किन्तु इसका यह अर्थ कदापि नहीं है कि व्यावहारातीत या पारमार्थिक चेतना का कोई अस्तित्व नहीं है, जो कि वस्तुतः सर्वव्यावहारिक चेतना का मूलभूत आधार है। इसके विपरीत, वास्तविक वस्तुस्थिति कहीं अधिक यह है कि यह अविशिष्टीकृत चेतना ही है जो कि अकेली ही एक निर्विभेद उपस्थिति की भाँति अस्तित्व में होती है।

इस स्थल पर यह पूछा जा सकता है कि यदि अकेली चेतना ही अस्तित्व है तब वह अपने आपको विभाजित या अचेतना के स्वरूप में स्वयं अपने ही प्रतिवाद का सृजन किस भाँति करती है, क्योंकि विषयी तथा विषय के द्वैत के अभाव में या अचेतन वस्तु की चेतन वस्तु के साथ एकता के बिना किसी प्रकार का कोई अनुभव सम्भव नहीं हो सकता। इस प्रश्न का अद्वैत समाधान या उत्तर यह है कि वस्तुतः अनुभव का कोई अस्तित्व ही नहीं है, और उसकी प्रतीति भिन्न कारणों में से किसी एक दूसरे के कारण होती है।

सम्बन्ध के सम्बन्ध में अद्वैतवादी सिद्धान्त

(१) प्रतिफलन सिद्धान्त या 'बिम्ब-प्रतिबिम्बवाद'।

(२) परिमितता या 'अवच्छेदवाद'।

(३) 'मायावाद' या अविवेक-सिद्धान्त, जिसके अनुसार कि शुद्ध चेतना वस्तुतः बिना परिच्छित या प्रतिफलित हुए, अपने सत् स्वरूप के अबोध के कारण भ्रान्तिवश अपने आपको अचेतन या जड़ मान लेती है।

(१) प्रतिफलन-सिद्धान्त के अनुसार, अनुभवनिरपेक्ष चेतना, जो कि सर्वव्यापक है, अचेतन बुद्धि में प्रतिफलित होती है, जो कि उसके निकटतम है तथा अपनी शुद्धता एवं उस प्रकार की क्षमता के कारण, उसके प्रतिबिम्ब को पकड़ने में समर्थ है। विशुद्ध चित् भूल से उसके सीमित तथा प्रतिफलन करने वाले विशेषणों के विभिन्न रूपों के साथ उसी प्रकार अपना तादात्म्य कर लेता है जिस प्रकार कि चन्द्रमा का प्रतिविम्ब जल के सतत परिवर्तित होते रूपों का अनुसरण करता है।[1] जिस प्रकार कि जल में प्रतिबिम्बत चन्द्रमा जल के हिलने-डुलने के कारण हिलता-डुलता हुआ प्रतीत प्रतीत होता है, या जिस भाँति की स्फटिक अपने निकट पदार्थ का रंग ग्रहण कर लेता है तथा पदार्थ के रंगानुसार कभी लाल और कभी हरा प्रतीत होता है और यद्यपि स्वयं अपने आप में वस्तुतः न तो चन्द्रमा हिलता है और न स्फटिक ही रंगीन होता है, उसी प्रकार ब्रह्म भीं, जिसका स्वरूप कि विशुद्ध तथा विभेद हीन चेतना का है, अपनी 'उपाधियों' के स्वरूपानुसार, जिनपर कि वह प्रतिफलित या प्रतिविम्बित होता है, सविभेद तथा अचेतन प्रतीत होता है।

किन्तु प्रतिफलन दो दी हुई वस्तुओं के बीच सम्बन्ध की परिकल्पना है। अद्वैत की वास्तविक समस्या तो इसके पूर्व ही उपस्थित हो जाती है। यह समस्या है 'ब्रह्म' से अन्य के अस्तित्व की सम्भावना की जिसके अभाव में कि किसी भी प्रकार का सम्बन्ध सम्भव नहीं हो सकता है। यह ध्यान में रखते हुए कि ब्रह्म के अतिरिक्त कुछ भी अस्तित्व में नहीं है, यह प्रश्न सहज ही उठ जाता है कि फिर शुद्ध या निरपेक्ष चेतना के स्वभाव में वह कौन-सी वस्तु है जो उसे प्रतीत अचेतना में परिवर्तित कर देती है।

(२) परिमितता सिद्धान्त के अनुसार, सर्वव्यापी चित् 'मनस्', 'बुद्धि' तथा 'अहंकार' के अपने विशेषणों के कारण सीमित हो जाता है। इस सिद्धान्त को समझाने के हेतु सामान्यतः 'आकाश' का दृष्टान्त दिया जाता है जो कि यद्यपि असीम तथा एक है, किन्तु फिर भी घट या बादल के रूप को ग्रहण करने तथा उनसे सम्बन्धित होने के कारण उसे सीमित तथा अनेक कहा जा सकता है।

इस प्रकार अचेतन जगत सर्वव्यापी तथा असीम चित् के स्वपरिमितीकरण के अतिरिक्त और कुछ नहीं है। असीम ही वास्तविक सत्य है जब कि परिमितता को केवल नाम तथा रूप के कारण ही अस्तित्व में समझना चाहिये। किन्तु यहाँ भी यह देखा जा सकता है कि 'आकाश' भी अपने को

१. बृहदारण्यक शांकर भाष्य २. १. १९।

केवल अपने से अन्य किसी ऐसी वस्तु में ही सीमित कर पाता है जो कि पूर्व से ही विद्यमान होती है। यदि केवल आकाश ही अस्तित्व में होता और उससे अन्य कुछ भी नहीं तो वह सदा असीम ही रहता, कभी सीमित नहीं हो सकता था। यह स्पष्ट ही है कि पूर्ण चेतना में स्व-परिमीतीकरण के लिए कोई कारण भूत प्रवृत्ति नहीं है और न कोई आन्तरिक उत्प्रेरणा या कारण ही है। तथ्य यह है कि अनुभवनिरपेक्ष पारमार्थिक चेतना तथा व्यावहारिक चेतना या चेतना तथा अचेतना के बीच सम्बन्ध की ये दोनों परिकल्पनायें (प्रतिविम्ब प्रतिविम्बतवाद तथा अवच्छेवाद) विश्व में द्वैत अस्तित्व की मान्यता के पश्चात ही संगतिपूर्ण हो सकती हैं। ब्रह्म से अन्य 'द्वितीय' के अस्तित्व की सम्भावना की समस्या, जो कि अद्वैतवाद की केन्द्रीय कठिनाई है, इन परिकल्पनाओं से अस्पर्शित ही रह जाती हैं। अद्वैतवादी उत्तर निश्चय ही यही होगा, और हो सकता है कि ब्रह्म का यह परिमिती-करण भी केवल प्रतीतमात्र ही है, यथार्थ नहीं। जगत के रूप में ब्रह्म का यह मिथ्या एवं प्रतीतमात्र परिमितीकरण केवल अज्ञानी के लिए ही है। वस्तुतः ब्रह्म के अतिरिक्त कुछ भी नहीं है।

किन्तु इस प्रकार के दृष्टिकोण में भी प्रकट कठिनाइयाँ हैं।

(३) वेदान्त के तीसरे सम्प्रदाय के अनुसार 'जीव' अनुभवातीत आत्मा का न तो प्रतिविम्ब है और न परिमितीकरण है। किन्तु जिस प्रकार कुन्ती-पुत्र, राधा-पुत्र की तरह जाना गया था, या जिस प्रकार कि निम्नजातीय परिवार में जीवित होने के कारण शाही परिवार के राजकुमार ने अपने को भूल से निम्न जातीय ही समझ लिया था, उसी प्रकार ब्रह्म स्वयं अपनी अविद्या के कारण सीमायें ग्रहण करता है तथा बाद में स्वयं अपने ही विवेक-ज्ञान द्वारा मुक्त होता है। सांख्य भी 'राजपुत्रवत् तत् उपदेशात्' में दृष्टान्त स्वरूप इसी कहानी का उपयोग करता है तथा सांख्य और योग दोनों अद्वैत-वादी के समान ही अविवेक की परिकल्पना का भी स्पष्ट निर्देश करते हैं। इसका अर्थ है कि पारमार्थिक सत् में वस्तुतः न तो कोई प्रतिफलन है और न कोई परिमितीकरण या रूपान्तरण। वह 'अविद्या' या अज्ञान के कारण, जिसकी सत्ता कि केवल उस समय तक ही रहती है जबतक कि भ्रम अवशिष्ट रहता है, स्वयं अपने आपको व्यावहारिक लक्षणों को मानने का भ्रान्त विश्वास कर लेता है। इस तरह आत्मा आत्मा है, और कोई भी आत्मा, वस्तुतः, बद्ध या मुक्त नहीं है।[1]

अविद्या या अज्ञान की यह परिकल्पना भी, जिसमें कि अद्वैतवादी तथा द्वैतवादी दोनों को इस भेद के अतिरिक्त सामान्य रूप से विश्वास है कि,

जब कि शंकर उसे किसी रूप से ब्रह्म से सम्बन्धित बताते हैं, तब सांख्याचार्य प्रकृति से उसका सम्बन्ध जोड़ते हैं, उस समय स्वयं अपनी कठिनाइयों से मुक्त नहीं है जबकि ब्रह्म से उसके ठीक सम्बन्ध निर्धारण का प्रश्न उपस्थित होता है। यह घोषित करना ही अद्वैतवादी के लिए एकमात्र सम्भवनीय उत्तर है कि माया के इस सिद्धान्त का कोई सुनिश्चित स्वरूप नहीं है, तथा वह स्वयं में अनिर्वचनीय है। अद्वैतवादी की शक्ति वस्तुतः इतनी स्वयं अपनी स्थिति में निहित नहीं है जितनी कि अद्वैतवादी स्थिति के संतोषजनक रूप को प्रदर्शित करने में। 'ब्रह्म' अज्ञान का रचयिता नहीं है और न वह ऐसा ही कर सकता है। यह तो ठीक है किन्तु कठिनाई इस कारण और कठिन हो जाती है क्योंकि यह भी स्वीकृत नहीं किया जा सकता है कि ब्रह्म के अतिरिक्त कोई अन्य वस्तु भी अस्तित्व में है जो कि अज्ञान की रचयिता या भ्रान्ति का कारण हो सकती है।[२]

इन सिद्धान्तों में से कोई सिद्धांत संदिग्धता और अबोधगम्यता से मुक्त नहीं है। यह उलझन भौतिक दृष्टान्तों के कारण और भी बढ़ गई है। अव्यय चित् या शुद्धबुद्धि प्रतिफलित नहीं हो सकती क्योंकि प्रतिफलन के लिए एक नहीं दो तत्वों की नितांत आवश्यकता है। और तब अस्तित्व के विभिन्न तत्वों से सम्बन्धित विषय, मौलिक या प्रतिफलित विषयों की भाँति व्यवहार न ही कर सकते हैं और नहि अद्वय चित् स्वयं अपने या किसी अन्य पदार्थ द्वारा अवरोधित या सीमित हो सकता है। अद्वैतवाद स्वीकार करता है कि 'अज्ञान आत्मा का नैसर्गिक लक्षण नहीं है क्योंकि वह वृद्धिमान होता है, ह्रासमान होता है, तथा सम्पूर्णतया भी विनष्ट हो सकता है। किसी भी पदार्थ के लिए जो गुण नैसर्गिक हैं, वे विनष्ट नहीं किये जा सकते। ज्ञान आत्मा का नैसर्गिक गुण या स्वरूप है और उसे उसी भाँति विनष्ट नहीं किया जा सकता जिस भाँति कि सूर्य की गर्मी और प्रकाश विनष्ट नहीं किये जा सकते। किन्तु तब, किसी पदार्थ के लिए जो कुछ नैसर्गिक है उसे पराजित या अवरोधित भी नहीं किया जा सकता है। इस प्रकार हम यहाँ एक नई कठिनाई में पड़ गये प्रतीत होते हैं। सम्भवतः माया के सिद्धांत का निश्चित स्वरूप निर्धारित नहीं किया जा सकता। यह हो सकता है कि इस प्रकार के प्रश्न पूछना, जिनका कि तब तक उत्तर नहीं दिया जा सकता है जबतक कि अविद्या का पर्दा नहीं उठ जाता है, शायद अतिप्रश्न पूछना है। यह हमारी परिमितता है जो कि प्रश्नों को उठाती है तथा उत्तर को रोकती

१. सांख्यकारिका ६२. वैशारदी २. १७।

२. बृहदारण्यक, शांकरभाष्य १. ४. १०।

भी है। सत् ज्ञान की उपलब्धि तथा ब्रह्म की सत् सत्ता के दर्शन के पश्चात 'अचित्' या व्यावहारिक जगत् का कोई अस्तित्व नहीं रह जाता और इसलिए स्वभावतः ही तत्सम्बन्धी प्रश्नों की समाप्ति भी हो ही जाती है। माया का व्याख्यात्मक सिद्धान्त तथा शुद्ध चित् से अन्य वस्तुओं की सत्ता, दोनों केवल उस समय तक ही अस्तित्व में रहती हैं, जबतक कि ब्रह्मानुभूति की उपलब्धि नहीं हो जाती। ब्रह्मानुभूति के बाद दोनों में से किसी का भी कोई अस्तित्व नहीं रह जाता।

अद्वैतवाद का यह मूलाधार सिद्धांत है कि चित् के अनन्त तथा सर्वव्यापी प्रकाश के अतिरिक्त कुछ भी यथार्थ नहीं हो सकता। यह अनन्त चित् अपने प्रपंच तथा प्रसरण के लिए स्व पर्याप्त है। वह अपने में से ही पदार्थ जगत का निर्माण करने में समर्थ है और किसी अन्य तत्व के अस्तित्व की अपेक्षा उसे नहीं है। द्वैतवादी दृष्टिकोण इसके पूर्णतः विपरीत है और उसका सिद्धांत है कि 'प्रकाशत्व स्वयं अपने को एक विषय नहीं बना सकता है।' इस आक्षेप के प्रत्युत्तर में अद्वैतवाद का कथन है कि वस्तुतः प्रकाशत्व स्वयं अपने को विषय नहीं बनाता है। ब्रह्म और जगत् अभिन्न हैं और इस कारण दोनों के मध्य सम्बन्ध का प्रश्न स्वीकृति योग्य ही नहीं है। किन्तु अद्वैतवाद के साथ हमारी वर्तमान कठिनाई चित् और अचित् जगतों के मध्य सम्बन्ध के बजाय उनकी सृष्टि की ही अधिक है। अद्वैतवाद के लिए यह उचित प्रतीत नहीं होता है कि प्रथम तो वह यथार्थ के दो जगतों को पूर्वमान्यता प्रदान कर दे और फिर बाद में एक के ही पारमार्थिक या अनुभव-निरपेक्ष यथार्थ पर जोर देकर अद्वैत को न्यायोचित ठहराने का प्रयत्न करे। यह स्पष्ट ही समस्या से पलायन प्रतीत होता है। अद्वैतवादी स्थिति से जो समस्या खड़ी हो जाती है वह यह है कि ब्रह्म के एकाकी यथार्थ से ब्रह्म तथा जगत् का द्वैत किस भाँति उद्भूत हो सकता है ?

'माया' के सिद्धान्त की आलोचना

अद्वैत के अनुसार अचेतन जगत् का सृजन अविद्या का कार्य है और 'अविद्या' स्वाभाविक, अनादि तथा अव्याख्येय है।[१] अविद्या को निश्चय ही विनष्ट किया जा सकता है; अन्यथा मुक्ति तथा ब्रह्म के सत् स्वरूप की अनुभूति सम्भव नहीं हो सकती। उसका अन्त है किन्तु कोई आदि नहीं है। अविद्या, किसी भाँति ब्रह्म से सम्बन्धित है। उसे उसके अनेकता, परिमितता,

---

१. चितसुखी १. १२।

और ब्रह्म के सत्य स्वरूप के आच्छादन के गुणों के कारण 'माया' कहा गया है।[१]

माया या अविद्या के इस सिद्धान्त पर, जोकि अद्वैत वेदान्त की अत्यधिक महत्वपूर्ण तत्वमीमांसात्मक धारणाओं में से एक है, रामानुज, पार्थसारथी मिश्र और श्रीधर द्वारा अनेक आक्षेप उठाये गये हैं।[२] इन आक्षेपों और आलोचनाओं पर नीचे विचार किया गया है।

यह पूछा जाता है कि क्या 'अविद्या' स्वयं ही भ्रांत ज्ञान है या वह कुछ अन्य वस्तु है, जोकि भ्रांत और मिथ्या ज्ञान का उद्भव-कारण है? यदि स्थिति पूर्वगामी है तो अविद्या किसकी है? वह ब्रह्म से तो सम्बन्धित हो ही नहीं सकती है क्योंकि उसका स्वरूप ही शुद्ध ज्ञान है, और न वह 'जीव' से ही सम्बन्धित हो सकती है, क्योंकि 'जीव' तो स्वयं ही अविद्या की उत्पत्ति है। फिर भी यदि यह कहा जाये कि वह जीव से सम्बन्धित है तो इस स्वीकृति में यह स्वीकार भी निहित है कि 'अविद्या' का अस्तित्व ब्रह्म से अतिरिक्त और अन्य है और तब अद्वयता की स्थिति स्पष्ट ही छूट जाती है।[३]

इस सम्बन्ध में शंकर के प्रत्युत्तर को हम पहले ही संक्षेप में निर्देशित कर चुके हैं, प्रथमतः, उस समय तक जबतक कि हम सीमित हैं, हम अविद्या के सच्चे स्वरूप को नहीं समझ सकते हैं और उस समय, जबकि हमने सत्य-ज्ञान को उपलब्ध कर लिया है, ब्रह्म तथा जगत की कोई समस्या शेष नहीं रह जाती है।[४] द्वितीय, अद्वैत द्वारा अविद्या के सिद्धांत को 'अनिर्वचनीय' स्वीकृत किया गया है, जिसके प्रति कि किसी प्रकार के सुनिश्चित वक्तव्य नहीं दिए जा सकते हैं। यह स्वीकृत नहीं किया गया है कि ब्रह्म से अन्य और अतिरिक्त कोई वस्तु अस्तित्व में हो सकती है तथा सत् के परम स्वरूप के प्रति हमारी तत्वमीमांसात्मक जिज्ञासा को तर्कसंगत रूप से सन्तुष्ट कर सकती है। इस प्रकार, माया यद्यपि किसी प्रकार से ब्रह्म में है तथापि वह उससे सम्बन्धित नहीं है। और अन्ततः, माया या भ्रम का अस्तित्वपूर्ण तया

१. शांकरभाष्य १. ३. १६।

२. शास्त्र दीपिका पृष्ठ ३१३. ३१४. रामानुज भाष्य २. १. १५। न्यायकंदली पृष्ठ २७।

३. शास्त्र दीपिका ३१३. ३१४

४. भगवत् गीता, शांकरभाष्य १३. २. पृष्ठ १०५। आनन्द आश्रम संस्कृत सीरीज नं० ३४।

काल्पनिक नहीं है और न वह व्यावहारिक जगत् के पदार्थों को ही पूर्णतया या समग्र तथा अयथार्थ बनाता है। व्यावहारिक दृष्टिकोण से भ्रम भ्रम नहीं है। वह स्वयं अपने ही व्यावहारिक दृष्टिबिन्दु से उतना ही यथार्थ है, जितना कि वह अनुभवातीत दृष्टिबिंदु से अयथार्थ है। माया में, इस कारण, उस समय तक जबतक कि उसे विनष्ट नहीं कर दिया जाता है, पूर्ण यथार्थ-तता होती है। वह अयथार्थ है तो इस कारण क्योंकि उसे ब्रह्म की अविनाशी नित्य सत्ता और अस्तित्व प्राप्त नहीं है।[१]

सम्बन्ध के सम्बन्ध में द्वैतवादी सिद्धान्त

द्वैतवाद के अनुसार, चेतना तथा अचेतना दोनों ही पूर्ण विरोधियों की भाँति स्वतन्त्र तथा नित्यरूप से सत्तावान है किन्तु वे किसी रूप से आपस में सम्बन्धित हो जाती है। उस समय तक जबतक कि वे असम्बन्धित तथा पृथक् रहती हैं, अनुभव अस्तित्व में नहीं आता। अनुभव का प्रादुर्भाव चित् के 'केवल' अस्तित्व तथा असम्बन्धित स्वभाव की अनुभूति करने की असफलता में से होता है। और उसी क्षण जिस क्षण कि इस सम्बन्धहीनता और केवलत्व को अनुभव या प्रत्यक्ष कर लिया जाता है, 'पुरुष' को कैवल्य और मुक्ति की प्राप्ति हो जाती है जो कि सर्वज्ञान और अनुभव का लक्ष्य है। किन्तु सूत्र के इस कथन में कि 'अनुभव सत्व तथा आत्मा में विभेद करने की असफलता मात्र है जो कि पूर्णतया असंयुक्त तथा पृथक है'[२] अनेक कठि-नाइयाँ सन्निहित हैं। यह प्रश्न स्वभावतया ही उठता है कि यदि स्थिति सूत्रानुसार ही है, और चेतन 'पुरुष' तथा अचेतन 'प्रकृति' में मूलतः कोई सम्पर्क नहीं है तथा दोनों ही 'अत्यन्त संकीर्ण' हैं, तब अनुभव का प्रारम्भ किस प्रकार होता है या हो सकता है? वाचस्पति ने इसी प्रश्न को इस प्रकार प्रस्तुत किया है कि वह आत्मा, जिसका स्वरूप कि चित् या चैतन्य है तथा जिसकी दीप्ति किसी अन्य पर निर्भर नहीं है, किस प्रकार उसे

---

१. द्रष्टव्य राधाकृष्णन् :
ईस्टर्न रिलीजन्स एण्ड वेस्टर्न थाट: 'केवल इस कारण क्योंकि अनुभव का जगत् यथार्थ को पूर्ण ज्ञान नहीं है, यह कदापि अनुसरित नहीं होता है, कि वह भ्रम है।' तथा बी० हैमन: 'रियल्टी आफ फिक्शन इन हिन्दु थाट:' माया या भ्रम की सत्ता केवल पारमार्थिक दृष्टिकोण से ही है।

२. योगसूत्र ३.३५।

प्रकाशित कर सकती है जो कि जड़ है, तथा दूसरी ओर, जड़ वस्तु उसके प्रकाशत्व को किस प्रकार किंचित् भी ग्रहण कर सकती है।[१]

'सत्व' के पारदर्शी स्वभाव पर आधारित प्रतिफलन या दुहरे प्रतिफलन के सिद्धांत द्वारा उपरोक्त प्रश्न के उत्तर तथा अनुभव की सम्भाव्यता की व्याख्या प्रस्तुत करने का प्रयास किया जाता है।[२] यह कहा गया है कि सत्व में, यद्यपि बुद्धि के संयोग से नहीं, किन्तु उस सीमा तक जहाँ तक वह पूर्णतया सुस्पष्ट है, चित् का प्रतिबिम्ब सन्निहित होता है, वह चित् के सम्पर्क में आता प्रतीत होता है और इस प्रकार विभिन्न वस्तुओं का अनुभव करता

---

१. योगसूत्र पर वैशारदी ३.३५।

२. अनुभव को सम्भव बनाने के लिए पुरुष तथा 'सत्व' ठीक रूप से किस प्रकार सन्सर्ग में आते हैं, इस सम्बन्ध में वाचस्पति मिश्र तथा विज्ञानभिक्षु के विचारों में महत्वपूर्ण विभेद है। वाचस्पति के अनुसार, प्रतिफलन एक इकहरा व्यापार है अर्थात् पुरुष बुद्धि में ठीक उसी प्रकार से प्रतिविम्बित होता है जिस प्रकार कि दर्पण में मुख या जल में चन्द्रमा प्रतिविम्बित होता है। दर्पण का मुख में या प्रतिविम्बित जल का चन्द्रमा में कोई और या परस्पर प्रतिफलन नहीं होता है। इस परिकल्पनानुसार पुरुष सदा अरूपान्तरित ही रहता है। इसके विपरीत विज्ञानभिक्षु का सोचना है कि ज्ञान या अनुभव की व्याख्या के लिए इकहरे प्रतिफलन की धारणा उपयुक्त नहीं है। उनका प्रस्ताव है कि बुद्धि में पुरुष के प्रतिविम्बित होने पर, प्रतिविम्बित बुद्धि पुरुष पर स्वयं अपना प्रतिविम्ब भी डालती है और यह पारस्परिक प्रतिफलन ही है जो कि पुरुष को बुद्धि के रूपान्तरों का ज्ञान प्राप्त करने में समर्थ बनाता है जिन्हें कि वह भ्रान्तिवश स्वयं अपना ही रूपान्तर समझ लेता है। ये दोनों ही व्याख्याएँ कठिनाइयों के लिए खुली हुई हैं। जबकि द्वितीय परिकल्पना, अनुभव की सम्भाव्यताओं की ज्यादा ठीक से व्याख्या करती हैं, तब वह पुरुष के सत् तथा अनुभवातीत स्वरूप में समझौता कर लेती है और चित् की परम्परागत विशुद्धता शेष नहीं रह जाती है। इसके विपरीत प्रथम व्याख्या जबकि अनुभव की सम्भाव्यताओं को समझने में असफल हो जाती है तब वह शुद्ध चित् के स्वरूप के सम्बन्ध में कोई समझौता नहीं करती है और 'चित् शक्ति' के पूर्णरूपेण अरूपान्तरित स्वरूप की परम्परागत विशुद्धता को कायम रखती है। (दृष्टव्यः योगवार्तिका) १.४ तथा ३.३५।

है।[१] और इसे इस वक्तव्य द्वारा समझाया गया है : 'बुद्धेह प्रतिसम्वेदी पुरुषः' अर्थात् जो कि अपरोक्ष द्रष्टा नहीं है, केवल बुद्धि की संज्ञियों को प्रतिविम्बित करके ही जानता है। परिणामतः, वह परोक्ष ज्ञाता है। 'पुरुष' तथा 'सत्व' दोनों के संयोग को सम्भव बनाने के हेतु, यह मानना आवश्यक है कि 'पुरुष' 'सत्व' से पूर्णरूपेण भिन्न नहीं है। 'स बुद्धेर नात्यन्तम् विरूपः'।[२] पुरुष बुद्धि से पूर्णतया भिन्न नहीं है, क्योंकि, यद्यपि शुद्ध होते हुए भी, वह उन विचारों को देखता है जो कि मन में आये होते हैं। वह चेतना की घटनाओं को, उनके घटित हो चुकने के बाद जानता है, और यद्यपि उसका स्वभाव बुद्धि के स्वभाव से भिन्न है, तथापि वह उसके समान ही प्रतीत होता है। इस कारण, इस द्वैतवादी दृष्टिबिंदु के अनुसार चेतना का उद्भव या तो वाचस्पति के अनुसार, 'सत्व' में पुरुष के प्रस्तावित तथा इकहरे प्रतिविम्ब से होता है, या विज्ञानभिक्षु के अनुसार एक दूसरे पर परस्पर प्रतिफलन से होता है।[३]

इस द्वैतवादी दृष्टिकोण को संक्षेप से प्रस्तुत करने पर, ज्ञान या चेतना के उद्भव की प्रक्रिया कुछ इस प्रकार की होगी। बुद्धि उस विषय के रूप के अनुरूप रूपान्तरित होती है जिसे वह देखती है, और किसी विषय के रूप को ग्रहण करने के पश्चात् उसे पुरुष या नित्य प्रकाश के सम्पर्क में आना होता है। इन दोनों के सम्पर्क से 'मैं इसे जानता हूँ' के रूप में बुद्धि में प्रकाश का उदय होता है। यह स्थिति या तो पुरुष में पुनः प्रतिफलित होती है जो इस स्थिति को, जोकि वस्तुतः बुद्धि से सम्बन्धित होती है, अपने से सम्बन्धित समझने की भ्रान्ति कर लेता है या फिर पुरुष अपने प्रकाश को बुद्धि पर प्रतिविम्बित करके स्वयं अपने को ही उसका प्रतिविम्ब मानता है। 'प्रत्ययानुपश्मः' से भी यही अर्थ प्रयोजित है। प्रत्यक्षीकरण की क्रिया में अक्रिय पुरुष, सक्रिय बुद्धि के उसमें प्रतिफलन के कारण अपने आपको भूल से सक्रिय समझता है, तथा अचेतना बुद्धि चेतन पुरुष से उसकी सन्निकटता के कारण चेतन प्रतीत होती है।[४]

किन्तु ज्ञान तथा अनुभव की इस द्वैतवादी गणना में एक गम्भीर कठिनाई निहित है। यह कहा गया है कि 'चित्, जो कि विषय से संयोग में नहीं

१. योगसूत्र वैशारदी २.१७।

२. योगभाष्य २.२०।

३. योगवर्तिका १.४ तथा ३.३५।

४. योगसूत्र १.४,२.२०।

बँधता, स्वयं अपनी बुद्धि के प्रति उस समय चेतन होता है जब वह उसे प्रतिबिम्बित करके उसका रूप ग्रहण कर लेता है।[1] किन्तु चित् मन की अस्थिरताओं के अनुरूप अपने को ढाले बिना बुद्धि का रूप किस प्रकार ग्रहण कर सकता है ? इसके उत्तर में यह कहा गया है कि 'यद्यपि चन्द्रमा स्वच्छ जल से सम्बद्ध नहीं होता है, तब भी वह उस सीमा तक, उससे सम्बद्ध प्रतीत होता है, जहाँ तक उसका प्रतिबिम्ब जल से सम्बद्ध होता है। ज्ञान तथा चेतना के सम्बन्ध में भी स्थिति इसी तरह की है।[2] यद्यपि चित् बुद्धि से सम्बद्ध नहीं होता, तथापि वह उसके प्रतिबिम्ब के सम्बद्ध हो जाने के कारण सम्बद्ध प्रतीत होता है। किन्तु पुरुष का प्रतीत मात्र प्रतिबिम्ब भी अचेतन 'सत्व' में किस प्रकार से उचित हो सकता है या सदैव अरूपान्तरित रहनेवाला चित् ज्ञान के परिवर्तनशील लक्षणों को कैसे ग्रहण कर सकता है, इसका उत्तर योगसूत्र (३.५५)[3] से प्राप्त करने का प्रयास किया जाता है जो दर्शाता है कि बुद्धि के शुद्ध स्वभाव में पुरुष के स्वभाव से कुछ उभयवर्ती या समानस्वरूपी भी है। 'केवल अवस्था' में बुद्धि इतनी विशुद्ध हो सकती है कि पुरुष को, जैसा कि वह अपने आप में है, ठीक वैसा ही प्रतिबिम्बित कर सकती है। किन्तु सत्व की विशुद्धता तथा चित् के साथ उसकी अनुरूपता का यह सिद्धान्त, जोकि सत्व को पुरुष की एक झलक पकड़ पा सकने में समर्थ बनाने के लिए प्रस्तावित किया गया है, या तो स्थिति के कठोर द्वैतवाद को हानि पहुँचाता है या फिर प्रतिबिम्बित की समुचित व्याख्या नहीं कर पाता; क्योंकि, द्वैतवादी, परिकल्पना के अनुसार पुरुष, जोकि 'त्रिगुणातीत' है, बुद्धि से इतना भिन्न है जोकि गुणों में से एक है, कि उनके मध्य मिलन का कठिनाई से ही कोई बिन्दु हो सकता है।

इस कारण हमें सांख्य-योग के द्वैतवादी सिद्धान्त में ज्ञान की ऐसी कोई सन्तोषजनक व्याख्या प्राप्त नहीं होती है जिसके अनुसार कि अचेतन बुद्धि पुरुष के द्वारा अनायास तथा यान्त्रिक रूप से प्रकाशित होती है। इस दृष्टिकोण में यह प्राथमिकता से मान लिया गया है कि अनुभव के विषयी तथा विषय अनुभव से समग्ररूपेण वाह्य हैं और फिर अनुभव को सम्भव बनाने के हेतु उन्हें एक साथ लाने के लिए उसे संघर्ष करना होता है। डा० राधाकृष्णन ने कहा है कि 'यदि पुरुष की निष्क्रिय चेतना तथा प्रकृति की अनवरत गतिम-

१. योगसूत्र ४.३२।
२. वैशारदी २.२० तथा ४.२२।
३. योगसूत्र ३.५५।

यता को एक दूसरे से स्वतंत्र मान लिया जाता है जो उस स्थिति में दर्शन की समस्या किसी भी दृष्टि से हल योग्य नहीं ठहरती।[१] अनुभव के सत्यतर विश्लेषण को हमें यह बताने में समर्थ होना चाहिए कि ज्ञान के विषयी तथा विषय पूर्णतया पृथक् नहीं है, तथा दोनों के पास उसके आधार तथा सहारे की तरह अनुभवातीत चेतना है, जिसके अन्तर्गत कि वे संयुक्त होते तथा एक दूसरे से बँधते हैं।

बुद्धि के मध्यवर्ती स्वभाव के सिद्धान्त की आलोचना :

सांख्य-योग तत्वमीमांसानुसार चेतना तथा अचेतना के मध्य किसी भी प्रकार का सम्बन्ध पूर्णरूपेण असम्भव प्रतीत होता है। किन्तु कुछ अत्यानिक भारतीय सिद्धान्तों (दासगुप्ता तथा प्रो० सिन्हा) ने पुरुष तथा प्रकृति की मध्य की खाई को कम करने तथा दोनों के बीच अन्तक्रियात्मक सम्भव बनाने के हेतु प्रयास किया है, जिसके आधार पर ही कि कोई भी प्रस्तावित प्रतिविम्ब की घटना सम्भव हो सकती है। यह तो स्पष्ट ही है कि दो पूर्णतया विपरीत जातीय पदार्थों के मध्य प्रतिफलन सम्भव नहीं है। इस कारण, अपनी विशुद्ध स्थिति में सत्व के साथ चित् की सादृश्यता के द्वारा इस विपरीतता को उसकी न्यूनतम सीमा पर लाने का प्रयत्न किए गये हैं, और इस प्रकार उन दोनों के मध्य अन्तक्रिया की परिकल्पना को सम्भव बनाया गया है।

प्रो० सिन्हा कहते हैं : 'सांख्य का द्वैतवाद इस स्वीकृति से कम हो जाता है कि 'प्रकृति' के रूपभेदों में अस्तित्व के विभिन्न स्तर हैं जिनमें से उच्चतम 'बुद्धि' है।[२] बुद्धि निसन्देह अचेतना है किन्तु 'सत्व' की प्रधानता के कारण वह इतनी पारदर्शी है कि पुरुष के स्वभाव के लिए वह नितान्त विदेशी नहीं है, और अतएव वह पुरुष के प्रतिविम्ब को पकड़ सकती है जबकि स्थल पौद्गलिक पदार्थ, उनमें तामस की प्रधानता होने के कारण, पुरुष के प्रकाश को प्रतिफलित नहीं कर सकते। इस प्रकार, बुद्धि को स्थल पदार्थ तथा चेतन पुरुष के मध्य एक प्रकार की मध्यवर्ती सत्ता की तरह प्रस्तुत किया गया है।[३] तथा प्रस्तावित किया गया है कि वह दोनों के स्वभाव में साझीदार है। वह स्थल पदार्थ की तरह अचेतन है किन्तु स्वदीप्तिवान पुरुष की तरह

१. राधाकृष्णन् : इण्डियन फिलासफी, भाग २, पृष्ठ ३३२।

२. सिन्हा : 'इण्डियन साइकोलाजी', पृष्ठ १२५।

३. सिन्हा : इण्डियन साइकोलाजी, पृष्ठ १२५ : सांख्यानुसार 'बुद्धि' स्थल पदार्थ तथा चेतन पुरुष के 'मध्य एक प्रकार की मध्यवर्ती सत्ता है।'

पारदर्शी भी है। यह बुद्धि के माध्यम द्वारा ही सम्भव हो पाता है कि चेतन पुरुष तथा अचेतन पौद्‌गालिक पदार्थ एक दूसरे के सम्पर्क में आते हैं। बुद्धि को मध्यवर्ती बनाकर, इस प्रकार, एक का दूसरे में पारस्परिक प्रतिफलन सम्भव बताया जाता है।

प्रो० दासगुप्ता का कथन है कि 'यह साधारण कठिनाई कि पूर्ण असमान अंशी एक दूसरे के साथ सन्सर्ग में किस प्रकार आ सकते हैं, उस समय विलीन हो जाती है जब हम सांख्ययोग दृष्टिकोण से इस बिन्दु की ओर देखते हैं।[१]

किन्तु असमान अंशियों के एक दूसरे के सम्पर्क की कठिनाई को हल करने का यह प्रयत्न सफलता की बजाय वैसा करने की अभिलाषा को ही कहीं अधिक प्रदर्शित करता है। इस प्रकार के व्याख्याकार सम्भवतः निम्न प्रकार के वक्तव्यों को अपनी व्याख्या का आधार बनाते हैं: 'वह न समजातीय है और न पूर्णरूपेण विषयजातीय ही है'[२] तथा 'सत्व पुरुषयोः शुद्धि समये कैवल्यम्' जिनमें कि पुरुष तथा सत्व की सादृश्य के आधार पर दोनों के मध्य की खाई को पाटने तथा अनुभव को सम्भव बनाने के हेतु प्रयास किया गया है। किन्तु प्रश्न यह है कि क्या इस प्रकार के प्रयत्न सफल हुए हैं या हो सकते हैं? सत्व की प्रधानता के कारण बुद्धि शुद्ध तथा पारदर्शी हो सकती है, वह प्रकृति के विकास की श्रेष्ठतम वस्तु भी हो सकती है; किन्तु इससे वह द्वैतवादी दृष्टिकोण के अनुसार कठोररूप से द्विविभाजित सत्ता के दूसरे विभाग में होने के अपने स्वभाव से विहीन नहीं हो सकती। प्रकृति की सूक्ष्म-तम तथा श्रेष्ठता विकसित वस्तु भी अन्ततः प्रकृति ही है और पुरुष के साथ तादात्म्यक् या उसके स्वभाव की साझी नहीं हो सकती। यदि पुरुष तथा प्रकृति सत्व में मिलते हैं, जैसा कि प्रो० दासगुप्ता तथा सिन्हा द्वारा प्रस्तावित किया गया है, तब वस्तुतः सांख्ययोग का द्वैतवाद छूट जाता है। भौतिक तथा मानसिक रूपभेद तो एक ही परम् यथार्थ, उदाहरणार्थ, प्रधान के रूपभेद हो सकते हैं: तथापि उन्हें द्वितीय परम सत्ता पुरुष के रूप भेद नहीं कहा जा सकता जो कि निरन्तर रूप से अरूपान्तरित तथा अपरिवर्तित है। प्रो० दासगुप्ता एक अन्य स्थल पर अपने वक्तव्य में निहित स्वविरोध का अनु-भव किये बिना स्वयं ही अपनी बात का खण्डन करते हैं। उनका कथन है कि बुद्धि अहंकार तथा मनस् मानसिक वस्तुएँ होते हुए भी पुरुष से सम्ब-

१. दासगुप्ता : कल्चर हेरीटेज आफ इण्डिया भाग १, पृष्ठ ४०७।
२. योगभाष्य २.२०।

न्धित नहीं हैं बल्कि वे सब प्रकृति के विकास की ही अवस्था हैं ।[१] क्या उनका अभिप्राय यह है कि प्रकृति का विकास ही, जब वह अत्यन्त विशुद्ध और पारदर्शी हो जाता है, तो पुरुष में परिणत हो जाता है ? सत्व या तो गुणों का एक विधायक सदस्य है (चाहे वे कितने ही सूक्ष्मातिसूक्ष्म क्यों न हों) और अन्त: उसे पुरुष से पूर्णतया असमान तथा किसी भी प्रकार के संसर्ग और प्रतिफलन में अक्षम चाहिये, या फिर यदि वह प्रतिविम्ब को किंचित् भी ग्रहण कर सकता है तब वह कठोर द्वैतवादी स्थिति के लिए एक अत्यन्त असंगतिपूर्ण तथ्य बन जाता है। पुनः, यदि सत्व इतना सूक्ष्म और पारदर्शी बन सकता है कि वह पुरुष के प्रतिविम्ब को ग्रहण करने में समर्थ हो सके, तो फिर उसे पुरुष के साथ एक होने से कुछ भी अवरुद्ध नहीं करता है। एक कदम और कि प्रकृति और पुरुष सत्तामीमांसात्मक रूप से एक हो जाते हैं तथा द्वैतवाद अद्वैतवाद में विलीन हो जाता है। इस प्रकार का सरल हल प्रस्तुत कठिनाई को समाप्त तो नहीं करता बल्कि 'चित्' के साथ 'पारदर्शिता' को एक समझने की एक और भूल जरूर करता है। सम्पूर्ण 'चित्' पारदर्शी है किन्तु इसकी विपरीत स्थिति सत्य नहीं है तथा स्फटिक, चमकदार धातुओं तथा जल की पारदर्शिता से चित् का कोई सादृश्य नहीं है। रूपकों तथा उपमाओं की आंशिक सादृश्यताओं को पूर्ण तादात्म्यक में नहीं खीचा जा सकता, अन्यथा बुद्धि का कैवल्य की अवस्था में चित् पुरुष में तादात्म्यीकरण हो जायगा। सांख्यकारिका सुनिश्चित रूप से कहती है कि अन्तिम पृथकता और स्वरूप भेद की अनुभूति के बाद नर्तकी अपने नृत्य को सदा के लिए बन्द कर देती है।[२]

उस समय तक जब तक कि बुद्धि स्वरूपत: चित् विरोधी शिविर से सम्बन्धित है, उसे एक मध्यवर्ती या अतिभौतिक वस्तु बना देने से ही स्थिति में कोई सुधार नहीं होता। सांख्ययोग की समस्या तो दो तत्वों के संयोगमात्र को ही सम्भव बनाना है। उसकी समस्या है उन तत्वों की स्वीकृत विपरीतता के साथ ही साथ उनके सम्बन्ध और संसर्ग की जिसमें कि प्रस्तावित परिकल्पनाएँ और प्रस्ताव अत्यन्त असफल सिद्ध हुए प्रतीत होते हैं। यह भी स्पष्ट है कि इस स्थिति को और समुचित तर्कसंगत रूप देने का अर्थ इन दो विकल्पों के अतिरिक्त और कुछ नहीं हो सकता है, कि या तो असम्भव समझ कर इस तरह की व्याख्या का प्रयास ही छोड़ दिया और या फिर अद्वैत तत्व-

१. योगसूत्र ३. ३५।
२. सांख्यकारिका ६१।

मीमांसा को ही तार्किक दृष्टि से अरक्षणीय और असंगत मान लिया जाय। प्रो० दासगुप्ता का निष्कर्ष है कि 'इसलिए मनस् तथा शरीर का सम्बन्ध योग सिद्धान्त में किसी विशिष्ट समस्या को प्रस्तुत नहीं करता है।' यह सुस्पष्ट है और कोई भी इसे सोच सकता था कि योग दर्शन में, पाश्चात्य दर्शन के शरीर तथा मन दोनों एक ही परम यथार्थ प्रधान के विकास हैं, और इस तरह उस दर्शन प्रणाली में प्रश्न शरीर तथा मन के सम्बन्ध का नहीं, वरन् मनस् और पुरुष के सम्बन्ध का है। योग दर्शन में द्वैत मनस् तथा पुद्गल के मध्य नहीं है किन्तु मन तथा व्यावहारिक चेतना के मध्य एक प्रकार का अनुभव निरपेक्ष द्वैतवाद है।[१] सांख्योग का द्वैतवाद तथा अनुभव की सम्भावना का सह अस्तित्व सम्भव नहीं हो सकता है, और बुद्धि को दोनों के स्वभाव का सह अस्तित्व सम्भव नहीं हो सकता है, और बुद्धि को दोनों के स्वभाव का साक्षी बनाना, पुरुष तथा प्रकृति के मध्य पूर्ण वैभिन्य के स्वीकृत मंच से कठिनाई को हल करने की बजाय द्वैतवाद को ही छोड़ देना कहीं अधिक है।

सम्बन्ध के द्वैतवादी सिद्धान्त

सांख्ययोग चेतना तथा अचेतन के सम्पर्क की तीन उपपद्य परिकल्पनायें प्रस्तुत करता है।

(१) सन्निकटता या 'सन्निधिमात्र' का सिद्धान्त।

(२) अचेतन हेतुवाद या 'पुरुषार्थ, का सिद्धान्त।

(३) पूर्व स्थापित सामन्जस्य या 'योग्यता' का सिद्धान्त।

(१) 'सन्निधिमात्र'[२] के सिद्धान्तानुसार, पुरुष बुद्धि के रूप भेदों को अपने पास खींचता है। उन्हें दृश्य बनाता है तथा उनसे अपने लक्ष्य की पूर्ति अपनी उपस्थिति मात्र से पूरा करवाता है, ठीक उसी प्रकार जिस प्रकार की चुम्बन स्वयं अचल रहते हुए भी केवल सन्निकटता के कारण लोहे को अपने पास खींच लेता है[३] पूर्व संदर्भित बुद्धि में आत्मा के प्रतिविम्ब के सिद्धान्त की 'सन्निधिमात्र' की इस परिकल्पना द्वारा व्याख्या की जाती है। बुद्धि के आत्मा से सान्निध्य के कारण आत्मा बुद्धि में प्रतिविम्बित होती है

१. योगसूत्र २. ६।

२. शतपथ ब्रह्म १.८७.६६, सख्यकारिका, २३ तथा ५७, योगभाष्य १.४.२.१२,४.२२.१७।

३. योगभाष्य १.४.२.१८।

जब कि बुद्धि आत्मा का रूप ग्रहण करती है।[१] और इस प्रकार बुद्धि अनुभव की क्रिया को आत्मा के लिए पूरा करती है।

अक्रिय किन्तु चेतन पुरुष को, सक्रिय किन्तु अचेतन बुद्धि को प्रभावित करने के हेतु, सक्रिय होने की आवश्यकता नहीं है क्योंकि उसका सान्निध्य मात्र ही, बुद्धि को सचेतन बनाने तथा अपनी बारी में बुद्धि के रूप भेदों के साथ स्वयं के स्वरूप के स्वतादात्म्यीकरण में भ्रान्ति के लिए पर्याप्त है।[२] 'बुद्धि पुरुष से अपनी सन्निकटता के कारण चैतन्य को प्राप्त कर लेती है। पुरुष, यद्यपि वह बुद्धि के रूपभेदों को प्रतिविम्बित करता है, तब भी रूपान्तरित नहीं होता है क्योंकि सनस् वस्तु पुरुष के साथ सम्बद्ध नहीं, बल्कि केवल उसके निकट मात्र ही होती है।[३]

किन्तु यह सान्निध्य या तो नित्य हो सकता है या अनित्य और वह नित्य हो चाहे अनित्य 'सन्निधिमात्र' की यह परिकल्पना दोनों ही स्थितियों में कठिनाइयों से परिपूर्ण है। यदि वह नित्य है तब पुरुष की अन्तिम कैवल्य की अवस्था असम्भव है और यदि वह अनित्य है तब उसके अस्तित्व में आने की सकारण व्याख्या आवश्यक हो जाती है। सांख्य का उत्तर यह है कि वही बुद्धि जोकि 'पुरुष' तथा 'प्रधान' के मध्य तादात्म्य की भ्रांति की रचना करती है, विवेक के द्वारा उनकी विभिन्नता को भी प्रगट करती है, जोकि अस्थायी रूप से दृष्टि के ओट हो जाती है और 'प्रधान' अपने प्रयोजन की सम्पूर्ति के पश्चात् अलग हट जाती है।[४] किन्तु, यदि दो वस्तुयें एक दूसरे से समग्ररूपेण स्वतन्त्र और पूर्णरूपेण विपरीत जातीय हैं तथा अनन्त भी हैं, तो उनके मध्य किसी भी प्रकार का सान्निध्य या निकटता का सम्बन्ध स्थापित नहीं हो सकता। सान्निध्य का सम्बन्ध सामान्यतः एक प्रसरिक या सामयिक धारणा है जो कि दो ज्ञात तथा परिचित वस्तुओं के मध्य ही हो सकता है और ये दृष्टांत, जो कि मुख्यतः भौतिक हैं, केवल कठिनाई की ओर बढ़ाते ही हैं। 'पुरुष' और 'प्रधान' जो कि दोनों ही अनन्त, नित्य और सर्वव्यापी है, किस प्रकार एक दूसरे के समीपी हो सकते हैं ? इस कारण ही वाचस्पति ने सुझाव दिया है कि इस सन्निकट्य को प्रसरिक या सामयिक सम्बन्ध नहीं समझा जाना चाहिये। उनके अनुसार यह योग्यता का एक प्रकार या 'प्रकृति'

१. कारिका पर तत्व कौमुदी २७।

२. कारिका पर तत्व कौमुदी २३।

३. वैशारदी, १. ४. तथा कुमारिल के 'श्लोकवार्तिक' आत्मवाद से भी तुलना कीजिये।

४. कारिक, ६१. सांख्य प्रवचनसूत्र ३. ७०.।

और 'पुरुष' के मध्य वह औचित्य है जो कि सहयोग तथा संसर्ग को सम्भव बनाता है। और इस तरह, इस कठिनाई को हल करने के हेतु, 'साधन और साध्य' के एक नवीन प्रकार के सम्बन्ध का आविष्कार किया गया है।

यह प्रतिपादित किया जाता है कि प्रकृति का गठन कुछ इस भाँति हुआ है कि जैसे वह 'पुरुष' का प्रयोजन पूरा करने को ही बनी है जिसके लिए कि अपने प्रयोजन को पूरा करना आवश्यक है।[१] बाद में हम देखेंगे और विचार करेंगे कि क्या 'प्रधान' के लिए जोकि अचेतन है, चेतन पुरुष के किसी प्रयोजन को पूरा कर सकना सम्भव है ?

(२) 'पुरुषार्थ' की द्वितीय परिकल्पना के अनुसार, 'पुरुष' तथा 'प्रकृति' के मध्य निरन्तर रूप से क्रियाशील एक अचेतन हेतु पुरुषार्थ का अस्तित्व है और दोनों एक दूसरे की पारस्परिक आवश्यकता के कारण समीप आते हैं। उनका सम्मिलन लँगड़े और अन्धे व्यक्ति के मिलन की भाँति है।[२] आत्मा का उद्देश्य, अचेतन प्रकृति की क्रियाशीलता का प्रधान हेतु है[३] पुरुषार्थ स्व हेतु है। इस प्रश्न पर कि एक अचेतन वस्तु में आत्मा का उद्देश्य उसकी अन्तः प्रेरणा की भाँति किस रूप में निहित हो सकता है, सांख्यकारिका (५७) का सुझाव है कि जड़ प्रकृति एक सुनिश्चित अन्त की ओर ठीक उसी प्रकार क्रियाशील होती है जिस प्रकार कि बच्चे के पोषण के लिए अचेतन दूध प्रवाहित होता है।[४]

इस कारण अचेतन प्रकृति चेतन के प्रयोजन की सिद्धि के लिए साधन की तरह कार्य करती है, तथा दोनों के मध्य जो सम्बन्ध है वह साधन तथा साध्य का है। किन्तु यह पूछा जा सकता है कि जड़ प्रकृति का हेतुवाद, पुरुष के सर्वहितों की सेवा के श्रेष्ठतम संभव प्रकार की सुरक्षा के लिए, किस प्रकार से विकास को उसके समग्र विशिष्ट विस्तार में निर्देशित तथा अनुप्रेरित कर सकता है ?

इस स्थिति में दुहरी कठिनाई है। चेतन वस्तु के लिए वस्तुतः किसी प्रकार का अन्त प्रस्तावित नहीं किया जा सकता, क्योंकि पुरुष सदैव ही 'केवल' तथा 'मुक्त' है। बद्धता तथा मुक्ति को उसके प्रति उसी प्रकार आरो-

१. योगभाष्य २.२०।
२. सांख्यकरिका २१।
३. कारिका पर तत्व कौमुदी ३१।
४. कारिका ५७।

पित किया जाता है जिस प्रकार कि विजय या पराजय को राजा पर किया जाता है।[१] और जबकि चेतन वस्तु को किसी प्रकार की सेवा की आवश्यकता नहीं है तब अचेतन वस्तु को उस सेवा के लिए अन्तःप्रेरित नहीं किया जा सकता है, और यदि चेतन वस्तु को वस्तुतः ही किसी प्रकार की सेवा की अपेक्षा होती तो भी अपनी अचेतना तथा बुद्धि एवं हेतु के अभाव के कारण अचेतन या जड़ प्रकृति उसकी सेवा कर सकने या उसके प्रयोजन को पूरा कर सकने की स्थिति में नहीं हो सकती थी। अचेतन आधार पर साधन और साध्य का सम्बन्ध मानना बहुत युक्तिपूर्ण नहीं हो सकता है यदि हम हेतुवाद की स्थिर सफलता के लिए किसी अधिक गहरे कारण की खोज नहीं करते हैं। वह विचित्र मार्ग, जिसमें कि जड़ और चेतन तत्व एक दूसरे की सहायता करते हैं, स्पष्टरूप से यह प्रदर्शित करना है कि तथाकथित तत्व एक ही अंशी के अंश हैं, तथा पारदर्शी द्वैत स्वयं के पार की किसी एकता या अद्वैत पर आश्रित और आधारित है।[२] सांख्य के अचेतन हेतु वाद को इस गहनतर चेतना की ओर निर्देश करना चाहिये जिसके अन्तर्गत ही कि केवल, पुरुष तथा प्रकृति दोनों की प्रयोजनसिद्धि या तृप्ति घटित हो सकती है।

किन्तु सांख्य दर्शन में पुरुष तथा प्रकृति दोनों से उच्चतर इस प्रकार की किसी संज्ञि का नितांत अभाव है। वाचस्पति ने अवश्य ही ईश्वर को इस प्रकार की संज्ञि की भाँति खोज निकाला है। वह हमें, पूर्व स्थापित सामंजस्य की अन्तिम प्रतिभू की तरह ईश्वर की धारणा पर लाते हैं[३] और चेतन पुरुष तथा जड़ प्रकृति के मध्य पूर्वस्थापित सामंजस्य की एक परिकल्पना प्रस्तुत करते हैं जिसके अनुसार कि इन दो स्वरूपतः विपरीत तत्वों का मिलन एक सुनिश्चित एवं सप्रयोजन दिशा ग्रहण करता है, अन्यथा कोई कारण नहीं दीखता है कि गाय का शरीर ठीक उसी प्रकार से कैसे बनाया जा सकता है या बनाया जाना चाहिये कि उससे ठीक उसी प्रकार का दूध प्राप्त हो सके जो कि मानवीय बालक के शरीर के लिए अत्यधिक उपयुक्त सिद्ध होता है। अचेतन प्रधान की क्रियात्मकता को एक पूर्वनिर्धारित योजना के द्वारा सुनिश्चित रूप से प्रतिभूत कर दिया गया है, जिसके अनुसार कि वह केवल उन्हीं धाराओं तथा मार्गों में कार्य करता है जो कि एक विशेष प्रयोजन की निश्चित प्रगति के साथ उचित सिद्ध होने को बाध्य हैं। चेतना आवश्यकता तथा अचेतन सेवा के मध्य समायोजन तथा सहयोग होना आवश्यक है, और इस

१. योगभाष्य २. १८ तथा १. २४।
२. इंडियन फिलासफी, भाग २, पृष्ठ ३३२।
३. तत्व वैशारदी ४. ३।

लिए, आत्मा या उसके विषयों के साथ एक पूर्वस्थापित सामंजस्य के द्वारा सहसम्बन्धित बनना भी अत्यन्त आवश्यक है, जिसे कि दोनों से श्रेष्ठ और अधिक विस्तृत शक्ति द्वारा प्रस्तुत किया जाता है। इस पूर्वस्थापित सामंजस्य के कारण आत्मा वाह्य विषयों का द्रष्टा हो सकता है, जो कि प्रतीत (चकाशते) होते हैं, कि जैसे वे उस सीमा तक ही आत्मा के वाह्य विषय हैं जहाँ तक उन्होंने आत्मा के प्रतिबिम्ब को प्राप्त कर लिया है। विषयी तथा विषय के मध्य औचित्य या सहसम्बन्ध ('योग्यता') की प्रतिभू है। वाचस्पति द्वारा सामंजस्य के इस सिद्धांत को 'सन्निधिमात्र' की परिकल्पना की उसके द्वारा की गई व्याख्या तथा निरूपण से ही विकसित किया गया है। उनका कथन है कि 'यह सान्निकट्य' एक प्रसरिक या सामयिक सहसम्बन्ध नहीं है, बल्कि सान्निध्य का विशेष लक्षण यह है कि आत्मा मनस् वस्तु से एक पूर्व स्थापित सामंजस्य के सम्बन्ध में अवस्थित है।[१]

सांख्य-योग में ईश्वर की परिकल्पना

'प्रधान' की सक्रिय अचेतन तथा पुरुष की अक्रिय चेतना के मध्य 'योग्यता या औचित्य के बंधन' की एकता की यह परिकल्पना, दूध तथा बालक के दृष्टांत में सांख्यकारिका द्वारा प्रस्तावित नहीं की गई है। किन्तु वाचस्पति, विज्ञान भिक्षु तथा नागेश आदि बाद के विचारक, पुरुष की आवश्यकता तथा प्रकृति की क्रियाओं के मध्य सामंजस्य का उत्तरदायित्व ठहराना असंभव पाते हैं और इसलिए 'प्रकृति' के विकास को निर्देशित करने के कार्य को ईश्वर पर आरोपित करते हैं।[२]

चक्षुविहीन व्यक्ति तथा पंगु व्यक्ति के सम्मिलन का दृष्टांत दोनों के मध्य सामंजस्य की एक सप्रयोजन संभावना के लिए अवश्य ही सहायक सिद्ध हो सकती है जिसके अभाव में कि वे किसी भी रूप में सम्मिलित तथा सहयोगी नहीं हो सकते।[३] उसके मिलन के लिए सप्रयोजन सामंजस्य का होना अति आवश्यक है। किन्तु अपंग और चक्षुविहीन व्यक्ति दोनों ही बुद्धिवान प्राणी हैं और पारस्परिक बौद्धिक चर्चा से उभय हित के बिन्दुओं को खोज सकते हैं, तथा साभिप्राय इकट्ठे हो सकते है। किन्तु पुरुष और प्रधान की स्थिति ऐसी नहीं है, क्योंकि प्रधान सक्रिय है किन्तु अचेतन है जब कि पुरुष चेतन तो है

१. वैशारदी १. ४।

२. तत्व वैशारदी ४.३।

३. कारिक २१।

किन्तु सक्रिय नहीं है। इन दोनों का मिलन उसी स्तर पर नहीं हो सकता है जिस स्तर पर कि अन्धे और लँगड़े व्यक्ति का हो सकता है। किन्तु यहाँ एक नवीन प्रश्न और उठ खड़ा होता है।

यदि चेतन सिद्धांत पुरुष) का यथार्थ स्वरूप केवल 'केवल' तथा एकाकी है[१] तब 'पुरुष' का पूर्वनिर्धारित सहसम्बन्ध भी प्रकृति के साथ किस प्रकार घटित हो सकता है? इस प्रश्न का सांख्ययोग दर्शन द्वारा दिया गया उत्तर यह है कि सहसम्बन्ध की उत्पत्ति के सम्बन्ध के प्रश्न स्वीकृति के योग्य नहीं हैं क्योंकि जड़ तथा चेतन के द्वैत का यह सम्बन्ध, 'बीज तथा वृक्ष के अनुक्रमी क्रम[२] की तरह आदिहीन है। इस स्थल पर यह स्पष्ट है कि 'सम्बन्ध' के सम्बन्ध में प्रस्तावित द्वैतवादी तथा अद्वैतवादी दोनों परिकल्पनायें, संबंध को, सअन्त मानते हुए भी, अनादि बनाने में पूर्णरूपेण सहमत हैं। शंकर के अद्वैतवाद में 'माया' अनादि है और उसी प्रकार सांख्य योग द्वैतवाद में 'प्रकृति' तथा पुरुष की प्रस्तावित एकता का भी कोई प्रारम्भ नहीं है। किन्तु चेतन तथा जड़ तत्वों के मध्य सम्बन्ध के सिद्धांत की अनादित्व की यह स्थिति भी कठिनाइयों से मुक्त नहीं है और इन कठिनाइयों को 'पुरुष' या 'आत्मा' की मुक्ति के समय या 'सम्बन्ध' के अन्त के समय पूरे रूप में अनुभव किया जाता है। 'माया', अविद्या या अविवेक का अन्त उसके अनादि स्वरूप के साथ किस भाँति संगतिपूर्ण हो सकता है? क्योंकि या तो 'पुरुष' कभी भी बद्ध नहीं है और उस स्थिति में किसी भी अन्य वस्तु से उसका कोई सम्बन्ध कभी भी नहीं हो सकता, जैसा कि वाचस्पति मिश्र ने निर्दिष्ट किया है[३], या फिर वह पुनः पुनः बद्ध तथा मुक्त होता है। इस प्रकार बंधन या अमुक्ति या तो नित्य है या अनादि नहीं है।

यह भी स्पष्ट नहीं है कि पूर्व स्थापित सामंजस्य का सिद्धांत जड़ तथा चेतन के कठोर द्वैतवादी दृष्टिकोण पर खड़ा नहीं किया जा सकता है। उसके लिए प्रतिभू तथा सामंजस्य के आधार के रूप में एक अधिक शक्तिशाली और व्यापक तृतीय सिद्धांत की पूर्व प्रस्तावना अत्यन्त अपरिहार्य है। एक ओर जड़ प्रकृति चूँकि अपने जड़त्व के कारण सफल प्रयोजन सिद्धि के योग्य प्रतिपादित नहीं की जा सकती है तथा दूसरी ओर अक्रिय चेतना साध्यों के लिए इच्छा या प्रयास नहीं कर सकती

---

३. योगसूत्र १. ४. ४. २२. ३. ३५।

४. वैशारदी २. १०. तथा १. ४।

१. योगसूत्र २. १८. तथा सांख्यकारिका ६२।

है, इसलिए यह अनुसरित होता है कि साधनों और साध्यों के सहयोग के हेतु एक उच्चतर शक्ति का निरीक्षण तथा निर्देशन आवश्यक है। योग दर्शन का 'ईश्वर' इसी हेतु परिकल्पित किया गया है। वह चेतन पुरुष तथा अचेतन प्रकृति के मध्य समायोजन की पूर्णता का 'प्रतिभू है। इस कार्य के अभाव में योग का 'ईश्वर' एक बिल्कुल अनावश्यक वस्तु ही सिद्ध हुई होती। किन्तु प्रधान के अन्धे हेतुवाद के लिए इस तरह की किसी परिकल्पना की अत्यन्त आवश्यकता है जिसके अभाव में कि साध्य तथा साधन के बीच का सम्बन्ध तथा पुरुष और प्रकृति के मध्य का 'पुरुषार्थ' अव्याख्यित ही छूट जाते हैं। ईश्वर इन सम्बन्धों की प्रतिभू और आधार है।

सांख्य-योग तत्वमीमांसा में वाचस्पति तथा विज्ञानभिक्षु के विशेष संदर्भ में अनुभव की समस्या

सांख्य-योग दर्शन में, 'पुरुष' तथा 'प्रकृति' के स्वीकृत अतिद्वैतवाद के आधार पर अनुभव तथा ज्ञान को न्यायोचित ठहराना एक कठिन समस्या रही है। यह सर्वस्वीकृति है कि सांख्ययोग की परम्परागत तत्वमीमांसानुसार, पुरुष तथा प्रकृति मौलिक रूप से ही अनुभव जगत् के बाहर है, जिसके पूर्व कि न पुरुष 'उपभोक्ता' है, न 'ज्ञाता' है और न प्रकृति 'उपयोगिता' है, न 'ज्ञान' है। पुरुष कभी भी अनुभवकर्त्ता या प्रत्यक्ष द्रष्टा नहीं है क्योंकि वह सदैव 'केवली' और 'दृग्मात्र'[1] है, तथा प्रकृति भी, इसके पूर्व कि वह देखी, भोगी या अनुभव की जा सके, पुरुष द्वारा सचेतन बनाये जाने के राह देखती है। सुस्पष्टता के हेतु हमें एक क्षण को कल्पना करनी चाहिए कि पुरुष तथा प्रकृति दो विपरीत अलियों पर अवस्थित हैं, तथा दोनों के पास क्रमशः 'द्रष्टा' तथा 'दृश्य' या 'विषयी' और 'विषय' होने की क्षमतायें या बीजरूप सम्भावनायें हैं किंतु अभी तक कोई भी अनुभव का वास्तविक द्रष्टा या दृश्य, या विषयी और विषय नहीं हुआ है।

अब, एक अनुभवरहित सम्भाव्यता के अनुभवनिरपेक्ष दृष्टिविन्दु से प्रारम्भ करने पर, यह प्रश्न सहज ही उपस्थित हो जाता है कि 'द्रक्' तथा 'दृश्य' की मात्र अनुभवातीत सम्भानाएं द्रष्टा तथा दृश्य की व्यावहारिक यथार्थताओं में किस भाँति रूपांतरित होती हैं या हो सकती हैं, जिसमें कि पुरुष का उन गुणों तथा लक्षणों का अपने ऊपर आरोपण आवश्यक है जो कि उसके 'स्वरूप' में वस्तुतः उससे सम्बन्धित नहीं होते हैं। इसी प्रश्न को इन शब्दों में भी रखा जा सकता है कि अनुभव का किंचित् अस्तित्व भी किस रूप में सम्भव है

१. योगसूत्र २.२०.२.२३.२४.२५.३.३५।

तथा अनुभवातीत पुरुष से अनुभवाश्रित ज्ञाता तथा अनुभवकर्त्ता में 'मूल या आदि पतन' की व्याख्या किस प्रकार से की जा सकती है। सांख्ययोग में यह कठिन प्रश्न और भी कठिन होकर सामने आता है क्योंकि इस दर्शन प्रणाली में अनुभव के दो साझीदारों में से केवल एक 'प्रकृति' ही है जिसे कि रूपान्तरित किया जा सकता है क्योंकि द्वितीय तत्व, 'पुरुष' को तो नित्य रूप से अरूपान्तरित या 'अपरिणामी' की भाँति ही प्रतिपादित किया है।[1]

इस दर्शन प्रणाली में अनुभव की व्याख्या का भी एक इतिहास है जिसको हम यहाँ संक्षेप में रेखांकित कर रहे हैं। पतञ्जलि के सूत्रों से प्रारम्भ करके हम योग दर्शन में प्रस्तावित अनुभव की व्याख्या के चार महत्वपूर्ण प्रयासों को निर्दिष्ट कर सकते हैं जोकि अन्तिम प्रयास में भी अव्याख्यित ही शेष रह जाता है।

सूत्रों के प्रथम चरण में 'पुरुष' के अनुभव की बजाय, जिसकी व्याख्या की गई है, पुरुष के अनुभवातीत तथा अनासक्त स्वरूप पर ही अधिक जोर दिया गया है। हमें केवल इतना ही बताया गया है कि 'द्रश्य' तथा द्रष्टा की दो पूर्णतया भिन्न तथा पृथक् शक्तियों के स्वभावों के मध्य जब विवेकाभाव तथा भ्रांति होती है, तभी अनुभव घटित होता है। इस घोषणा के अतिरिक्त, जोकि हमारी वर्तमान समस्या के आधार का विधान करती है, कुछ भी अधिक नहीं कहा गया है कि पुरुष के अस्तित्व और सत्ता की स्थितियाँ या अवस्थायें दो हैं: एक उसके सत् स्वरूप की जिसमें कि वह भ्रान्ति के पूर्व तथा विवेक के पश्चात् अस्तित्व में होता है, तथा दूसरी उसकी वृत्तियों सहित 'सारूप्यम्' की मिथ्या स्थिति जिसे कि वह भ्रान्ति के अन्तर्गत भूल से अपने ऊपर आरोपित कर लेता है।[2]

यह विवेकाभाव ठीक रूप से किस प्रकार से घटित होता है या भ्रान्ति के अस्तित्व में आने की प्रक्रिया कैसी है और कैसे सम्भव होती है, इसे प्राय: अव्याख्यित ही छोड़ दिया गया है। यदि पुरुष वस्तुत: द्रष्टा नहीं है, बल्कि 'दृक् शक्ति' मात्र है और प्रकृति भी मौलिकरूप से एक वास्तविक 'दृश्य' नहीं है बल्कि देखे जाने की क्षमता मात्र है, तब द्रष्टा तथा दृश्य होने की सम्भावनाओं मात्र की, द्रष्टा तथा दृश्य होने की वास्तविकताओं में परिणति के कारणों को आगे खोजा जाना भी आवश्यक है।

---

१. योगसूत्र ४.१८।

२. योगसूत्र १.३.४।

इस महत् रूपान्तर का सर्वप्रथम कारण या 'हेतु' निश्चय ही पुरुष के प्रयोजन या 'पुरुषार्थ'[१] की परिकल्पना में समाविष्ट करके समझाया गया है। पुरुषार्थ को किसी भी रूप में क्रियाकारी होना चाहिए, किन्तु 'पुरुषार्थ' की परिकल्पना एक तात्कालिक या अपरोक्ष कारण के स्थान पर एक परम सिद्धान्त के स्वभाव की ही कहीं अधिक है। यह आगे भी पूछा जा सकता है कि 'पुरुष' तथा 'प्रकृति' के मौलिक स्वरूपों में 'पुरुषार्थ' परिवर्तन किस प्रकार लाता हैं ? इस शंका का समाधान भी इस तरह किया गया है कि यह परिवर्तन 'पुरुष' तथा 'प्रकृति' द्वारा एक दूसरे के गुणों की पारस्परिक भ्रान्ति द्वारा होता है। सूत्रों में व्याख्या की प्रथम अवस्था यहाँ समाप्त होती है, किन्तु 'अविद्या'[२] या विवेकाभाव की यह बहुधा पुनरुक्त परिकल्पना आगे भी निरन्तर विकसित, परिवर्द्धित, परिमार्जित और परिष्कृत होती जाती है।

'सत्व' तथा 'पुरुष' के विपरीत स्वभावों के मध्य भ्रान्ति की व्याख्या को 'भाष्य' में, सूत्रों के निर्देशों में से, 'सान्निध्य के द्वारा संसर्ग' (सान्निधिमात्रेण) के आधार पर विकसित किया गया है, जोकि अनुभव की व्याख्या के प्रयास की द्वितीय व्यवस्था है। इस अवस्था में यह प्रतिपादित किया गया है कि पुरुष तथा प्रकृति का सान्निध्यमात्र, जोकि बीज रूप सम्भावनाओं के वास्तविकताओं में परिवर्तन का अत्यन्त तात्कालिक कारण है, पुरुष को स्वामी तथा प्रकृति को 'स्व' के गुण प्रदान करता है, जिससे कि इस भ्रान्त विश्वास के द्वारा पुरुष अपने ऊपर ठीक उसी प्रकार उन रूप-भेदों को आरोपित कर लेता है जो कि वस्तुतः प्रकृति से सम्बन्धित होते हैं, जिस प्रकार कि कोई लाभ या हानि को स्वयं अपनी ही मान लेता है जो कि वस्तुतः उसकी मिल्कियत के साथ घटित होती है। यदि चैत्र की गायें मर जाती हैं, तो वह स्वयं अपने ऊपर दरिद्रता के लक्षणों को ग्रहण कर लेता है। उसी प्रकार राजा जय या पराजय को अपने ऊपर आरोपित कर लेता है[३], जोकि वास्तविक रूप से उसकी सेना से सम्बन्धित है।

इन दृष्टान्तों का अन्तर्गर्भित अर्थ स्पष्टतः यह है कि चैत्र, उसकी गायों की मृत्यु के कारण, अपने 'स्वरूप' में दरिद्र नहीं होता है और न ही राजा स्वयं अपने में विजेता या पराजित होता है। यद्यपि यह स्वीकार नहीं किया जा

१. योगसूत्र २.२४।
२. योगभाष्य २.१९।
३. योगभाष्य २.१८।

सकता कि चैत्र की व्यावहारिक आत्मा, उसकी गायों की मृत्यु से निश्चय ही दरिद्र हो जाती है तथा राजा अपनी सेना की जय और पराजय से जय और पराजय पाता है, तथापि इस अस्वीकृति से उपर्युक्त दृष्टान्तों में निहित अभिप्राय का कोई विरोध नहीं होता है। वह अर्थ व्यावहारिक आत्मा से सम्बन्धित नहीं है। इन दृष्टान्तों का वास्तविक अर्थ यह है कि चैत्र तथा राजा की, उनकी व्यावहारिक आत्मा के अतिरिक्त, एक और सत्यतर आत्मा भी है जो कि उनके 'स्वामित्व के क्षेत्र में घटनेवाली इन घटनाओं से कतई प्रभावित नहीं होती।' 'स्वामित्व' के व्यावहारिक क्षेत्र में जो कुछ घटित होता है, 'स्वामी' पर उसके प्रभाव की मात्रा, स्वामी तथा 'स्वामित्व' के स्वभावों के मध्य भ्रांति तथा उस आधार पर निर्भर क्रमागत तादात्म्यीकरण की मात्रा पर निर्भर होती है। यह निश्चय के साथ कहा गया है कि एक अनिवार्य सान्निध्य के द्वारा प्रस्तुत इस शोचनीय भ्रान्ति के विनाश की क्रमिक प्रक्रिया द्वारा, 'पुरुष' के सत् स्वभाव को पुनः उपलब्ध किया जा सकता है जोकि तब, एक 'स्वामी' तथा 'प्रत्ययानुपस्यः' का नहीं, बल्कि मात्र 'एक केवली' तथा 'दृग्मात्र' का होता है। इस स्थल पर, पुरुष की पुनः कैवल्य प्राप्ति की विपरीत प्रक्रिया किस प्रकार घटित होती है इससे हम कतई सम्बन्धित नहीं हैं। हमारा सम्बन्ध यहाँ उस पूर्वतर प्रक्रिया से ही है जिसके द्वारा कि मौलिक कैवल्य देखने तथा भोगने के वास्तविक अनुभव में विनष्ट या पतित होता है। यह कैसे सम्भव होता है, यही हमारी जिज्ञासा है, क्योंकि प्रसांख्ययोग की मौलिक तत्वमीमांसक स्थिति पुरुष और प्रकृति के पूर्ण प्रथकत्व की है, न कि एक अनादि या नित्य अनुभव (भोग) की।

'भाष्य' भी, पुरुष के दो स्वभावों या आवश्यकताओं की 'सूत्र' स्थिति को स्वीकार करते हैं : एक स्वरूप की स्थिति जिसमें कि वह अनुभव की अस्थिरताओं से पूर्णरूपेण मुक्त और अतीत होता है, तथा दूसरी 'स्वामित्व' की अविवेक या भ्रान्ति पर आधारित स्थिति, जोकि अनिवार्यतः व्यावहारिक परिवर्तनों तथा अस्थिरताओं के अधीन है। 'भाष्य' पुरुष तथा प्रकृति के 'सारूप्य' की भ्रांति को, चुम्बक तथा लौहकणों के दृष्टान्त के आधार पर, 'सान्निध्य' की परिकल्पना से समझाने का प्रयास करता है, जिसमें कि सान्निध्य मात्र के तथ्य से प्रभाव एक से दूसरे तत्व में अनिवार्यतः प्रभावित होता है। किन्तु, जैसा कि बाद में प्रदर्शित किया जाएगा, नित्य तथा निरपेक्ष 'सान्निध्यमात्र' की इस प्रकार की परिकल्पना में, संसर्ग को नित्य बना देनेवाली अनेक सुस्पष्ट कठिनाइयाँ सन्निहित हैं।

अब प्रश्न यह है कि पुरुष के दो स्वभाव हैं या एक ही ? यदि उसके दो स्वभाव हैं अर्थात् एक केवल तथा अनुभवनिरपेक्ष स्वरूप का तथा दूसरा 'स्वामित्व' तथा व्यावहारिक अनुभवकर्ता का, तब वह पूर्णरूप से पृथक् या 'केवली' न कभी होता है और न हो सकता है, और यदि उसका केवल एक ही स्वरूप है, तब वह स्वामित्व के दूसरे स्वभाव की प्राप्ति किस भाँति करता है, या कर सकता है ?

'भाष्य' इस प्रश्न से सम्बन्धित स्थिति को यहीं छोड़ देता है। यह स्पष्ट ही है कि 'भाष्य' द्वारा प्रतिपादित सिद्धान्त को अभी और भी विकसित किया जाना आवश्यक है जिससे कि प्रस्तावित सान्निध्य के द्वारा पुरुष तथा प्रकृति के स्वरूपों की एक दूसरे पर मिथ्यारोपण की भ्रान्ति या 'अनुभव' के घटने की प्रक्रिया को ठीक रूप से समझाया जा सके। सान्निध्यमात्र से इस प्रकार की भ्रान्ति क्यों घटित होती है ? क्या, यदि दो पदार्थ एक दूसरे के निकट स्थित हैं तो उन्हें अनिवार्यतः यह सोचना ही चाहिए कि वे एक दूसरे के स्वभाव को लिए हुए हैं ? निकटता मात्र के कारण यह आवश्यक क्यों है कि एक दूसरे के स्वभाव को अपने पर मिथ्या रूप से आरोपित कर लें।

इस प्रकार हम वाचस्पति मिश्र पर आते हैं जो कि अनुभव की व्याख्या के प्रयास की तृतीय अवस्था के प्रतिनिधि हैं। वाचस्पति 'सान्निध्यमात्र' की धारणा को सत्व में निहित 'पुरुष' के प्रतिबिम्ब को पकड़ने की एक क्षमता विशेष की तरह निरूपित करते हैं जोकि 'अनुभव' का आधार है। हमें अब तक उस प्रक्रिया का कोई विस्तृत निर्देश नहीं दिया गया था जिसके द्वारा कि पुरुष तथा प्रकृति के स्वभावों के सम्बन्ध में क्रमशः अनिवार्य भ्रान्ति घटित होती है। किन्तु वाचस्पति के साथ विस्तृत निरूपण प्रारम्भ होता है। वह सोचते हैं कि सान्निध्य से प्रसरिक या सामयिक निकटता को नहीं समझा जाना चाहिए। उनके अनुसार सान्निध्य की धारणा से केवल एक सम्भाव्य 'योग्यता' का अर्थ ही प्रयोजित है जिससे कि एक तत्व दूसरे तत्व में अपने प्रभाव को प्रभावित करने तथा उसे पकड़ने में समर्थ हो पाता है।[१] यह स्पष्ट ही है कि प्रत्येक वस्तु प्रत्येक अन्य वस्तु से केवल निकट होने के ही कारण उस विशेष योग्यता के अभाव में जिससे कि वह प्रभावित होती है, और प्रभावित कर सकती है, प्रभावित नहीं हो सकती है। जबकि चुम्बक लौहकणों को आकर्षित करता है और लौहकण अपने को आकर्षित होने देते हैं, तब दूसरा कोई पदार्थ न तो चुम्बक से आकर्षित ही होगा और न चुम्बक ही उसे आकर्षित करेगा। उन दोनों के मध्य भी पारस्परिक 'योग्यता' का ऐसा ही बन्धन है जिसके कारण ही कि पुरुष के 'केवल', अनुभवनिरपेक्ष तथा दृक्शक्ति मात्र तथा प्रकृति

के अनुभवनिरपेक्ष 'दृश्य' और अचित होने पर भी, जड़ या अचेतन सत्व अनुभवातीत पुरुष का प्रतिबिम्ब ग्रहण करने में समर्थ है जोकि उसे डालने में समर्थ है। सत्व को ठीक उसी प्रकार पुरुष के साथ उसके संसर्ग के द्वारा सचेतन किया जा सकता है, जिस भाँति कि चमकहीन जल, जिसमें कि चन्द्रमा के प्रतिबिम्ब को ग्रहण करने की क्षमता या योग्यता निहित है (जो कि अन्य पदार्थों में नहीं है) चन्द्रमा के उसमें प्रतिबिम्बत होने के कारण चमकता हुआ प्रतीत होता है।

वाचस्पति सोचते हैं कि ठीक जिस प्रकार सुदूरस्थ, पृथक् और अनासक्त चन्द्रमा अपनी दीप्ति मात्र से नदी के जल को भी दीप्ति की अवस्था में ला देता है और स्वयं इस घटना से अप्रभावित रहते हुए नदी कि अस्थिरताओं का निरीक्षण (अनुपश्यति) करता है, उसी प्रकार बुद्धि के सत्व में पुरुष का प्रतिबिम्ब भी घटित होता है जिसके कारणा कि बुद्धि अपने ऊपर, अपरोक्ष बुद्धिवान् तथा चेतन कर्त्ता या ज्ञाता का स्वभाव आरोपित कर लेती है। अनुभवातीत पुरुष, किसी भाँति इस समग्र घटना में परोक्ष निरीक्षक या द्रष्टा मात्र ही बना रहता है।

अनुभव की इस व्याख्या को विज्ञानभिक्षु की इसके बाद आनेवाली व्याख्या से भेद करने के हेतु इकहरे प्रतिफलन का सिद्धान्त कहा जा सकता है, जिसेकि दुहरे या पारस्परिक प्रतिफलन का सिद्धान्त कहा जाएगा। इस परिकल्पना के एक विशेष लक्षण को ध्यान में रखना आवश्यक है जब कि इसके अनुसार अचेतन बुद्धि सचेतन तथा अनुभवकर्त्ता बनाई जाती है, तब पुरुष एक अनुभवातीत 'दृग्शक्ति' मात्र ही बना रहता है। यह स्वरूपत: अचेतन तथा अब चेतना बनी हुई बुद्धि ही है, न कि 'पुरुष', जो कि इस परिकल्पनानुसार वस्तुत: ज्ञाता, भोक्ता तथा कर्त्ता है।

वाचस्पति की इकहरे प्रतिफलन की इस गणना के आधार पर हम अचेतन बुद्धि को वास्तविक ज्ञाता तथा कर्त्ता बनाने में सफल हुए प्रतीत होते हैं, किन्तु यह पूछना आवश्यक है कि इस परिकल्पना के अन्तर्गत पुरुष की स्थिति क्या है? क्या वह अभी भी अपने अनुभवातीत स्वभाव में है या वह भी बुद्धि की तरह ही किसी प्रकार से प्रभावित हुआ है। वाचस्पति का उत्तर है कि पुरुष अभी भी क्षमता या 'दृग्मात्र' ही है तथा उसकी स्थिति अनुभवातीत या अनुभव निरपेक्ष और अनुभवहीन है। बुद्धि के लिए तो अनुभव को सम्भव बना दिया गया है, किन्तु पुरुष के लिए नहीं जो कि अभी भी 'स्वामी' नहीं

है। पुरुष के लिए अनुभव को सम्भव बनाने के हेतु यह अभी भी आवश्यक है कि बुद्धि के अनुभवों को पुरुष के लिए अपने ही अनुभव की तरह मानने की भूल तथा भ्रान्ति घटित हो, जिसके लिए कि परिकल्पना में पूर्व विधान नहीं किया गया है।

इस स्थल पर यह उपयोगी होगा कि हम अपने पूर्व-दृष्टान्त पर लौटकर कल्पना करें कि चन्द्रमा जब स्वच्छ जल पर अपना प्रतिबिम्ब डालता है, तब प्रतिबिम्बित जल अपने आपको सक्रिय सचेतन ज्ञाता तथा जल के साथ जो कुछ घटित होता है उसका कर्त्ता सोचना प्रारम्भ कर देता है। इसका स्पष्ट अर्थ यह है कि अचेतन यद्यपि सक्रिय जल, जो कि प्रतिबिम्ब के पूर्व चेतना से हीन था; अब प्रतिबिम्ब के पश्चात् चेतना से युक्त हो गया है। किन्तु इससे चन्द्रमा किसी भी रूप में अनुभवकर्त्ता या कर्त्ता नहीं बनता। इसमें प्राप्ति केवल एक तरफा है। अचेतन बुद्धि, जो कि सदैव ही सक्रिय, गतिमय तथा जड़ थी, अब 'चित्शक्ति' के साथ संयोग के कारण उस चैतन्य से सम्पन्न हो गई है जिसका कि इसके पूर्व उसमें नितान्ताभाव था। वह अब इस तरह है 'जैसे कि' वह चेतन कर्त्ता है। इकहरे प्रतिबिम्ब के इस संसर्ग से पुरुष को अभी तक कोई लाभ या हानि नहीं होती है। वह अभी भी, देखने के वास्तविक अनुभव से रहित, केवल देखने की संभाव्य शक्ति की तरह ही अस्तित्व में है। इस कारण को कि, बुद्धि की अस्थिरताओं को पुरुष के द्वारा अपनी ही मानकर अपने ऊपर आरोपित करने की भूल क्यों करनी चाहिये, अभी अव्यवस्थित ही छोड़ दिया गया है जो कि संयोगवशात् अनुभव के घटित होने के लिए नितांत आवश्यक है। चन्द्रमा को, इस कारण मात्र से ही कि वह स्वच्छ जल पर प्रतिबिम्बित होता है, जल की अस्थिरताओं को अपने पर आरोपित करने तथा उससे दुख पाने की कोई आवश्यकता नहीं है। यह प्रमाणित करना सांख्ययोग विचारकों की एक प्रिय परिकल्पना रही है कि सक्रिय वस्तु को यदि वह अचेतन है तो कर्त्ता नहीं कहा जा सकता, तथा चेतन वस्तु को भी, यदि वह निष्क्रिय है तो कर्त्ता नहीं पुकारा जा सकता है। और इसलिए, अब जबकि प्रतिबिम्ब द्वारा सक्रिय किन्तु जड़ बुद्धि सचेतन हो गई है, तब अक्रिय चेतना को भी, उसके पारस्परिक प्रभाव की ध्रुवता को पूर्ण करने के हेतु, सक्रिय बनाया जाना आवश्यक है। पुरुष तथा बुद्धि के मध्य 'योग्यता' के बन्धन के कारण, बुद्धि पर पुरुष के इकहरे प्रतिफलन का वाचस्पति का सिद्धांत, यद्यपि व्यास की सान्निधिमात्र की परिकल्पना पर एक सुनिश्चित तथा सुस्पष्ट विकास है, तथापि वह अनुभव को उसकी पूर्णता में उचित रूप से संभव नहीं बनाता जो 'भाष्य' के प्राथमिक वक्तव्यानुसार

बुद्धि से संबंधित गुणों को पुरुष द्वारा स्वयं अपने ऊपर ग्रहण किये जाने में निहित होता है। यह कहा जा सकता है कि जबकि वाचस्पति ने अचेतन बुद्धि को तो सचेतन बना दिया है वहीं उन्होंने अभी तक पुरुष की अनुभव-निरपेक्ष शक्ति का अनुभवाश्रितीकरण या पोद्गालीकरण नहीं किया है, जब कि ये दोनों ही प्रक्रियायें अनुभव के लिए अनिवार्य हैं।

इस तरह, हम सांख्ययोग में अनुभव के सिद्धांत के विकास की चतुर्थ तथा अन्तिम अवस्था, अर्थात् विज्ञानुभिक्षु के दोहरे या परस्पराश्रित प्रतिफलन के सिद्धांत पर आते हैं।[१]

विज्ञानभिक्षु का सोचना है कि अनुभव का घटित होना संभव हो सके इस हेतु, बुद्धि के 'सत्व' पर अनुभवातीत पुरुष के प्रतिबिम्ब का घटित होना ही केवल पर्याप्त नहीं है बल्कि प्रतिबिम्बित बुद्धि का पुरुष पर प्रतिबिम्बित होना भी आवश्यक है : जबतक कि सचेतन बनी बुद्धि अपनी बारी में पुरुष पर प्रतिबिम्बित नहीं होती तबतक पुरुष को बुद्धि की अस्थिरताओं तथा लक्षणों को स्वयं अपना मानने की भ्रांति करने का कोई अवसर नहीं है। इस तरह विज्ञानभिक्षु के अनुसार पुरुष तथा प्रकृति के मध्य 'योग्यता' के मौलिक बन्धन के कारण एक का दूसरे पर परस्पराश्रित प्रतिफलन होता है जिसके आधार पर ही कि अनुभव की समुचित व्याख्या की जा सकती है। जब पुरुष बुद्धि पर अपना प्रतिबिम्ब डालता है तथा उसे सचेतन बनाता है, तब प्रतिबिम्बित बुद्धि भी अनुभवातीत पुरुष पर अपना प्रतिबिम्ब डालती है तथा उसे अनुभवाश्रित बनाती है। यह पारस्परिक प्रतिफलन की क्रिया प्रकृति पर चेतना तथा चेतना पर प्रकृति के गुणों के मिथ्यारोपण या स्थानांतरण की ओर ले जाती है और इस प्रकार अनुभव अनुसरित होता है। अनुभवातीत पुरुष पर बुद्धि के इस प्रतिबिम्ब के कारण, पुरुष बुद्धि की अस्थिरताओं को अधिकांशतः ठीक उसी प्रकार अपना समझ लेने की भ्रांति करता है, जिस प्रकार कि यदि प्रतिबिम्बित जल भी पुनः चन्द्रमा में प्रतिबिम्बित हो तो चन्द्रमा जल की गतिमयता को स्वयं अपनी गतिमयता मान सकता है।

इस प्रकार हम स्पष्टरूप से देख सकते हैं कि पंतजलि-सूत्रों में निर्दिष्ट 'द्रष्टा' तथा 'दृश्य' के स्वभावों की भ्रांति की ओर लेजाने वाला 'प्रकृति' तथा पुरुष की अनुभवातीत शक्तियों का संसर्ग, क्रमशः व्यास द्वारा अपने 'भाष्य' में 'सान्निधिमात्र' की परिभाषा से, वाचस्पति मिश्र द्वारा अपनी 'वैशारदी' में बुद्धि पर पुरुष के इकहरे प्रतिफलन के सिद्धांत से, और अन्ततः

१. योग वर्त्तिका १. ४. ३. ३५।

विज्ञानभिक्षु द्वारा अपनी 'वर्त्तिका' एक पर दूसरे के परस्पर प्रतिफलन के सिद्धांत द्वारा किस प्रकार समझाया तथा निरूपित किया गया है। इस परिकल्पना के विकास की हमारी गणना में यह देखा गया होगा कि अधिक से और अधिक संगतिपूर्णता की ओर विकसित होते इस सिद्धांत की वृद्धि की विभिन्न अवस्थाओं में पूर्वतर तथा प्राचीनतर धारणाओं को कभी अस्वीकृत नहीं किया गया है। व्यास, वाचस्पति तथा विज्ञानभिक्षु में सिद्धांत का क्रमशः विकास पूर्वतर परिकल्पना के और अधिक स्पष्टीकरण की आवश्यकता से प्रेरित होकर ही हो जाता है और इस कारण ही पूर्वतर धारणा को सर्वस्थितियों में नवीन धारणा के लिए आधार की तरह ग्रहण किया जाता रहा है।

किन्तु सांख्ययोग तत्वमीमांसा के विद्यार्थी के लिए उस प्रभाव का निरीक्षण तथा अध्ययन ही अत्यन्त महत्ता का विषय है जोकि उत्तरोत्तर सिद्धांतों द्वारा, जैसे ही वे अधिकाधिक संगत होते चलते हैं, सांख्ययोग की पूर्वतर कठोर तथा अनुभवातीत द्वैतवाद की मौलिक स्थिति पर डाला जाना अनिवार्य होता जाता है। हम पाते हैं कि बाद की परिकल्पनाओं में पुरुष तथा प्रकृति के मध्य मौलिक अनुभवनिरपेक्षवाद में क्रमशः न्यूनता आती जाती है, तथा उन तथ्यों से समझौता कर लिया जाता है जो कि सांख्ययोग की कठोर द्वैतवादी स्थिति पर चोट पहुँचाते हैं। 'सूत्र' तथा 'भाष्य' की पूर्वतर प्रस्तावनाओं में, जिनका स्वरूप कि अभी तार्किक दृष्टि से बहुत निश्चित और रेखाबद्ध नहीं है, पुरुष के अनुभवातीत स्वभाव को 'चित् शक्ति' की तरह और न कि 'दृष्टा' की तरह, अस्पर्शित तथा बिना आपत्ति में डाले हुए ही अनुभव की व्याख्या करने का प्रयास किया गया है। वाचस्पति का बुद्धि पर पुरुष के इकहरे प्रतिबिम्ब का सिद्धांत भी, अनुभवनिरपेक्ष पुरुष के 'केवल' स्वरूप तथा उसके अनुभव प्रदेश से पूर्णतया बाह्य होने की सांख्ययोग दर्शन की परम्परागत भावना के अनुरूप ही है क्योंकि पुरुष अपने प्रतिफलन के द्वारा बुद्धि को सचेतन बनाने में अक्रिय और अकर्त्ता ही बना रहता है। वह अभी भी वास्तविक ज्ञाता या अनुभव कर्त्ता नहीं है। वाचस्पति ने अपने इकहरे प्रतिफलन के सिद्धांत के द्वारा, पुरुष के अपरिणामी, अपरिवर्तनशील, अनुभवहीन तथा केवली स्वरूप को शेष रखते हुए भी, जिसे कि सदैव ही सांख्ययोग का शास्त्रीय दृष्टिकोण घोषित किया गया है, अनुभव को संभव बनाने के कठिन कार्य को करने का अन्तिम प्रयास किया है। किन्तु, हमें अभी तक पुरुष, बुद्धि की वृत्तियों को अपनी मानने की भूल करता हुआ नहीं मिलता, जोकि,

यदि अनुभव और ज्ञान को पुरुष के पक्ष में उचित रूप से समझाया जाना है, तो उसके द्वारा होना अत्यन्त आवश्यक है।

विज्ञानभिक्षु में अवश्य ही हम पुरुष के अनुभवनिरपेक्ष कैवल्य की मौलिक स्थिति के वास्तविक परित्याग पर आते हैं, क्योंकि उनकी परिकल्पनानुसार पुरुष न सिर्फ तत्व पर अपना प्रतिबिम्ब ही फेकता है, बल्कि अपनी बारी में प्रतिफलित सत्व के प्रतिबिम्ब को अपने पर स्वीकार भी करता है। इस प्रकार, विज्ञानभिक्षु का पुरुष एक व्यावहारिक आत्मा से किसी भाँति भिन्न या श्रेष्ठतर नहीं है। उसका स्वरूप 'द्रष्टा' और 'भोक्ता' के स्वरूप से अन्य नहीं है क्योंकि, विज्ञानभिक्षु के अनुसार, प्रकृति तथा पुरुष का संबंध नित्य और शाश्वत है। इस स्थल पर यह प्रश्न सहज ही पूछा जा सकता है कि तब पुरुष के नित्य केवली स्वरूप का क्या होता है ?

विज्ञानभिक्षु का सिद्धांत, असन्दिग्ध रूप से, अनुभवातीत पुरुष के अनुभवाश्रितीकरण की अधिकतम संगतिपूर्ण व्याख्या है, किन्तु इस संगति को पुरुष के अनुभव-निरपेक्ष स्वरूप के बलिदान के मूल्य पर ही प्राप्त किया जा सका है। यह प्रतीत होता है कि जबकि सूत्रों का मौलिक, अनुभवनिरपेक्ष तथा अव्यवस्थित द्वैतवाद अनुभव की संगतिपूर्ण व्याख्या करने में असफल हो जाता है, तब उत्तरोत्तर संगतिपूर्ण परिकल्पनायें तथा व्याख्यायें सांख्ययोग के द्वैतवाद को शेष रखने में असफल हो जाती हैं जैसाकि विज्ञानभिक्षु की स्थिति के परिणामों से सुस्पष्ट है। अनुभव की तार्किक गणना में संगति तथा अनुभवनिरपेक्ष और व्यावहारिक जगतों का पूर्ण द्वैतवाद आपस में अविरुद्ध नहीं है। उनकी असंगति सुस्पष्ट ही है। ऐसा हो सकना संभव है कि अनुभव के अनुभवातीत तथा व्यावहारिक दोनों ही तत्वों का अस्तित्व शायद पुरुष में ही है, जिसके कारण कि वह स्वतन्त्र तथा बद्ध, अनुभवकर्त्ता तथा केवली, दोनों एक ही साथ और एक ही समय में हो सकता है। सांख्ययोग के कठोर एवं असमझौतावादी द्वैतवाद से एक प्रकार के अद्वैतवाद पर विचार के वजन को इस परिवर्तन से, अनुभवनिरपेक्ष सिद्धांत के अनुभव के स्तर पर 'मौलिक पतन' की समस्या के तार्किक हल की आशाओं पर, किसी प्रकार के प्रभाव की अपेक्षा नहीं की जा सकती है, क्योंकि अद्वैत वेदान्त के लिए भी, बौद्धिक तथा तार्किक स्तर पर वह समस्या उतनी ही अव्यवस्थित रह जाती है जितनी कि वह सांख्ययोग के द्वैतवाद के लिए।

'अविद्या' की तार्किक रूप से अव्यवस्थित धारणा का, भारतीय अद्वैतवादी दोनों के द्वारा एक समान उभय-उपयोग यहाँ सबल रूप से यह सुझाव

देता है कि जगत और जीवन के चरम् प्रारम्भ से संबंधित प्रश्न तर्क तथा बुद्धि की सीमाओं के परे हैं। चरम प्रारम्भ या चरम अन्त का क्षेत्र बुद्धि का क्षेत्र नहीं है, और मनुष्य की बौद्धिक जिज्ञासा का इन दो अतियों के मध्यवर्ती प्रदेश में कार्य करके ही संतुष्ट हो जाना उचित है।

द्वैतवादी सिद्धांतों की आलोचना

हम चेतना तथा अचेतना के संबंध की व्याख्या के द्वैतवादी तथा अद्वैत-वादी दोनों प्रयासों का निरीक्षण और अध्ययन कर चुके हैं। किन्तु अभी अद्वैतवादी तथा द्वैतवादी दोनों निरूपणों की सापेक्ष गुणात्मकता या श्रेष्ठता का आकलन शेष रह गया है। हम सर्वप्रथम पुरुष के प्रयोजन या पुरुषार्थ के प्रकृति द्वारा पूरे किये जाने की सांख्ययोग परिकल्पना पर विचार करना चाहते हैं। डा० जाहन्सटन का कथन है कि यह सिद्धांत संभवतः पूर्व-सांख्य के लिए ज्ञात नहीं है।[१] इतना तो स्पष्ट ही है कि ईश्वरकृष्ण के लिए इस सिद्धांत को ग्रहण करने का चाहे कोई भी कारण क्यों न रहा हो, वह इस प्रश्न का संतोषजनक उत्तर नहीं दे पाते कि चेतन सिद्धांत क्यों और किस प्रकार इस भाँति के शारीरिक यंत्र में विकसित हो सका है कि वह पुरुष के प्रयोजन या पुरुषार्थ हेतु योग्य सिद्ध हो सकता है।

यदि हम मनुष्य या जल या थल के निम्न प्राणियों की शरीर रचना तथा नाड़ी मंडल को देखें, तो हमें अबौद्धिक या अचेतन सिद्धांत की पूर्ण बौद्धिकता तथा संगतिपूर्णता को देखकर आश्चर्यचकित रह जाना पड़ता है। किन्तु शंकर का कथन है कि इस प्रकार की घटना जगत में कहीं भी नहीं देखी जाती है कि किसी बौद्धिक प्राणी द्वारा निर्देशित हुए बिना ही कोई अचेतन या अबौद्धिक वस्तु इस प्रकार के प्रभाव स्वेच्छया पैदा कर सकती हो जो कि किसी चेतन प्राणी के प्रयोजनार्थ काम में आ सकते है[२] क्योंकि अचेतन में नहीं, बल्कि केवल चेतन में ही प्रयोजन-शक्ति निहित हो सकती है और इसलिए जब कभी भी अचेतन में क्रियात्मकता पाई जाती है, वह चेतन के निर्देश के कारण ही होती है और हो सकती है। उपनिषद् वाक्य भी हैं कि 'जो कुछ भी गतिमय है या क्रियाशील है, वह वैसा चेतन के प्रभाव के कारण और प्रभाव के अन्तर्गत ही है।

इसे सिद्ध करना कठिन नहीं है कि अचेतन से किसी प्रकार की क्रिया सम्बद्ध नहीं हो सकती है। गाय तथा दूध का सांख्य दृष्टांत उचित नहीं है

१. डा० जाहन्सटन 'अर्ली सांख्य, पृष्ठ ११.

२. शांकरभाष्य २. २. १।

क्योंकि गाय एक सचेतन प्राणी है तथा अपने दूध को अपने बच्चे के स्नेह के कारण प्रवाहित होने देती है। किन्तु यह पुरुष जबकि तटस्थ तथा 'उदासीन' है, तब कोई कारण नहीं है कि प्रधान क्यों उसके हेतु क्रिया के लिए विवश होता है[१] इस स्थिति में यह देख पाना अत्यन्त कठिन है कि वह क्यों अपने आपको रूपान्तरित करता है, जबकि पुरुष का उससे कोई भी सम्बन्ध नहीं है।[२] चेतन के सिद्धांत की उपकरणात्मकता के अभाव में अचेतन सिद्धांत में किसी प्रकार की स्वेच्छाकृत किया नहीं हो सकती है, तब वहाँ एक सुनिश्चित सुनिर्धारित तथा सुनिर्दिष्ट व्यवस्था सदैव ही पाई जाती है। क्योंकि अन्यथा, 'अचेतन घास जब बैल द्वारा खाया जाता है, तब वह उसी प्रकार अपने को दूध में परिवर्तित क्यों नहीं कर लेता है जैसाकि गाय द्वारा खाये जाने पर करता है ?[३] अचेतन 'प्रधान' से संबंधित किसी भी संज्ञि पर कोई प्रयोजन आरोपित नहीं किया जा सकता है।[४] और चूँकि क्रिया का सन्दर्भ सदैव ही प्रयोजन है, जोकि अचेतन में अनुपस्थित होता है, इसलिए जड़ जगत से किसी भाँति की क्रिया को भी संबंधित नहीं बताया जा सकता।

यह स्वीकार करते हुए कि 'प्रधान' भी सप्रयोजन हो सकता है, यह पूछना आवश्यक हो जाता है कि वह प्रयोजन क्या हो सकता है ? वह पुरुष का भोग तो हो नहीं सकता; जैसी कि सांख्य की मान्यता है, क्योंकि पुरुष अन्तरस्थ रूप से ही बोधानुभव और इसलिए, भोग में अक्षम है; और यदि वह भोग में क्षम होता तो फिर मोक्ष के लिए कोई अवसर नहीं हो सकता था क्योंकि उस स्थिति में 'भोग्य' से उसका संयोग अविभाज्य होता। यदि यह युक्ति या तर्क किया जाये कि पुरुष के संतोष के पश्चात् प्रकृति पृथक् हो जाती है, जैसा कि सांख्यकारिका (५६ तथा ६८) में प्रतिपादित किया गया है,[५] तो यह भी अरक्षणीय ठहरता है क्योंकि अचेतन प्रधान को अन्त की उपलब्धि का बोध नहीं हो सकता है।

इस कारण निष्कर्ष यह है कि यदि बुद्धि को क्रियात्मकता का स्रोत नहीं माना जाता तो साध्य और साधन के सम्बन्ध में अचेतन से चेतन को सम्बन्धित नहीं किया जा सकता। किन्तु सांख्य अभी भी एक नई स्थिति को ग्रहण

---

१. बृहदारण्यक ३. ८. ६।
२. शांकरभाष्य २. २. ४।
३. शांकरभाष्य २. २. ५।
४. शांकरभाष्य २. २. ६।
५. सांख्यकारिका ५६ तथा ६८।

कर सकता है कि पुरुष या चेतन सिद्धान्त यद्यपि सक्रिय नहीं हो सकता है, तथापि वह भोग में समर्थ हो सकता है। किन्तु यह नई स्थिति भी मुश्किल से ही रक्षणीय है, क्योंकि पुरुष यदि परिवर्तित होने के भय से सक्रिय कर्त्ता नहीं हो सकता है, तो वह भोक्ता ही कैसे हो सकता है, क्योंकि भोग में परिवर्तित होने की क्षमता भी उसी प्रकार अन्तर्भावित है जिस प्रकार कि गतिमयता या सृजन की क्रियात्मकता है। 'पुरुष' को द्रष्टा या भोक्ता बनाने के हेतु अपेक्षित परिवर्तन के स्वभाव में कोई अन्तर नहीं होता है[1], क्योंकि सृष्टा होने या भोक्ता होने, दोनों में ही क्रिया समानरूप से सन्निहित होती है। यह नहीं कहा जा सकता है कि पुरुष शुद्ध चेतना भी है जिस प्रकार कि वह भोक्ता है, क्योंकि या तो उस पर आरोपित योग अयथार्थ है या फिर पुरुष स्थिर चित्त नहीं रह जाता है। यह भी नहीं कहा जा सकता है कि कथित् भोग वस्तुतः सत्व में पुरुष के प्रतिबिम्ब से सम्बन्धित है, क्योंकि यदि इस प्रकार की क्षमता पुरुष को प्रभावित नहीं करती है, तब उसे भोक्ता बनाना अर्थहीन है[2]; और यदि भोग का दुर्भाग्य पुरुष को प्रवाहित नहीं करता या अछूता छोड़ जाता है तो मुक्ति के हेतु किए गए सारे प्रयास व्यर्थ हो जाते हैं। इस तरह विशुद्ध चेतना को इस प्रकार नहीं बिचारा जा सकता है कि उसे किसी लक्ष्य की उपलब्धि करनी है या उसमें भोग का बोध है, और न अचेतना को ही उसके उपयुक्त साधन की तरह उससे सम्बन्धित किया जा सकता है।

इसके बाद हम 'सान्निधिमात्र' की द्वैतात्मक परिकल्पना पर आते हैं। इस परिकल्पना की प्रथम आलोचना यह है कि इसमें प्रधान की प्रयोजन शक्ति की तरह 'पुरुषार्थ' के सिद्धान्त का परित्याग अन्तर्निहित है। यह कहना कि 'प्रधान' पुरुष के प्रयोजनार्थ क्रियाशील होता है, तथा यह कहना कि वह मात्र सान्निध्य के कारण गतिमय होता है, दो अत्यन्त विभिन्न वस्तुएँ हैं। सान्निधिमात्र की परिकल्पना स्वयं अपने आप में भी असन्तोषजनक है, क्योंकि सान्निध्य के स्थायित्व के कारण उससे उद्भुत क्रिया का स्थायित्व भी अनुगमित होता है और इस प्रकार मुक्ति की कोई सम्भावना या अस्तित्व नहीं रह जाता है। इसके अतिरिक्त चुम्बक और लोहे तथा पुरुष और प्रधान की स्थितियाँ भी ठीक रूप से समानान्तर नहीं हैं। चुम्बक तथा लोहे का सान्निध्य स्थायी नहीं है तथा किन्हीं विशेष स्थितियों और संयोगों पर निर्भर होता है जिनका प्रधान तथा पुरुष के सान्निध्य में नितान्त अभाव है।

---

१. प्रश्नोपनिषद् शांकरभाष्य ६.३।

२. प्रश्नोपनिषद्, शांकरभाष्य ६.३।

प्रधान के अचेतन और आत्मा के उदासीन होने के कारण, तथा उन्हें जोड़नेवाले किसी तीसरे सिद्धान्त के अभाव के कारण, उन दोनों के मध्य किसी प्रकार का सम्बन्ध नहीं हो सकता है।[१]

इस तरह यह स्पष्ट है कि द्वैतवादी परिकल्पना के आधार पर चेतना तथा अचेतना के मध्य सम्बन्ध का कोई तार्किकरूप से सन्तोषजनक कारण प्रस्तुत नहीं किया जा सकता। उस समय तक जब तक कि हम एक ऐसे उच्चतर तथा व्यापक यथार्थ की सत्ता को स्वीकार नहीं करते हैं जोकि चेतना और अचेतना को अपने में लिए हुए हैं तथा चेतना अचेतना उसके पहलू विशेष से अतिरिक्त कुछ भी नहीं है, तब तक उनके मध्य आश्चर्यजनक रूप से स्थापित पूर्ण सहयोग का प्रश्न अव्याख्यित ही छूट जाता है। मनस् तथा पदार्थ का सरल द्वैतवाद, जोकि हमारे मनों के लिए पूर्णतया स्वाभाविक है एक तृतीय तत्व की कठिनाइयों की आलोचना के समक्ष नहीं ठहर सकता, जिसकी कि हमें दो पूर्णरूपेण स्वतन्त्र वस्तुओं को जोड़ने के लिए अनिवार्यतः जरूरत होती है। और यदि 'किसी तृतीय वस्तु' की परिकल्पना असन्तोषजनक है, तो हमारे पास, एक ही सार्वभौम अंशी के अन्तर्गत विषयी तथा विषय के विभेद के अतिरिक्त अन्य कोई विकल्प शेष नहीं रह जाता है। इस कारण अद्वैतवादी अचेतना के स्वतंत्र सिद्धान्त की परिकल्पना को निम्नकारणों के कारण पूर्णरूपेण अनावश्यक मानकर अस्वीकृत कर देता है :

(१) कोई कारण प्रतीत नहीं होता है कि अचेतन तत्व को गतिमय होना ही क्यों चाहिए या फिर एक बार गति पाकर रुकना क्यों चाहिए। एक स्थिति में क्रिया अव्याख्यित रह जाती है तथा दूसरी में नित्य हो जाती है।

(२) अचेतन तथा सुनिर्धारित या सुनियोजित तथा सप्रयोजन गति में सक्षम नहीं है और चेतन तत्व ही केवल क्रिया को प्रारम्भ या समाप्त कर सकता है।

अब हमें सारांश में अद्वैतवादी स्थिति का अध्ययन और परीक्षण करना चाहिए। यह स्वीकार करते हुए कि अचेतना का कोई अस्तित्व नहीं है यह प्रश्न अपने आप हमारे समक्ष आ उपस्थित हो जाता है कि तब एकात्मक तथा विभेदरहित चेतना संसार के प्रपंच और विभेदों को किस प्रकार पैदा कर सकती है? अद्वैत द्वारा इसका उत्तर 'माया' की परिकल्पना से दिया गया

१. शांकरभाष्य २.२.७।

है। 'यह वह बना जो कि ज्ञान है तथा वह भी जो कि ज्ञान से शून्य है'।[१] किन्तु गति के तत्व की संगति सर्वव्यापी चेतना के सिद्धान्त से भी नहीं बैठाई जा सकती है। यदि 'प्रधान' प्रथम प्रेरणा के अभाव में मौलिक तथा आदि गति को प्रारम्भ नहीं कर सकता है, तो ठीक तादात्म्यक् कारण के कारण ही ब्रह्म भी उसे प्रारम्भ करने में उतना ही असमर्थ है क्योंकि वह पूर्ण सत्ता है। हम देख चुके हैं कि अचेतना के उद्भव या उत्पत्ति से सम्बन्धित प्रश्न का अद्वैतवादी उत्तर आत्मा के दो रूपों, अर्थात् एक निरपेक्ष रूप तथा दूसरा अविद्या द्वारा अध्यारोपित विभेदों को ग्रहण किये हुए व्यावहारिक रूप के विभेद पर आधारित है। अद्वैतवाद द्वारा आत्मा को उसके दूसरे रूप में, अर्थात् व्यावहारिक रूप में ही, सृष्टा माना गया है। किन्तु इसके विपरीत, बहुधा यह कहा गया है कि अविद्या की धारणा को स्थान देना वस्तुत: पीछे के द्वार से द्वैतवाद को ही प्रविष्ट करना है। अद्वैतवादी मान्यतानुसार ही कोई कारण प्रतीत नहीं होता है कि परम चेतना को किसी भी रूप में अवरुद्ध या किसी के भी द्वारा पराजित क्यों होना चाहिए। सांख्य में 'प्रधान' या 'प्रकृति' की धारणा से जो कुछ उपलब्ध करने का प्रयास किया जाता है, उसे यहाँ 'अविद्या' या 'माया' के कंधों पर डाल दिया गया है। शंकर यह तर्क करते हैं कि वेदान्तवादी की उच्चतम आत्मा, जोकि अपने अन्तरस्थ स्वरूप में अक्रिया तथा, साथ ही साथ, माया में निहित गति या क्रिया की शक्ति द्वारा भी लक्षित होती है, सांख्य से श्रेष्ठ है। ऐसी स्थिति में शंकर की मुक्ति की योक्तिकता का एकमात्र कारण बस यही प्रतीत होता है कि 'एक' 'दो' से श्रेष्ठ है, क्योंकि अक्रिया तथा क्रिया दोनों एक ही वस्तु में, उसे इन लक्षणों में से एक या दूसरे को छोड़ने को बाध्य किये बिना ही, किस भाँति उपस्थित हो सकती है। चेतना तथा अचेतना के मध्य एक जोड़नेवाली कड़ी की भाँति माया का सिद्धान्त, इस कारण, या तो पूर्णतावाद की एक सुविधामात्र है, या द्वैत-वादी परिकल्पना की असन्तोषजनक स्थिति के प्रति केवल एक निर्देशमात्र। अनेकबाद के प्रारम्भ या द्वैत की एकता की आधारभूत समस्या बिना हल हुए ही शेष रह जाती है। किन्तु ये आक्षेप अद्वैतवादी को अधिक चिंतित नहीं बनाते हैं क्योंकि उसकी मान्यता है कि अचेतना का रहस्य केवल उसी समय स्पष्ट होता है, जबकि हम ब्रह्म या पूर्ण से पूर्णरूपेण एक हो जाते हैं और उस समय तक केवल उसकी ही परिकल्पना शेष रह जाती है जो कि तार्किरूप से न्यूनतम असन्तोषजनक है।

---

१. तैत्तिरीय २. ६।

निष्कर्ष

चेतना और अचेतना के सम्बन्ध के सम्बन्ध में हम अद्वैत वेदान्त तथा सांख्य योग दृष्टिकोणों की विस्तार से परीक्षा कर चुके हैं। हमने अद्वैत वेदान्त तथा सांख्य-योग दृष्टिकोणों की इतने विस्तार से विशेषरूप से परीक्षा इसलिए की है क्योंकि ये दोनों दर्शन सम्प्रदाय चेतना के स्वतन्त्र तथा नित्य अस्तित्व में विश्वास करते हैं और उसे अकारण तथा असृष्ट मानते हैं। यह ध्यान में रखना महत्वपूर्ण है कि ये दोनों सम्प्रदाय, जहाँ तक चेतना तथा अचेतना के सम्बन्ध का प्रश्न सम्बन्धित है, अपनी सत्तामीमांसा में महत् विभेदों के बावजूद भी किस प्रकार से निम्न समान स्थितियों पर पहुँचते हैं।

अद्वैत वेदान्तानुसार, चेतना जो कि एकाकी ही अस्तित्व में है, सम्बन्ध की संज्ञि (जिसमें कि दो वस्तुओं का अस्तित्व अनिवार्यरूप से अपेक्षित और अन्तर्भावित होता है) के परे और अतीत है, क्योंकि परम चेतना की स्थिति में सम्बन्ध का दूसरा पद अनुपस्थित होता है। वह, इस कारण, स्वयं में असंग और असम्बन्धी तथा सर्व सम्बन्धों के आधार की भाँति अस्तित्व में होती है। चेतना तथा अचेतना का भेद भ्रांतिजन्य है और अचेतना हमारी दृष्टि की सीमाबद्धता या हमारे ज्ञान और विवेक के अभाव के कारण, केवल प्रतीत मात्र होती। यथार्थ में, वह है नहीं; उसका कोई वास्तविक अस्तित्व नहीं है जिसके साथ कि चेतना को सम्बन्धित किया जा सकता है। 'अविद्या' ही हमें अनुभव कराती है कि जैसे अचेतना का अस्तित्व है। यह 'अविद्या' एक विनाशयोग्य वस्तु है और उसी अनुपात में, जितना कि उसे विनष्ट कर दिया जाता है, अचेतना का प्रदेश भी विनष्ट हो जाता है। सांख्ययोग की द्वैतवादी स्थिति की ओर से भी लगभग यही कहा जा सकता है क्योंकि इस द्वैतात्मक तत्वमीमांसा में भी, यद्यपि अचेतना तत्व भी चेतना की तरह ही नित्य और स्वतन्त्र रूप से अस्तित्व में है, वस्तुतः चेतन पुरुष को पृथक् असम्बद्ध तथा अनासक्त केवली की भाँति ही प्रतिपादित किया गया है और उस समय तक जब तक की पुरुष अचेतन प्रकृति से वस्तुतः सम्बन्धित नहीं होता है, तब तक प्रकृति का अस्तितव मात्र किसी भी रूप से पुरुष के सत् स्वरूप को प्रभावित नहीं करता है। सांख्य-योगानुसार भी पुरुष तथा प्रकृति का सम्बन्ध पुरुष के सत्यतम लाभ के पक्ष में नहीं है तथा उससे उसे मुक्त होना है क्योंकि 'केवलत्व' प्राप्ति को पुरुष का लक्ष्य बताया जाता है। जड़ के प्रति आसक्ति, पुरुष के स्वयं अपने 'केवल' और 'असंग' स्वरूप के प्रति अविवेक या अज्ञान का परिणाम है तथा अविवेक के विनष्ट किये जाने पर, चेतनसिद्धान्त के अनासक्त केवलत्व का यथार्थ पुनः उसके पास वापिस लौट आता है।

हमारा निष्कर्ष, इस कारण, यह है कि प्रत्ययवादी अद्वैतवाद तथा द्वैतवादी दृष्टिकोण दोनों ही चेतना के 'स्वरूप' की 'केवल' और 'शुद्ध' होने की उसकी उभय धारणाओं में मिलते हैं तथा आगे भी उनका मिलन उनकी इस स्वीकृति में होता है कि चेतना की अचेतना के साथ भ्रांति तथा सम्बन्ध का कारण अविवेक के सिद्धांत में निहित है। उनका भेद केवल अविवेक के इस सिद्धान्त ('माया या प्रकृति) के चेतन सिद्धान्त में या उसके बाहर निहित होने की धारणा में ही सन्निहित है। अविद्या या अविवेक आत्मा या पुरुष के अन्तर्गत है या बहिर्गता इस सम्बन्ध में ही केवल उनकी धारणाओं में अन्तर पाया जा सकता है।

अद्वैत वेदान्त स्वीकार करता है कि अविवेक का सिद्धान्त 'ब्रह्म' के बाहर अस्तित्व में हो सकता है। इसके ठीक विपरीत, सांख्य योग की मान्यता है कि वह पुरुष से सम्बन्धित नहीं हो सकता है। यदि हम इस भेद की उपेक्षा करते हैं तो वे दोनों चेतना की आधारभूत सत्ता में, जो कि अचेतना से नितान्त असम्बद्ध है, सहमत है और दोनों ही इस दृष्टिविन्दु का अनुमोदन करते हैं कि परम चेतना अनुभवरहित और अनुभव-निरपेक्ष है। अनुभव की वस्तुत: कोई सत्ता ही नहीं है। आत्मा यद्यपि अनुभव के अन्तर्गत नहीं है तथापि अनुभव के अन्तर्गत प्रतीत होती है। अनुभव दार्शनिक विचार की सर्वश्रेष्ठ और अन्तिम धारणा जरूर है।

अनुभव का, अद्वैतवादी तथा द्वैतवादी दोनों ही के अनुसार, मुक्ति की परमावस्था में कोई अस्तित्व नहीं होता है। अद्वैतवादी के लिए, द्वैताभाव के कारण अनुभव का कोई अस्तित्व नहीं रह जाता, तथा द्वैतवादी के लिए एकता के अभाव के कारण उसकी कोई सत्ता नहीं होती है। अनुभव को सम्भव बनाने के हेतु उन दोनों को उनकी विपरीत-ध्रुवीय यथार्थताओं के लिए पूर्व प्रबन्ध करना होता है क्योंकि अनुभव द्वैतात्मक है और दो विपरीत-ध्रुवीय यथार्थ उसके अस्तित्व के लिए आवश्यक हैं। किंतु इन दोनों प्रणालियों को उसे खोना भी पड़ता है, क्योंकि परम सत् अध्रुवीय तथा अनिवार्य है द्विध्रुवत्व केवल व्यावहारिक अस्तित्व का ही लक्षण है। हिन्दु तत्वमीमांसा की बिशेषता व्यावहारिक यथार्थ के द्विध्रुवीय तथा तार्किक स्वभाव के विपरीत परम यथार्थ के इस अध्रुवीय, अनुभव-निरपेक्ष तथा तर्कातीत स्वभाव की ओर निर्देश में ही निहित है। किन्तु अनुभव-निरपेक्ष चेतना की समस्या की उलझन यह है कि यदि आत्मा का मौलिक सिद्धांत से वस्तुतः कोई सम्बन्ध नहीं है, तब यह कभी भी उससे सम्बद्ध नहीं हो सकती, और उस स्थिति में अनुभव अव्याख्यित ही शेष रह जाता है। इसकी दूसरी ओर, यदि आत्मा

वस्तुतः सम्बद्ध है, तब किसी भी अवस्था में इस संबंध को पृथक करना असंभव है। इस प्रकार हम अपने को मेढ़ा न्याय के सींगों में फँसा हुआ पाते हैं। या तो व्यावहारिक जगत् के अनुभव असंभव हैं, या फिर उनसे मुक्ति एक असंभावना है।

द्वैतवादी तत्वमीमांसक के समक्ष दो स्वतन्त्र और पृथक सिद्धांतों के संयोग की कठिनाई है, जबकि अद्वैतवादी के लिए एकता को उसके द्विध्रुवीय द्वैत में पृथक् तथा बिभाजित करने की कठिनाई है जिसके बिना कि अनुभव किसी भी प रूमें संभव नहीं हो सकता हैं। किसी भी स्थिति में, अर्थात् चेतन तथा अचेतन सिद्धांत की पूर्ण पृथकता में, या दोनों के पूर्ण तादात्म्य में, हम एक ही कठिनाई पर आते हैं और अद्वैत दर्शन की 'अविद्या' की धारणा या सांख्य की 'प्रधान' की धारणा, इस कठिनाई के हल के लिए इस प्रस्ताव के अतिरिक्त कदाचित् ही कुछ कर पाती है कि कठिनाई तार्किक रूप से हल योग्य नहीं है तथा हमारे मस्तिष्कों की सांतता तथा सीमितता का एक आवश्यक लक्षण है। 'जीव' की तरह ही रहकर जोकि हम हैं, आत्मा से अविद्या के संबंध के रहस्य को हल करने की आशा हम नहीं कर सकते हैं। क्योंकि इस संबंध को समझने के हेतु हमें दोनों के अतीत होना आवश्यक है।[१] उस क्षण ही जिस क्षण कि सत् विद्या का उदय होता हैं, समग्र शंकायें शांत हो जाती हैं।

बौद्धिक स्तर पर समस्या को स्पष्टरूप से हल योग्य नहीं समझा जा सकता है। तर्क हमें परम् सत्ता की हमारी खोज में उसके अन्त तक कभी नहीं ले जा सकता है क्योंकि वह अनिवार्यतः विभेद और विपरीतताओं के सृजन के द्वारा ही क्रियाशील होता है। इस कारण पूर्व के बुद्धि-अतीतवादी प्रज्ञा या अन्तर्साक्षी में अपना विश्वास प्रगट करते हैं जिसे कि 'दिव्य दृष्टि' या 'सम्यक् दर्शन' भी कहा जाता है, जोकि बुद्धि का ही उच्चतर संगठन है और जिसमें ही कि ब्रह्म' या 'पूर्ण' अपनी समग्रता में पवित्र हृदयों के समक्ष प्रगट होता है।

● ●

---

१. भगवत्गीता. शांकरभाष्य १३.२। आनंद आश्रम सीरीज, भाग ३४।

अष्टम अध्याय

उपसंहार

एक सारांश

हिन्दू दार्शनिकों के अनुसार 'चेतना' के स्वरूप की अपनी गवेषणा के अन्त पर हम आ गये हैं। पाश्चात्य दर्शन में इसी प्रकारकी विचारधाराओं के विभेद में हमारी निष्पत्तियों के झुकाव के कुछ विशेष लक्षणों को निर्दिष्ट करना ही केवल अब शेष रह गया है। किन्तु इसके पूर्व कि हम इस कार्य में संलग्न हों, उन प्रमुख समस्याओं के प्रति सारांश में अपनी स्मृति को पुनः ताजा करना अत्यन्त आवश्यक है, जिसके चारों ओर कि हिन्दू दर्शन में चेतना के स्वरूप के संबंध में पैदा हुए महत्वपूर्ण भेद सदैव केन्द्रित हुए हैं।

चेतना के सम्बन्ध में प्रथम प्रमुख समस्या उसके अस्तित्व की स्वतंत्रता की रही है। अद्वैत वेदांत तथा द्वैतवादी सांख्य, दोनों ने ही उपनिषदों से अपनी प्रेरणा ग्रहण करके चेतना के निरपेक्ष सिद्धांत के स्वतंत्र, अकारण, तथा नित्य अस्तित्व को समान रूप से घोषित किया है। यह चेतना, दोनों ही दर्शन प्रणालियों में अन्तरस्थ स्वरूप से चेतन तथा शुद्ध चिन्मात्र की भाँति अस्तित्व में प्रतिपादित की गई है। गौतम और कणाद के समान दार्शनिकों से लेकर बाद के जयन्त और श्रीधर तक के न्याय-वैशेषिक यथार्थवादियों ने 'लौकिक व्यवहार' में चेतन सिद्धांत को आंतरिक और बाह्य इन्द्रियों की स्थितियों के अभाव या अनुपस्थिति में स्वतंत्ररूप से क्रियाशील न देखकर यह घोषित किया कि परिस्थितियों के संयोग मात्र से उत्पन्न होने के अर्थ में चेतना का अस्तित्व सापेक्ष और परतंत्र है। इस प्रकार प्रत्ययवादी के लिए जो पूर्व से ही अस्तित्ववान चेतना की लौकिक अभिव्यक्ति की एक स्थिति मात्र थी, उसे ही न्याय-वैशेषिक यथार्थवादी द्वारा उसकी (चेतना की) उत्पत्ति के मूल कारण की तरह ग्रहण कर लिया गया। प्रत्ययवादी के लिए यह सुस्पष्ट था कि कुछ सत्य उस समय भी स्वाधिकार से अस्तित्व में होते हैं जबकि योग्य परिस्थितियों के अभाव के कारण उनकी अभिव्यक्ति नहीं हो रही होती है। उदाहरणार्थ, ध्वनियाँ उस समय भी अस्तित्व में मानी जाती हैं जबकि वे श्रवण के प्रदेश विशेष में या श्रवणेन्द्रियों के संसर्ग में नहीं होती

है। प्रसर का प्रदेश विशेष या श्रवण उपकरण से संसर्ग ध्वनि की सृष्टि और उत्पत्ति नहीं करता, किन्तु केवल उसे अभिव्यक्त मात्र करता है जोकि इन ग्राहक स्थितियों के पूर्व भी अस्तित्व में थी।

इसी प्रकार, चेतना भी, जो कि अपनी अभिव्यक्ति की उपाधियों के पूर्व ही ज्ञान की सम्भावना के एक स्वतः सिद्ध (प्रमाण) के रूप में विद्यमान रहती है, वह केवल ज्ञान ही हो सकती है, उपाधियों के द्वारा उत्पादित नहीं। इस सिद्धान्त पर प्रत्ययवादी आग्रह करते हैं कि, यदि चेतना स्वतन्त्र रूप से विद्यमान रही होगी तो, वह अवश्य बिना शरीर तथा इन्द्रियों के सहारे के ही चेतना के स्वतन्त्र अस्तित्व के बारे में इस विमर्श में प्रगाढ़ निद्रावस्था में अचेतनता (यथार्थ या प्रतीयमान) की घटना एक मुख्य स्थान रखती है। क्योंकि उसी अवस्था में चेतनतत्त्व न्यूनतः शरीर-एवं इन्द्रिय-रूप उपाधियों को छोड़कर विद्यमान रहता है ऐसा माना जाता है।

चेतना के स्वातन्त्र्य तथा उसके साथ ज्ञाता के सम्बन्ध निर्णय में, किसी वस्तु के गुण और स्वारूप्य के बीच में कल्पित भेद विशेष महत्त्व रखता है। यह प्रश्न पूछा जाता है--'चेतनतत्त्व और चेतना के, अर्थात् 'आत्मा' और उसके 'ज्ञान' के, 'संवित्' और उसकी 'अनुभूति' के अथवा योगशास्त्रीय पारिभाषिक शब्दों से कहा जा सकता है, 'पुरुष' और 'दृशिशक्ति' के बीच में क्या सम्बन्ध है।

प्रभाकर और रामानुज के द्वारा समर्थित हो न्यायवैशेषिक यथार्थवादी घोषणा करते हैं कि चेतना आत्मा का धर्ममात्र है, उसका समवेत स्वरूप नहीं, जबकि शाङ्करवेदान्त और सांख्ययोग 'आत्मा' और 'चित्', तथा 'पुरुष' और 'दृश्' या उसकी क्रिया के बीच तादात्म्य सम्बन्ध के निरूपण के लिए विशेष आग्रहशील होते हैं। इस तादात्म्य के बिना चेतनतत्त्व वस्तुतः अचेतन ही बन जाता है। यदि 'चैतन्यता' आत्मा का एक गुणमात्र ही होता तो केवल अचेतन या जड़ का ही स्वतन्त्र अस्तित्व रहता है, और चैतन्य का आविर्भाव सविराम एवं केवल संयोग से अर्थात् आगन्तुक के रूप से होता क्योंकि स्वरूप ही अविनाशी होता है, गुण नहीं।

चेतनतत्त्व अर्थात् आत्मा से चेतना की अविच्छिन्नता के इस सिद्धान्त से ही हिन्दू प्रत्ययवादी वर्ग पाश्चात्त्य प्रत्ययवादियों से सुषुप्ति में अचेतना की समस्या के विचार में अधिक सफल सिद्ध हुए।

हिन्दू दार्शनिकों के चेतना सम्बन्धी विचार में दूसरा महत्त्वपूर्ण सवाल है कि चेतना का प्रकाश शास्त्रीय स्वतः प्रकाशत्त्व। ज्ञानावस्था अपने साथ अपने

ज्ञेयत्व का भी ग्रहण करती हैं। चेतना स्वयं ऐसा प्रकाश स्वरूप है जो अपने को तथा शेष जगत् को प्रकाशित करती है। स्वप्रकाशकत्व की शक्ति चेतना को प्रकाशित करने के लिए और कोई एक चेतना की आवश्यकता होती तो ज्ञान का प्रारम्भ ही न हो पाता और जैसा कहा जाता है—सारा संसार अज्ञान के अँधेरे में डूबा रहता।

'अनुव्यवसाय' या ज्ञान के अनुक्रमी ज्ञान द्वारा ज्ञान का सिद्धांत तक अन्तिम ज्ञान के स्वज्ञेयत्व को उपस्थित करता है। चेतना के स्वतः प्रकाशत्व की यह धारणा चेतना की अपरोक्षानुभूति या 'अपरोक्षत्व' तथा उसकी अद्वितीयता या 'अन्यत्व' की एक महत्वपूर्ण धारणा के लिए अत्यन्त सहायक सिद्ध होती है। हिन्दू दर्शन के इतिहास में मीमांसादर्शन में ज्ञानों के स्वतः प्रकाशत्व की परिकल्पना को विशेषरूप से प्रतिपादित किया गया है। पाश्चात्य दर्शन के दृष्टिबिन्दु से हमारी विवेचना का यह भाग तुलनात्मक रूप से नवीन है। पाश्चात्य दर्शन में, चेतना जहाँ तक संपूर्ण प्रत्यक्ष की परम आप्तता हैं, हम प्रत्ययवादी द्वारा उसे अद्वितीयता तो प्रदान करते हुए पाते हैं, किन्तु चेतना के प्रति यह दृष्टिकोण वहाँ हमें प्राप्त नहीं होता कि वह एक साथ ही स्वप्रकाशी तथा विश्व में सर्वप्रकाशी की स्रोत है, जिसके अभाव में कि संपूर्ण जगत या तो अचेतना के 'आवेष्ठन में डूब जायगा या फिर प्रत्यक्षों की अनवस्था से मुक्त ही नहीं हो सकेगा।

यदि चेतना स्वप्रकाशी न होती तो उपरोक्त प्रत्यक्ष की कोई संभावना नहीं हो सकती थी, और संपूर्ण ज्ञान सदैव के लिए ही इस अर्थ में परोक्ष होने के लिए अभिशप्त हो जाता कि उसे स्वज्ञान के लिए सदा ही अन्य उपकरणों पर निर्भर होना पड़ता जिससे कि निरपेक्ष या पूर्ण ज्ञान की संभावना का सदैव के लिए निषेध हो जाता। चेतना की स्वतः प्रकाशी तथा समग्र प्रकाश के स्रोत होने की धारणा पूर्वीय प्रत्ययवाद में चेतना के प्रत्यय से एक पग आगे जाती है।

चेतना के स्वरूप में, इसके बाद का महत्वपूर्ण और सम्भवतः सर्वाधिक महत्वपूर्ण बिन्दु है उसका अनुभवातीत तथा व्यावहारिक अस्तित्वों का द्विपक्षीय रूप। उस समय भी जबकि यह स्वीकृत किया जाता है कि चेतना का स्वतंत्र तथा शाश्वत अस्तित्व है, यह प्रश्न शेष रह जाता है कि उसका स्वरूप क्या ठीक वैसा ही है जैसा कि हमारी अन्तर्विचारात्मक चेतना में प्रगट होता है, या कि वह 'लौकिक दृष्टि' में जैसी प्रतीत होती है, उससे किसी रूप में भिन्न और पृथक् है। चेतना अन्तर्विचार में, परिवर्तन की एक स्थिति के

बाद दूसरी के शीघ्र अनुगमन का एक गत्यात्मक सिद्धांत प्रतीत होती है, तथापि वह व्यक्तित्व और अहंप्रत्यय के स्वसमान सिद्धान्त से आश्चर्यजनकरूप से बद्ध तथा सीमित भी प्रतीत होती है, जो उसकी सर्वस्थितियों को अपना ही स्वत्व मानता है। चेतना के परिवर्तनशील तथा अपरिवर्तनशील पहलू एक रहस्यात्मक सहयोग में अस्तित्व में रहते हैं। इसलिए, प्रश्न यह है कि चेतना का सत्यतम स्वरूप दोनों में से कौन सा है ?

इस स्थल पर हिन्दू दर्शन एक विशिष्ट दृष्टिकोण ग्रहण करता है। वह घोषित करता है कि वह सत्य, जो कि अनुभव का आधार है, न तो परिवर्तनशील है और न अपरिवर्तनशील ही। यह सत्य या यथार्थ परिवर्तनशील और अपरिवर्तनशील चेतना दोनों का ही सम्मिलन है जोकि अनुभव की आधारशिला है और जिसके अन्तर्गत ही कि विषयी तथा विषय, द्रष्टा तथा दृश्य, अनुभवकर्त्ता तथा अनुभूत, और भोक्ता भोग्यके भेद किये जा सकते हैं। अपरिवर्तनशील चेतना, जो कि अक्रिय 'चित् सत्ता' की भाँति अस्तित्व में होती है, चेतना की परिवर्तनशील स्थितियों तथा अहंता और व्यक्तित्व की भावना की समानरूप से पूर्वकल्पना है।

यह परिवर्तनशील चेतना अपने अनुभव-निरपेक्ष पहलू में, अपने परिवर्तनशील विपरीत पक्ष से बिलकुल सम्बद्ध नहीं होती और कूटस्थ, असंग तथा केवल की भाँति उसी प्रकार अस्तित्व में बनी रहती है जिस प्रकार कि दीपक मंच को पूर्व प्रकार से ही उस समय तक भी प्रकाशित करता रहता है जबकि सम्पूर्ण पात्र जा चुके होते हैं। यह अपरिवर्तनशील चेतना अक्रिय तथा नित्य रूप से स्वसमान होती है क्योंकि क्रिया में अनित्यता तथा परिमितता की धारणायें अन्तर्निहित हैं, जिसे तक अनुभव की उस स्थिति में ही पाया जा सकता है जहाँ कि एक विषय दूसरे विषय से विपरीतता के सम्बन्ध में अवस्थित होता है। इस कारण, योगदर्शन के पारिभाषिक शब्दों में जो निरपेक्ष आत्मा 'केवल' है क्योंकि वह अपने 'जन्म' से पूर्णतया पृथक् है, वही अद्वैत पारिभाषिक शब्दावली में 'विशुद्ध ज्ञस्वरूप' या 'ज्ञातिमात्र' या 'शक्ति' है। उसे 'शक्ति' कहा गया है क्योंकि वह वह है जो सदैव अरूपांतरित 'अविक्रिया' है। वह सदैव केवल अपनी ही 'साक्षी' है क्योंकि 'सर्व' में अपने को ही देख चुकने पर कुछ भी 'अन्य' उसे देखने के लिए अवशिष्ट नहीं रह जाता।

यह अनुभवातीत या पारमार्थिक चेतना, इस कारण, अद्वैत वेदांत तथा द्वैतवादी सांख्ययोग दोनों में, व्यक्तित्व और अनुभव के भाव से मुक्त है।

इस अपरिवर्तनशील, अगतिमय, तथा अक्रिय चेतना में 'सर्व' वैपरीत्य को पार कर लिया जाता है, अर्थात् सर्वअन्यत्व समाप्त हो जाता है, तथा समग्र अनुक्रम एक क्रमहीन चेतना में विलीन हो जाता है।[१] अद्वैतवेदान्त का यह 'कूटस्थ साक्षी' तथा योग का 'केवली' पाश्चात्य दार्शनिकों की अनुभवातीत चेतना से भिन्न है, जिनके अनुसार कि 'पूर्ण' की धारणा विभिन्नता में तादात्म्य, अनेकता में एकता, या स्वर-वैषम्य में स्वर-साम्य की भाँति की गई है और जो कि अनुभव का एक उच्चतर प्रकार मात्र है। पाश्चात्य प्रत्ययवाद में निरपेक्ष तथा सापेक्ष एक प्रकार से दोनों ही एक दूसरे पर परस्पराश्रित हैं। जबकि सापेक्ष तथा ससीम निरपेक्ष तथा असीम की अपेक्षा करता है तब उत्तरोत्तर भी उसी मात्रा में पूर्वगामी की अपेक्षा करता है। निरपेक्ष ब्रह्म सापेक्ष जगत् के बिना उतना ही अबुद्धिगम्य है, जितना कि सापेक्ष जगत् निरपेक्ष ब्रह्म के अभाव में है। किन्तु हिन्दू प्रत्ययवाद में स्थिति ऐसी नहीं है, जहाँ कि पूर्ण पूर्णतया पूर्ण है, जिसमें कि, जबकि जगत् तो उसके बिना अस्तित्व में नहीं हो सकता है, तब वह जगत के बिना भी अस्तित्व में हो सकता है क्योंकि वह अपने स्वाधिकार से सत्तावान है।

हिन्दुओं की अनुभव निरपेक्ष चेतना, जो कि 'केवली' और 'असंग' है और जो कि विशुद्ध तथा स्वतादात्म्यक् रूप से ही सदा अस्तित्व में होती है, किसी अन्य वस्तु से तादात्म्यक् या अतादात्म्यक् किसी प्रकार के सम्बन्ध में नहीं हो सकती है, क्योंकि (वेदान्तानुसार) या तो उसके अतिरिक्त कुछ भी अस्तित्व में नहीं है, या (योगानुसार) 'अन्य' से उसका पूर्ण विलगाव हो गया है।

चेतना की अक्रिय, पृथक् अवस्थित मात्र साक्षी, तथा 'केवल' की तरह की यह धारणा, जिसे कि अनुभव की भाषा में किंचित् भी नहीं जाना जा सकता है, एक ऐसा सैद्धान्तीकरण प्रतीत होती है जिसे कि सम्बन्धित धारणा पर बुद्धिगम्य पकड़ को खोये बिना न्यायोचित ठहराना कठिन है। किन्तु इस सम्बन्ध में हमारी सामान्य कठिनाई पाश्चात्य दृष्टिकोण से उसकी ओर देखने के कारण है। पाश्चात्य दर्शन में अनुभव अन्तिम शब्द है तथा स्वचेतना पाश्चात्य निरपेक्षवाद में श्रेष्ठतम धारणा है। बुद्धि के दृष्टिबिन्दु से प्रारम्भ करके, जो कि विषयी और विषय के विभेदों में ही केवल सत्यों को ग्रहण करती है, अनुभव जगत् की अन्तिमता तथा चेतना के श्रेष्ठतम रूप की तरह

१. राधाकृष्णन् : इण्डियन फिलासफी : भाग १, पृष्ठ ५३८।

स्वचेतना की निष्पत्तियाँ अनिवार्य हैं। किन्तु अनुभव हिन्दू दार्शनिकों के साथ निश्चय ही अन्तिम शब्द नहीं है क्योंकि उनके अनसार अनुभव की जड़ें विषयी और विषय, उपभोक्ता तथा उपभोगित के द्वन्द्व में निहित हैं और इसलिए अनुभव की धारणा स्वयं परम धारणा नहीं हो सकती क्योंकि वह स्वयं की व्याख्या करने में असयर्थ है।

ज्ञान, भावना और क्रिया के व्यावहारिक अनुभवों तथा अहं-प्रत्यय की चेतना के तल से 'आत्म स्वरूप' का तल अधिक गहरा है, जो कि अनुभव की अस्थिरताओं, चाहे वे अपने आप में कितनी ही श्रेष्ठ क्यों न हों, और स्ववेतना, चाहे वह कितनी ही उत्कट क्यों न हो, दोनों से पूर्णतया शून्य है। कलात्मक तथा धार्मिक चेतना भी, चाहे वह कितनी ही तीव्र क्यों न हो, योग की 'केवल' अवस्था या अद्वैत वेदान्त की 'ब्रह्म ज्ञान' अवस्था से तादात्म्यक् नहीं हो सकती है, क्योंकि इस प्रकार की चेतनायें अभी भी 'अनुभव' के एक प्रकार के प्रदेश के अन्तर्गत ही आती हैं। इसी प्रकार, 'ईश्वर' भी हिन्दू दर्शन में 'अनुभव' के अन्तर्गत ही आता है, यद्यपि वह अनुभव मानवीय नहीं दिव्य है। सृजन तथा विनाश की ईश्वर पर आरोपित क्रियाएँ, अन्ततः अनुभव के तल पर ही है, और अस्तित्व के व्यावहारिक स्वरूप से बहुत दूर नहीं हो सकती हैं। किन्तु 'ब्रह्म' या 'केवली' दिव्यानुभव के भी पार, ऊपर और अतीत है। इसलिए ही 'ईश्वर का तादात्म्यीकरण 'पुरुष' से नहीं, 'प्रकृति' से ही किया गया है'।[१]

एकाकी, केवल, और अक्रिय चेतना की अरूपान्तरित तथा अरूपान्तर योग्य धारणा भारतीय दर्शन के अनेक पाठकों को उलझन में डाल देती है, और वे पूछते हैं कि व्यावहारिक अनुभव की विविधता तथा गतिमयता का प्रादुर्भाव एकात्मक तथा अक्रिय चेतना से कैसे हो सकता है? या किसी भी मूल्य पर, अपरिवर्तनशील तथा साक्षी चेतना परिवर्तनशील अवस्थाओं से अपने आपको सम्बद्ध करके भी अपने अनुभव-निरपेक्ष स्वरूप को अवशिष्ट कैसे रख सकती है? इस प्रश्न का उत्तर यह है कि हम नहीं जानते हैं कि 'संसार' का जगत् अगतिमय तथा अक्रिय ब्रह्म पर ठीक प्रकार से किस भाँति आधारित है, नहीं ठीक रूप से हम 'ऐक्य' के उस बन्धन को ही जानते हैं जो कि अमर्त्य तथा अक्रिय साक्षी चेतना तथा चेतना के प्रवाहमय परिवर्तनों को एक साथ बाँध कर रखता है। हम केवल हतना ही जानते हैं और सुनिश्चितरूप से जानते हैं कि अपरिवर्तनशील ब्रह्म के अभाव में 'संसार' की कोई सत्ता या

१. बी हेमन: ठमर्स इन स्टेटु नस्सेंडी इन भगवद्गीता।

स्थिति नहीं हो सकती है।[१] इस धारणा में हम एक ऐसे सिद्धान्त का स्पर्श करते हैं जिसे कि बुद्धि के तल पर हल योग्य नहीं समझा जाता है और बौद्धिक रूप से हम केवल यही समझ सकते हैं कि अनुभवातीत चेतना अपने 'संसार प्रपंच' के समग्र परिवर्तनमय नामरूपों की मूलाधार तथा पूर्वकल्पना है। संसार अस्तित्व में नहीं रहेगा यदि पूर्ण चेतना के आधार की उसकी पृष्टभूमि को अलग या पूर्णतया स्थानान्तरित कर लिया जाय, किन्तु अनुभवातीत चेतना के सम्बन्ध में स्थिति ऐसी नहीं है, जो कि उस समय भी सतत रूप से अस्तित्व में बनी रहती है जब कि व्यावहारिक जीवन की सम्पूर्ण स्थितियाँ विलीन और अदृश्य हो जाती हैं।

अनुभव-निरपेक्ष चेतना का यह स्वभाव तर्क और बुद्धि के द्वारा अनुभूत नहीं हो सकता है, क्योंकि वस्तुत: वह कोई धारणा नहीं है, बल्कि, बुद्धि-अतीत अस्तित्व की यथार्थता है। वह सदैव ही हमारी सीमित विचारणा के पार चली जाती है। किन्तु इस कारण वह एक सैद्धान्तीकरण मात्र ही नहीं है क्योंकि वह अनुभवगम्य है। हिन्दू दर्शन के अनुसार बौद्धिक अनुभव भी अनुभव का एकमात्र रूप नहीं है। हमारी विचारणा की सीमा हमारे अनुभव की सीमा नहीं है, वह केवल अनुभव के एक रूप की सीमा ही है। परम सत् की हमारी गवेषणा में तर्क हमें अन्त तक नहीं ले जा सकता है, क्योंकि तर्क केवल उस सीमा तक ही कार्य करता है जहाँ तक कि उद्देश्य और विधेय के विभेद शेष रहते हैं जिसके पार कि अविभेदी अनुभवातीत चेतना का जगत् है जिसकी कि हमें 'अन्य' के किसी बोध के बिना ही केवल बुद्धि-अतीत अपरोक्षानुभूति होती है।

अनुभवातीत चेतना के स्वरूप तथा अनुभवातीत और अनुभवाश्रित चेतना के सम्बन्ध की हमारी समग्र चर्चा में उठाई गई समस्याओं के संतोषजनक हल के प्रति तर्क तथा विवेचनात्मक बुद्धि की अयोग्यता के सन्दर्भ पर अवश्य ही ध्यान दिया गया होगा किन्तु उसे समस्या से बच जाने के हेतु तार्किक की तरकीब या चाल की भाँति प्रयुक्त नहीं किया गया है। हिन्दू दर्शन, जिसे कि तार्किक सूक्ष्मताओं की महीन उलझनों में पड़ने का इतना चाव है, तर्क के प्रति अपर्याप्त आदर का दोषी नहीं हो सकता है। और इसलिए हमारी बुद्धि की परिमितता तथा तर्क की सीमाओं के सन्दर्भ, जो कि परम समस्याओं की अति दुरूह गाँठ को बहुत ही सरलता से काटते हुए प्रतीत होते हैं, वस्तुत: केवल तर्क से अधिक पूर्णतर तथा अपरोक्ष दृष्टि सम्यक् दर्शन के एक प्रकार

१. इण्डियन फिलासेफी भाग १, पृष्ठ ५३८।

की योग्यता में, गहरी श्रद्धा पर आधारित हैं, जिसके द्वारा ही कि केवल परम शंकाओं का समाधान सम्भव है। तर्क तथा बुद्धि का क्षेत्र मनुष्य के सम्पूर्ण अस्तित्व को नहीं घेरती है, वह उसके अस्तित्व का एक अंश मात्र ही है। इस स्थल पर पुनः, हिन्दू प्रत्ययवादी रुख और दृष्टिकोण पाश्चात्य प्रत्ययवादी विचारधारा से स्पष्टरूपेण भिन्न पड़ता है।

पूर्ण चेतना की उपलब्धि हेतु, तर्क तथा सैद्धान्तिक विचारणों को पाश्चात्य दर्शन में एक स्वतन्त्र स्थिति प्राप्त है जो कि हिन्दू विचार में उसे प्रदान नहीं की गई है। किसी अवस्था पर आकर विचार को जीवन के लिए स्थान खाली करना ही पड़ता हैं। तार्किक चेतना, चेतना की समग्रता नहीं है। और जिस तरह कि पशु की केवल सम्वेदनीयता उसे मानव प्राणी की विचारात्मक स्वचेतना से पुथक् करती है, ठीक उसी प्रकार मानव की केवल मात्र तार्किक चेतना उसे ऋषियों के 'दर्शन' से पृथक् करती हैं।

भारतीय दर्शन, इस कारण, अपने को मात्र विश्लेषणात्मक तर्क पर ही आधारित नहीं करता है, बल्कि भावना की अन्तरस्थ समग्रता को ही अपना आधार बनाता है। तार्किक चेतना के पार और अतीत भी कुछ है, जिसको कि 'अपरोक्षानुभूति', दिव्यज्ञान, ब्रह्म-चेतना या ईश्वर साक्षात्कार के किसी भी नाम से पुकारा जा सकता है। यह हो सकता है कि हम इस अपरोक्षा-नुभूति को ठीक रूप से अभिव्यक्त न भी कर पायें, किन्तु इतना हम निश्चय ही जानते हैं कि उसका क्षेत्र और उसकी अनुभूति पवित्रता के प्रकाश से भरी हुई होती है। यह अपरोक्षानुभूति सत्य के परम यथार्थ को पकड़ पाने के लिए तर्क से कहीं अधिक श्रेष्ठतर साधन है। इस स्थल पर यह पूछा जा सकता है कि तब क्या बौद्धिक दर्शन भारत में रहस्यानुभूति में विलीन हो जाता है और तर्क केवल एक निष्फल खोज ही रह जाती है? इस तरह के प्रश्नों में अभी हम विस्तार से नहीं जा सकते हैं किन्तु इतना निश्चय रूप से ही कहा जा सकता है कि हिन्दुओं के लिए छिपे हुए सत्य की खोज में शुद्ध बौद्धिकता सामान्यतः अन्तिम और सर्वाधिक सफल साधन नहीं है।

जीवन की समग्रता को 'पूर्ण' के बौद्धिक ज्ञान और आध्यात्मिक अनुभूति के ऐसे दो प्रकोष्ठों में नहीं बाँटा जा सकता है ताकि यह कहा जा सके कि जब कि बुद्धि जीवन की परम समस्याओं को समझने की कोशिश करती है तब नैतिक और आध्यात्मिक चेतना को स्वयं अपने में और अपने लिए ही छोड़ दिया गया है। इसके विपरीत, यह हो सकता है कि बौद्धिक खोजी भी नैतिक और आध्यात्मिक 'साधना' के द्वारा ही परम सत्य के साक्षात् की आशा कर सकता है। यह सत्य है कि परम सत्य की बौद्धिक पकड़ या ज्ञान सम्भव

है किन्तु वह पर्याप्त नहीं है। वह साधना या आध्यात्मिक अनुभूति की श्रेष्ठतर अवस्था के लिए एक सीढ़ी मात्र है जिसमें ही कि परम सत्य पूर्ण रूप से प्रगट होता है। पूर्ण सत्य या ब्रह्म की अनुभूति हमें उस समय तक उपलब्ध नहीं हो सकती है जब तक कि हमने अपने प्राण, मन और आत्म-जीवन की पूर्ण कस्वरता की अवस्था को प्राप्त नहीं कर लिया है, तथा सतत साधना और ध्यान से अपने आपको अनुभव-निरपेक्ष सत्य के ग्रहण योग्य पवित्र नहीं बना लिया है।

'उपासना' पर उपनिषदों द्वारा दिये गये जोर का कारण यही हैं। उपासना ही हमें 'सहयोग की कार्यकारिता में तार्किक जादुई आस्था की भाँति उस उचित स्थिति में रख सकती है जहाँ कि हम परम सत्य की अभिव्यक्ति को ग्रहण कर सकने में समर्थ हो सकते हैं। उससे हमारी भावना परिष्कृत होती है तथा ग्रहणशीलता विस्तृत और श्रेष्ठतर बनती है जिसके कारण कि वह पूर्ण चेतना के दर्शन को पकड़ पा सकने में समर्थ और योग्य हो जाती है जो कि उस सीमा तक एक अद्वितीय अनुभव है जहाँ तक कि उसमें ज्ञान और मानसिक अस्थिरताओं के ध्रुवत्व से चेतना की मुक्ति निहित है।

किन्तु इस धारणा के कारण कि सत्य की अनुभूति साधना से होती है, यह अनुसरित कदापि नहीं होता है कि तत्सम्बन्ध में किये सर्व-सैद्धान्तिक प्रयास व्यर्थ ही होते हैं। बल्कि, इसके ठीक विपरीत, हिन्दू चिन्तन यह सदैव ही घोषित किया है कि जीवन की बौद्धिक तथा नैतिक अवस्थाएँ उस श्रेष्ठतम आध्यात्मिक अनुभव के आन्तरिक और अविछिन्नयोग्य अंग हैं जिसमें कि आत्मा के सत्य स्वरूप की अपरोक्षानुभूति प्रगट होती है। आध्यात्मिक अनुभूति को उस विषयवस्तु विहीन शून्य में अनुभव नहीं किया जा सकता है जहाँ कि बौद्धिक और नैतिक चेतना दोनों का अभाव है। तार्किक बुद्धिवाद की सीमाओं के सम्बन्ध में अनेक बार पुनरूक्ति के बाद भी हिन्दू विचार उसके सापेक्ष मूल्य के प्रति पूर्णरूप से सन्देहवादी कभी नहीं रहा है।

हिन्दू मुनियों ने घोषित किया है कि चेतना की समस्या मानव जीवन की दुरूहतम समस्याओं में से एक है, जिसका रहस्य कि 'गहरी गुहाओं' में छिपा हुआ हैं। यह एक ऐसी उलझन भरी ग्रन्थि है कि उसे बड़े अतथक प्रयास से ही खोला जा सकता है और इस पथ के राही का मार्ग तलवार की धार पर चलनेवाले से भी अधिक कठिन है। इसी कारण कहा गया है कि इस सत्य को हजारों श्रोताओं में से कुछ हो समझ पाते हैं और कुछ, जो समझ पाते हैं, उनमें से भी एक या दो ही उसकी प्राप्ति के अन्त तक पहुँचने में समर्थ होते

हैं । इस कारण ऋषियों ने तार्किक या बौद्धिक ज्ञान के साथ ही साथ आध्यात्मिक अन्तरदृष्टि पर भी जोर दिया है। यह सत्य है कि विवेचनात्मक परीक्षण ज्ञान की द्वितीय अवस्था है किन्तु यह भी सत्य है कि वह भी पूर्ण की श्रेष्ठतर अनुभूति या साक्षात के लिए एक प्राथमिक अवस्था मात्र ही है।

हिन्दू चिन्तन की एक दूसरी महत्वपूर्ण विशेषता यह रही है कि उसने पाश्चात्य दर्शन द्वारा प्रस्तावित और सामान्यत: स्वीकृत मानसिक या मनोवैज्ञानिक यथार्थ को वस्तुतः पोद्गालिक ही माना और घोषित किया है। पाश्चात्य दर्शन में पदार्थ और 'मन' के बीच सामान्यत: एक द्वैत को स्वीकार किया गया है जिन्हें कि गुणात्मक रूप से दो भिन्न स्तरों से सम्बद्ध माना जाता है। मनुष्य में उसके शरीर और इन्द्रियों को पोद्गालिक माना जाता है किंतु उसके मन, अहंता, संवेदन, विचार और भावना के मनोशास्त्रीय समूह को शरीर और इन्द्रियों के पोद्गालिक या पार्थिव अस्तित्व से नितांत भिन्न निरूपित किया गया है। पाश्चात्य दर्शन में स्वीकृत इस द्वैतवाद को ही बहुधा इन प्रश्नोत्तरों में व्यक्त किया जाता है : पूछा गया है कि 'मन क्या है ? तो उत्तर दिया गया है कि 'वह जो पदार्थ कभी नहीं है; और यदि पूछा गया है कि पदार्थ क्या है ? तो उत्तर हुआ है 'वह जो मन कभी नहीं है।' इस द्वैतवाद की व्याख्या के लिए पदार्थवाद, आध्यात्मवाद तथा मन और पदार्थ के मध्य अन्तर्क्रिया तथा समानांतरवाद द्वारा प्रस्तुत अनेक परिकल्पनाओं द्वारा प्रयास किया जाता रहा है। किन्तु यह अत्यन्त आश्चर्यजनक है कि हिन्दू दर्शन में सामान्यतः मन और पदार्थ के मध्य इस प्रकार का कोई द्वैत या भेद कभी भी प्रस्तावित या स्वीकृत नहीं किया गया है।

इसका कारण यह है कि हिन्दू दृष्टि के अनुसार भौतिक और मानसिक अस्तित्व दोनों एक ही पोद्गालिक आधार पर आधारित हैं तथा एक ही परम यथार्थ; 'प्रधान' या 'प्रकृति' के दो भेदरूप मात्र हैं। इस कारण एक व्यावहारिक अस्तित्व का दूसरे व्यावहारिक अस्तित्व से या एक रूपभेद का दूसरे रूपभेद से कोई भेंद नहीं किया जाता है। भौतिक अस्तित्व और मानसिक अस्तित्व के मध्य 'सूक्षमता' के परिमाणानुसार जरूर भेद किया जाता है किंतु वह भेद एक ही प्रकार के अस्तित्व के बीच गुण का नहीं केवल मात्रा का भेद मात्र ही है। किन्तु जबकि एक व्यावहारिक सत्ता और दूसरी के मध्य, जोकि केवल भिन्न मात्र है, तथा जिनका मूल स्रोत एक ही है, कोई विभेद नहीं किया जाता है, तब व्यावहारिक जगत और पारमार्थिक जगत के

मध्य जरूर ही भेद किया गया है जो कि केवल भिन्न ही नहीं है, बल्कि एक दूसरे से पूर्णरूपेण पृथक और अन्य है और जिनका कि कोई उभय उद्गम या एक ही मूल स्रोत नहीं है।

उदाहरणार्थ, हम सांख्ययोग दर्शन को लेते हैं। इस दर्शन प्रणाली में, 'मनस्', 'बुद्धि' या 'अहंकार' को, जोकि पारमार्थिक पुरुष (शुद्ध चित शक्ति) तथा स्थूल शरीर (शुद्ध पदार्थ) के दो जगतों के मध्य एक तृतीय माध्यमिक वस्तु है, 'शरीर' के समान ही पोद्गालिक और जड़ माना जाता है क्योंकि ये सब एक ही 'प्रधान' के रूपभेद है। उन्हें (मन और शरीर) हम क्रिया और रूप की सूक्ष्मता की दृष्टि से तो मानसिक और भौतिक की भाँति वर्गीकृत कर सकते हैं, तथापि जाति की दृष्टि से वे एक ही वर्ग 'अव्यक्त' के अन्तर्गत आते हैं। डा० हेमन का कथन है कि 'सांख्य दृष्टि से बुद्धि, जैसी कि हम अपेक्षा कर सकते हैं, 'पुरुष' से उत्पन्न नहीं होती है बल्कि वह 'प्रकृति' का विकास; उत्पत्ति और रूपभेद है। चेतना के व्यक्तिकरण का सिद्धांत या 'अहंकार' तक भी मूल प्रकृति की ही उत्पत्ति है। इन दोनों (मन और पदार्थ) को यद्यपि स्वयं उनके ही मध्य मानसिक और भौतिक की भाँति भिन्न माना जाता है, तथापि, 'पुरुष' से मन और पदार्थ दोनों को ही, अचेतन की भाँति पृथक किया जाता है। 'पुरुष' ही केवल 'चित' का स्रोत है और शेष सब अचेतन जगत् के अन्तर्गत आता है। 'बुद्धि', जोकि आत्यंतिक रूप से मानसिक है और जोकि प्रत्यक्षीकरण की क्रिया में वाह्य विषयों के रूपों को अपने ऊपर ग्रहण करती है, सांख्यानुसार उस समय तक अचेतन ही बनी रहती है जबतक वह पुरुष की अनुभवातीत चेतना का प्रतिविम्ब ग्रहण नहीं कर लेती है। चेतना का यह अनुभवातीत सिद्धांत 'पुरुष' अनुभव के जगत् में इतना पृथक और दूर है कि वह अपने 'स्वरूप' में अचेतना के सिद्धांत 'प्रधान' या उसके व्यावहारिक मानसिक रूपभेदों के गुणों का साझीदार कतई नहीं हो सकता है। इस तरह, सांख्ययोग का द्वैतवाद पाश्चात्य दर्शन के समान भौतिक और मानसिक जगतों के बीच नहीं है। सांख्ययोग का द्वैतवाद एक नितान्त भिन्न प्रकार का द्वैतवाद है अर्थात् वह है पारमार्थिक तथा व्यावहारिक चेतना का द्वैतवाद, क्योंकि अपरिवर्तनशील और 'केवल' चेतना, व्यावहारिक और परिवर्तनशील चेतना से गुण की दृष्टि से पूर्णरूपेण भिन्न है जोकि 'गृहीत' तथा 'ग्राह्य' के भेदों में विभक्त है। सांख्ययोग का विभेद या द्वैत व्यावहारिक चेतना (मन) तथा अचेतना (पदार्थ) के मध्य नहीं है, जोकि दोनों ही एक ही बीज के विकास हैं, किन्तु पारमार्थिक

या अनुभवनिरपेक्ष चेतना और व्यावहारिक चेतना के मध्य, या दूसरे शब्दों में, 'दृश्मात्र' पुरुष और 'प्रत्ययानुपश्य' या 'प्रतिरंजबेदी' पुरुष के मध्य है।

यह कहा जा सकता है कि चूँकि किसी भी स्थिति में द्वैतवाद शेष रहता ही है, इसलिए यह अपार्थिव है कि वह 'मन' और 'पदार्थ' के बीच है या 'मन' और 'पुरुष' के बीच। किन्तु यह भेद अत्यन्त महत्वपूर्ण है। उसकी महत्ता इस तथ्य में निहित है कि यदि हम मन और पदार्थ के पाश्चात्य द्वैतवाद पर जोर देते हैं तो हम पारमार्थिक या अनुभवनिरपेक्ष चेतना के सत्य के अर्थ को पकड़ने से चूक जाते हैं और तब 'मन' को ही अनुभव-निरपेक्ष चेतना से तादात्म्यक् समझने की भूल सहज हो जाती है। किन्तु सांख्ययोग द्वैतवाद में इस तरह के भूल की कोई सम्भावना नहीं है। सांख्ययोग दर्शन में, इसके ठीक विपरीत, हम चेतना के अनुभव-निरपेक्ष स्वरूप पर ही जोर देते हैं और व्यावहारिक चेतना तथा अचेतना के मध्य के भेद को बहुत कम महत्व का मानते हैं क्योंकि वे दोनों ही अनुभव-निरपेक्ष पुरुष के स्वरूप से समानरूप से दूर, पृथक और अन्य हैं। सांख्ययोगानुसार, मनस्, 'बुद्धि' और 'अहंकार' के मानसिक यंत्र की चेतना केवल एक प्रतिविम्बित चेतना मात्र ही है। वह स्वयं शुद्ध चेतना या 'चित्' नहीं है, क्योंकि वह जो कि चेतना को कहीं बाहर से ग्रहण करता है, या प्रतिविम्ब की भाँति अपने पर आरोपित करता है, स्वयं वस्तुतः चेतन नहीं हो सकता है। सांख्य योग दर्शन में, व्यावहारिक चेतना और व्यावहारिक पदार्थ का अचेतना में कभी द्वैत नहीं हो सकता है, क्योंकि 'पुरुष' सदैव 'केवल' स्वरूप होने के कारण कभी भी व्यावहारिक रूप से चेतन नहीं होता है और 'प्रधान' व्यावहारिक रूप से पदार्थ या अचेतना नहीं हैं क्योंकि वह अभी तक भूतों में, बुद्धि में, या अहंकार में, रूपातरित नहीं हुआ है। और पुरुष, चूँकि स्वरूपत: ही रूपांतरित होने में नितांत अक्षम और असर्थ है और सदैव केवल 'केवल' स्वरूप ही रह सकता है, इसलिए यह स्वभावत: अनुसरित होता है कि व्यावहारिक चेतना और पदार्थ या अचेतना का सम्बन्ध केवल प्रधान से ही हो सकता है। इससे यह स्पष्ट होता है कि 'केवल' तथा 'सत्वमात्र' चेतना की अनुभव-निरपेक्ष ऊँचाई से देखते हुए हिन्दुओं ने उच्चतम व्यावहारिक चेतना के क्षेत्र को भी 'हेय' क्यों माना है।

अद्वैतवेदांत के दृष्टिकोण से भी लगभग यही कहा जा सकता है। इस दर्शन प्रणाली में भी द्वैत 'मन' और 'पदार्थ' या 'चेतना' और 'अचेतना' के मध्य नहीं है क्योंकि पदार्थ या अचेतना का अद्वैतानुसार कोई वास्तविक

अस्तित्व ही नहीं हैं। अपरिवर्तनशील. अपरिणामी, अविभेदित ब्रह्मचेतना या 'कूटस्थ साक्षी' मात्र का ही वास्तविक अस्तित्व है। इस तरह, द्वैतवाद पुनः इस अपरिवर्तनशील, विभेदित और ससीम चेतना के मध्य ही है, अर्थात् अद्वैत दृष्टि से भी, द्वैत 'निष्क्रिय' 'कूटस्थ' और निर्विशेष चित्' तथा उस 'सविशेष' और 'क्रियावान' चेतना के मध्य है, जिसके व्यावहारिक अस्तित्व से कि इन्कार नहीं किया जा सकता। अचेतना का यद्यपि कोई वास्तविक अस्तित्व नहीं है, तब भी, अनुभव निरपेक्ष दृष्टि बिन्दु से, इस दर्शन प्रणाली में भी, व्यावहारिक केतना को, जो किसी न किसी रूप में अस्तित्व में है, 'हेय' की स्थिति ही प्रदान की गई है। इस तरह 'हेय' बताई गई वस्तु से अर्थ यह है कि उसे पार करना है और उससे मुक्त होना है। इससे स्पष्ट हो जाता है कि अद्वैत में भी व्यावहारिक चेतना का 'पदार्थ' से तादात्म्य कर दिया गया है, जो कि, पाश्चात्य प्रत्ययवाद के विपरीत, जहाँ कि व्यावहारिक चेतना को ही 'पदार्थ' का अन्य और 'विपरीत' माना गया है, हिन्दू प्रत्ययवाद की सामान्य रुचि रूझाना का प्रतीक है।

हमारा निष्कर्ष यह है कि प्रत्ययवादी हिन्दू विचार, यद्यपि अनुभव-निरपेक्ष चेतना, व्यावहारिक चेतना तथा अचेतना में भेद करता है, तथापि उसकी रुचि और वृत्ति अनुभवनिरपेक्ष चेतना को व्यावहारिक चेतना और अचेतना को एक ही मानकर दोनों के विपरीत रखने की है। चेतना के इस हिन्दू विश्लेषण में, यह अति मानवीय ब्रह्म चेतना है, जो कि अन्तिम निष्पत्ति का बिन्दु है, जहाँ से कि पाश्चात्य प्रत्ययवाद की अनुभवनिरपेक्ष चेतना की धारणा भी केवल मानव परिमित प्रत्ययवाद ही प्रतीत होती है। प्रत्ययवाद का यह रूप जो कि मानव की भाँति मानव की श्रेष्ठतम चेतना से भी अतीत चला जाता है, विशिष्ट रूप से हिन्दू है। इससे ज्ञात होता है कि हिन्दू मस्तिष्क पाश्चात्य मस्तिष्क से कहीं अधिक लचीला और लोचपूर्ण है और उस सम्भावनाओं का भी इस प्रसंग में हमें सहज ही स्मरण हो आता है जिनके द्वारा कि विचार के हमारे परिमित पाश्चात्य ढंग ने बन्द कर दिए हैं।

पाश्चात्य दर्शन इस मानव केन्द्रित दृष्टिकोण से, कि 'मनुष्य ही सब वस्तुओं की माप है', प्रारम्भ करके जिस श्रेष्ठतम अनुभवनिरपेक्षवाद पर पहुँचता है, वह अनुभववाद की नींव पर आधारित उसके ही उच्चतम शिखर से अधिक नहीं है। उसकी पहुँच हिन्दू दर्शन की अद्वैत प्रणाली के ब्रह्मज्ञान या सांख्ययोग प्रणाली के 'कैवल्य' तक नहीं हो पाई है, जिनका वर्णन कि 'सच्चिदानन्द' की भाँति भी केवल प्रतीकात्मक ही माना गया है। हिन्दू दृष्टि

को 'ब्रह्मज्ञान' या 'कैवल्य' के संदर्भ में 'मुक्त' का पद भी पूर्णरूप से उचित प्रतीत नहीं हुआ है क्योंकि इन सभी पदों में अनुभव के जगत् की गन्ध किसी न किसी रूप में शेष बनी ही रहती है जिसका कि उस अनुभव-निरपेक्ष अवस्था से कतई कोई सम्बन्ध नहीं है। पाश्चात्य दर्शन की प्रत्ययवादी प्रणालियों में इस तरह के अनुभव निरपेक्षवाद के अभाव का कारण यह है कि पाश्चात्य विचार के इतिहास में शुद्ध चेतना या चित् को सदा क्षुद्र कार्य ही सौंपा जाता रहा है। प्रधान अभिनय सदा विवेचनात्मक बुद्धि या विचार, संकल्पशक्ति, या अनुभव ही पूरा करते रहे हैं। पाश्चात्य दर्शन में चेतना को अनुभव का एक ऐसा अंग माना गया है जो कि उससे पृथक् किया जा सकता है और अनुभव की अंशतः उस चेतना और अंशतः अचेतन की भाँति धारणा की गई है। दूसरे शब्दों में, पाश्चात्य दृष्टि से अनुभव को अचेतना के एक ऐसे गहरे समुद्र की भाँति समझा जाता रहा है कि सिर्फ अत्यन्त ऊपरी तल ही चेतना मुक्त है। पाश्चात्य दर्शन में अद्वैतवाद के हिन्दू प्रत्ययवाद के समान यह कभी नहीं माना गया है कि यह शुद्ध चेतना है जो कि सम्पूर्ण यथार्थ का अन्तरस्थ स्वरूप है और व्यावहारिक रूप से चेतन, उपचेतन तथा अचेतन 'ब्रह्मज्ञान' या शुद्ध चित् की ढकी हुई या सावरण स्थितियाँ मात्र ही हैं, या सांख्य-योगानुसार यह भी कभी स्वीकृत नहीं किया गया है कि 'पुरुष' की 'केवल' चेतना से अलग, अन्य और भिन्न जो कुछ भी अस्तित्व में है, वह मानव के सच्चे हित में कभी नहीं हो सकता है।

● ●

विशिष्ट शब्दों की अनुक्रमणिका

अचित्—१०, ५७
अज्ञ—३५, ३६
अज्ञान—३४
अदृष्ट—१५६
अध्यारोप—१३१
अन्तःकरण—५८
अन्तर्साक्षी—६८
अनिदम्—१५५
अन्नमय—२७
अनिर्वचनीय—१६१
अनुभवमूलक आत्मा—१०२
अनुभवमूलक चेतना—१०२
अनुभवातीत चेतना—१६६
अनुभवाश्रित चेतना—२७
अनुभूति—६, ५८
अनुव्यवसाय—१६४
अपरोक्षता—६१
अपरोक्षत्व—८४, ८७, ६१,६२,६३, ६५, १०५
अपरोक्षानुभूति—१०६, १०७
अभिनव गुप्त—६४
अवच्छेदवाद—१५६
अविद्या—३४, १००, १५०, १५८, १६०, १६१
अव्यक्त—१७
असत्—१६
असम्प्रज्ञात समाधि—१३६
असाधारण—१०२
अस्तित्व—२०, ६१, ६३
अहंकार—५८, ५६, ६६, १००, १०३, ११०, ११२
अहं चेतना—११५, ११६
अहंता—१११, १३६
अहंप्रत्यय—११२
अहंहीन चेतना या अहं प्रत्ययहीन चेतना—११४, ११५
आगन्तुक धर्म—३६
आधारभूत चेतना—४०, १२०
आनन्द—२६, २८, ३१, १४०-४३
आन्तरिक प्रत्यक्ष—१२०
मय—२२, २७
इदम्—३६, १५५
ईश्वर—१७३, १७५
ईश्वर कृष्ण—१८५
उदासीन—१४६
उपाधि—१२६, १४५
ऋग्वेद—१६, १६, २०, २२, २६
ऋत—१४, १५
ऋतु—१५
कणाद—३०, ४६, १०४, १३३,१३८
काम—१६, १८
कार्यकारण (ता)—२६, ६०
कुमारिल—५६, ६२, ६७,७२, ८२, ६४, १०६, १२०
कूटस्थ—१२४, १४६
केवल—६०, १११, १२७, १५०, १६२, १६१
केवली—१७८, १७६, १८३, १८४
क्रिया (क्रियात्मकता)—५२, १४४-४५
लीला के रूप में—१४८
क्षणिकवाद—१४७
गुण—१०, ३८, ३६, ५७, ५८,१६५

गौडपाद—१२६
चरक—४७, ४८
चार्वाक—३८-३९, ४८
चिन्मात्र—३६, ३९
जयन्त—५, ४५, ७४, ८४-८८, १०४, १०५, १२३
जीव—५८, ९९, १११, ११२, ११५, १२०, १२१, १२७, १६१
जौहन्स्टन—३३, ३५, ३६, १८५
ज्ञातता—५५, ६९, ७३, ९४
ड्यू सेन—३३
तादात्म्य—४९, १४७, १७०
तुरीयावस्था—११५
त्रिपुटी संवित्—५५, ५६
द्वैतवाद—१६२, १६८, १८३, १८४
धर्मकीर्ति—७, ७८
धर्मराजाध्वरीन्द्र—१००
नागार्जुन—७
निर्वाण—१७
निर्विषय—११५, १२६
पतञ्जलि—६, १७६
पदार्थवाद—४३, ४४
प्रगाढ़ निद्रा—५५, ५९, १००, ११०, ११४, ११७, ११९, १३९
प्रज्ञा—१०४
परिभाषा—१३२
परिमितता सिद्धान्त—१५७
बिम्बप्रतिबिम्बवाद—१५६
बुद्धि—९, ५३, ६८, १०१, १०२, १६४ १६६
भाट्ट—६६, ७३, १०६
भ्रम—१६१
माध्यमिक—७, ४०, १०९
मानस प्रत्यक्ष—६९
माया—२, १८, १४१, १५०, १५९, १७४, १८८, १८९
मुक्तावस्था—३९, ५८, १४०, १४२
मुक्ति—१४१
मुक्ति की परमावस्था—१९१
योगाचार—६५, ६९
रहस्यवाद—९२, ९३
लीला—१४८, १४९
व्यवहारिक आत्मा—१०५
व्यवहारिक चेतना—१११, १६८
व्यवहारिक ज्ञान—१११
विज्ञानभिक्षु—१०१, १०२
विज्ञानवाद—६५, ७४
विषयवस्तु शून्य शुद्ध चेतनत्व—३९
वेदान्त परिभाषा—१००
शतपथ ब्राम्हण—१५, १६
शान्तरक्षित—७४
शाबर—६७
शून्यवादी—४०-४१
श्लोकवार्तिक—७३, ७८
संवित्—३, १५, १९४
सच्चिदानन्द—२६, २९
सत्—१६, १७, १८, २९
समवाय—४०, ४९
समाधि—१२९
समवाय सम्बन्ध—४९
सम्यग् दर्शन—१९२
साक्षिन्—१०१, ११४
सुपुप्ति—१९४
स्वभाव—१०, ५८
स्वयंसिद्ध—९५, १३५
स्वयम्भू—३९